श्रद्धाञ्जलि

बिछुरे दुःख न होत, खर, शूकर कूकरन कों।
हंस मयूर कपोत, सुघर नरन बिछुरन कठिन ॥

× × × ×

सौभाग्यवती वामाङ्गी श्रीमती भगवती देवी की
दिवंगत-आत्मा की श्रद्धा-स्मृति उपलक्ष्य में
उन्हीं के नामाङ्कित "श्रीभगवती-भाषा-
भाष्य" को सप्रेम सादर चिरस्म-
रणीय-रूप उन्हें ही भेंट कर
मानों शान्त्वना और विरह
का सामञ्जस्य-रूप संतोष
कर लिया है।

गोकुलचन्द्र दीक्षित

ओ३म्

वक्तव्य

बहुत प्राचीन काल से पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा नाम से दो सिद्धान्त ग्रन्थ प्रचलित हैं। पूर्व मीमांसा यज्ञ-विज्ञान प्रधान और उत्तर मीमांसा ब्रह्म-विज्ञान प्रधान ग्रन्थ हैं। महर्षि जैमिनि पूर्व मीमांसा के रचयिता हैं और श्री व्यासर्षि मीमांसा अर्थात् वेदान्त के कर्त्ता हैं दोनों ही समकालीन और गुरु शिष्य रूप से इतिहास में अंकित हैं। विदेशी लोग इस मीमांसा को सात वाहन अथवा मौर्य युग का मान कर इस के महत्व को नीचा दिखाना चाहते है और कौटिल्य शास्त्र तक प्रमाण खोजकर विभेद उत्पन्न कर के अश्रद्धा की सीढ़ी पर चढ़ाना चाहते हैं। परन्तु वैदिक लोग इस शास्त्र की संगति के अधार पर इसके भावों को वैदिक कालीन परिभाषा में परिगणन कर करते हैं। मैं ईश्वर की कृपा से शीघ्र ही इस संकल्प को पूरा करने को चेष्टा करूंगा कि जिस न्यायादि दर्शन-भाष्य भूमिका को मैं लिख रहा हूँ उसमें ऐतिहासिक दृष्टि से इन समस्त कुतर्कों को समाहित करने की चेष्टा करतें हुये दर्शनों के महत्व को बौद्ध-जैन आदि आधुनिक दर्शनों पर उनका प्रभाव और रचना की छाप किस तरह बैठा हुई है और जिसमें हजार तोड़मोड़ और जोड़ तोड़ करते हुये भी वैदिकत्व भाव भंगी मे वह लुप नहीं

सके हैं। यहां केवल अब मीमांसा पर प्रचलित अपवाद पर प्रकाश डाल देना ही पर्याप्त होगा।

कहा जाता है कि मीमांसा दर्शन में हिंसापरक यज्ञों में विधान की पुष्टि की गई है और यज्ञ में हिंसा करके मांसाहुति दी जाती थी। इतिहास बतलाता है कि देवी और आसुरी प्रकृति दोनों ही यज्ञ करते हैं परन्तु यज्ञका अर्थ संगति करण और दान का जैसा अर्थ कर लिया गया था वह एक का दूसरे से सर्वथ भिन्न था। आसुरी वृत्ति वाले यज्ञ में मांस का संगति करण रूप या भोग उड़ाते थे परन्तु दैवी वृति अर्थात् वैदिक ऐसा न करते थे महा भारत शान्ति पर्व उत्त० मो० ध० अध्याय ६ तक यज्ञ दान प्रसादी में मांस के सम्बन्ध में यह धारणा रही कि "सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा। धूर्तैं प्रवर्तितं हेय तन्नैत ने वेषु कथ्यते" अर्थात् मद्य, मछली पशुओं का मांस, द्विजों को मार कर बलदान करना यह धूर्तों का निकाल हुआ है।

इन धूर्तों ने वेद भाष्य रचे, दर्शनों पर टीकायें रचीं, और अपने २ अभिलषित भावों कोटिही आज हमें उन्हीं के भाष्य शंकाओं में डाले हुये है क्योंकि अब यह धूर्त्त भाष्य तो हमसे प्राचीनों में गिने जा रहे हैं परन्तु शास्त्रों की वास्तविक दृष्टि से अलोचना करने पर प्रतीत होता है कि न पूर्वकाल के यज्ञ मे मांस की आहुति दी जाती थी न श्राद्ध में मांस खाया जाता था। मीमांसाशास्त्र वेदों के यज्ञपरक भाग को स्पष्ट करता है जब यजुर्वेद में "पशून पाहि" "गामा हिन्सी" और ऋग्वेद में "यः

पौरूषेण" आदि मन्त्रों में पशुओं के नाश करने वालों के भोवों च्छेदन दण्ड विधान हैं और अथर्व में "एतद्वा नस्वा दीयो यदधि गवं क्षीरं वा मांस वा तदेव नाश्नीयात्" अर्थात् गवादि पशुओं की गिजरी (पेवसो) और उनका मांसासन निषिद्ध है और इन्हीं वाक्यों को मीमांसा में विधि वाक्य बतलाकर इन्हींके आधार पर यज्ञ में पशुवंध असिद्ध किया है मनुस्मृति में इसी मीमांसा के आधार पर आठ प्रकार के हिंसक माने हैं और पशुरक्षा की आज्ञा दी है। जब यज्ञ का नाम ही "अध्वर हिंसायाम्" है कि जिसमें हिंसा का नाम न हो और धर्मकार्य मात्र जिसका ध्येय हो वह ही यज्ञ है फिर जो लोग मीमांसा सूत्रोंके हिंसा परक अर्थ करें वह दक्षिण मार्गी नहीं किन्तु वाम मार्गी है इन धर्मान्धों ने मीमांसा के इस सूत्र कि "जाघन्या पत्नी संयाजयन्ति" का यह अर्थ कर डाला कि पशुकी जांधनी अर्थात् पूंछ को काट कर यज्ञ करें परन्तु मीमांसा का यह भाव नहीं किन्तु वहां पर पशुकी पूंछ पकड़ कर पशुदान करने के उपरान्त पत्नी संयाज नामक चार आहुतियें दी जानी चाहिये न कि पशु की पूंछ काट डाले और उसे नष्ट करदे। ब्राह्मण ग्रन्थों में "माहिंस्यात् सर्व भूतानि का सिद्धान्त है। मीमांसा के प्रसिद्ध भाष्यकार शवर स्वामी भी "हिंसा च प्रतिषिद्धा" अर्थात् हिंसा का प्रत्यक्ष निषेध मानते हैं इस लिये मोमांसा में न किसी विशेष पशुके मारने अथवा उसके मांस भक्षणकी विधि है प्रत्युत जो लोग मांस भक्षण अथवा मांस से होम की विधि बतलाते हैं उनकी सर्वथा मूर्खता है और मांस

खाने का स्वार्थ है। जहां कहीं "अग्नीषोमीयं पशु मालभेत्" वाक्य है वहां "आलभत" क्रिया के अर्थ में नहीं किया गया है। किन्तु पशु स्पर्श करने की विधि है महीधर जैसा वामी भाष्यकार भी आलभेत् का अर्थ पशु स्पर्श करना ही करता है।

यह 'आलभेत्' क्रिया पद आङ् पूर्वक लाभ धातु का अर्थ सम्यक प्राप्ति है। जो मीमांसा अथवा वेदों में यज्ञ में पशु हिंसा विधान का स्तम्भ बना हुआ है परन्तु सर्वत्र 'आलभेत्' का अर्थ मारना नहीं होता तैत्तरीय ब्राह्मण की ३ प्रपाठक ६ अनुवाक ८ में 'अश्वमालभेत्' गामालभते,'अजामोवालभेत्' पुरुष मालभते यहाँ सर्वत्र 'लभते' का अर्थ मारना करने से कापालिकोंकी स्मृति मात्र ही माननी होगी। शंकर दिग्विजय में लिखा है कि "श्रुत्वाचार परित्यज्य मिथ्याचारं समाश्रिता,केचित्कापालिका चारा मद्य मांस रता:सदा" यह वेदों की बात नहीं हो सकती किन्तु अनेक का क्रिया है। अत: मीमांसा शास्त्र 'आलभेत् का अर्थ 'त्याग' स्पर्श और प्राप्ति ही मानता है यद्यपि यज्ञमें पशु आते थे उन से घृत दुग्ध लिया जाता था उन के सींग रंगे जाते थे और सत्राय अर्थात यज्ञ स्थानपरही दूध निकालकर दही जमाया जाता था और उस सिद्ध दूध और दही से हवन होते थे। यूप स्तंभ पशु बांधने को स्थापित किया जाता था नकि उन्हें वहाँ बांधकर काटा जाता था ऋग्वेद में आया है कि "यत्र त्रणां मांस्य चान्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि (२।३।११।१३) अर्थात् उस पात्र में भोजन नपकाया जावे कि जिसका मांस से स्पर्श हो गया हो

अथर्वेद में "यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षाधि देवने (६।७।१) अर्थात् मांस मदिरा जुआ सर्व त्याज्य हैं। इस के लिये अथर्व ८।७।२३, यजुर्वेद का १३ वां अध्याय और गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग प्रपाठक ३ विशेष रूप से आलोचनीय है।

परन्तु श्री शंकराचार्य जीने क्यों कहा कि 'वेद की हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेदोक्त हिंसाहिंसा नहीं होती इसको यही भावहै कि जैसा अथर्ववेद का० ४ अ १ सू ३ मं ४ मे दुष्ट हिंसक विषेले वन पशुओं के नाश करने की आज्ञा है और अथर्वेद को० २ अनु ५ सू० ३२ मं ५) में क्रिमियों के नाश करने की विधि है। सन्ध्या में "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं" आदि इसी का द्योतक है अथर्ववेद का १२ वां काण्ड और ५६ वां मंत्र अनुवाक १ सू १ मेतो (पुरुषदश्चरन्ति) में स्पष्ट कहा कि पुरुषों को खा जावें वह पशु बध्य हैं मनुस्मृति में भी इसी को कहा है।

" या वेद विहिता हिंसा नियतास्मिश्चरा चरे
अहिंसा मेव तां विद्याद्वेदा धर्मोदिनिर्बभौ "

जब वैदिकी हिंसा का यह विधान है तो क्या बकरा बकरी, भेड़ भैंसा गाय घोड़ा उपयोगी जीव मारे जा सकते थे मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है इस कुतर्क के आश्रितयज्ञ में हिंसा चली कि जब वेद कुछ जन्तुओं को काटने और कुछ भी रक्षा करना चाहता है तो झट करके वाम मार्गियों ने उपयोगी पशु हिंसा करनी आरंभ करदी क्योंकि पीछे वह उन मारे हुये पशुओं का मांस भी खा जाते थे परन्तु उन्हों ने कहीं भी शेर चीते, बघेर, गीदड़ भेड़िया

मगर, नाका, भौंट, और कुत्ता बिल्ली को काट कर हवन करना नहीं बतलाया बतलाते कैसे ? इनका मांस तो खाया ही नहीं जा सकता। इन्हों ने पशुओं में गाय घोड़ा महिष महिषा बकरा आदि और पक्षियों में लवा बाटेर, बाज, मुर्ग, राजहंस आदि सब पक्षियों की यज्ञ-विधि बना डाली कपोत-यज्ञ में कबूतर मारे जाने लगा जिस यज्ञ में सुगन्ध फैलती थी दुर्गन्धि फैलाकर दूषित कर दिया। देवी देवताओं की भी उसी प्रकार कल्पना करली कि जिसमें मांस खानेका सुभीता हो जावे परन्तु शास्त्रों में "यक्ष रक्ष पिशाचान्नं मांस मद्यं सुरा सवं" अर्थात् मद्य मांस सुरा और आसव यक्ष और राक्षसों का भक्ष्य बतलाया है यह सत्य है कि पशु हिंसा विधि यत्र पुराणे निगमे तथा। उक्तो रजस्तमाभ्यास केवल मनसा पिबा अर्थात् जिन लोगोंने पूजन के बहाने प्राणियों को वध विधि कहा है वह पूजन अमेध्य (अपवित्र) है उनमें अधो-गति रूप दोष हैं पुराणों वा श्रोत ग्रन्थोंमें पशुओं की हिंसाकी जो विधि मिलती है वह रजोगुण तमोगुण युक्त केवल गढ़न्त है। इस लिये यज्ञ में कभी भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

श्री मौलि दीक्षित

* अथ मीमांसा दर्शनम् *

प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दं च सद्गुरुम् ।
अपवर्ग फल निष्ठायां, मीमांसा भाष्य रच्यते ॥

प्रथमोऽध्यायः प्रारम्भ्यते

सं०—महर्षि जैमिनि अभ्युदय और मोक्ष के हेतु वेदोक्त धर्म का विवेचन करते हैं ।

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

प० क्र०—(अथ) वेदाध्ययन के पश्चात् (धर्म जिज्ञासा) धर्म जानने की इच्छा (अतः) अभ्युदय और निःश्रयस प्राप्ति का साधन है ।

भा०—जन्म जन्मांतर में इच्छित कार्यों का उदय और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा परमानन्द प्राप्ति दोनो धर्म से मिलते हैं अतः इस धर्म की अभिलाषा होनी चाहिये ।

सं०—धर्म किसे कहते हैं।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

प० क्र०—(चोदना लक्षणः) विधान में आये (अर्थ) भाव को (धर्मः) धर्म कहते हैं।

भा०—वेदाज्ञा पूर्वक जिस कर्म के करने की प्रेरणा हो वह धर्म का लक्षण है अर्थात् विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म जन्मांतर में परमानन्द मिले उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत, कर्म का अनुष्ठान धर्म के लक्षण का द्योतक है।

सं०—धर्म प्रमाण की परीक्षा की स्थापना करते हैं।

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

प० क्र०—(तस्य) उस वेदोक्त धर्म (निमित्त परीष्टिः) प्रमाण परीक्षा है।

भा०—धर्म के विषय में केवल वेदाज्ञा ही प्रमाण है अतः प्रमाण परीक्षा की स्थापना श्रेष्ठ है।

सं०—प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में काम नहीं आता।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—(पुरुषस्य) पुरुष को (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (सत्सम्प्रयोगे) कार्य वस्तुओं से संयोग होने पर (बुद्धि जन्मः) जो ज्ञान होता है (तत्) उसका

नाम ही (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष है वह (अनिमित्तं) धर्म में प्रमाण नहीं क्योंकि (विद्यमानोपलम्भात्) वह विद्यमान पदार्थों का इन्द्रियों के संयोग से मिलता है।

भा०—आभ्यन्तर और बाह्य उभय भेद इन्द्रियों के होते हैं यह इन्द्रियां अपने-अपने विषय से सम्बन्ध उत्पन्न कर तत् तत् पदार्थ बोध उत्पन्न करा सकती हैं और इसी सम्बन्ध के ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है परन्तु ऋतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान किस प्रकार होना कि जहां इन इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं है इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में सर्वथा लागू नहीं इसी प्रकार न अनुमान प्रमाण काम में लाया जा सकता है क्योंकि अनुमान का भी दृष्टान्त में नियम से सम्बन्ध माना जाता है और उसके दूसरे अज्ञात सम्बन्धि का ज्ञान उद्गत होना अनुमान होता है परन्तु अतीन्द्रिय पदार्थ में तुलनात्मक धर्म अनुमान से इसलिये परे होना कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसका अनुमान कैसा।

सं०—अतः शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है अतः वेद स्वतः प्रमाण है उसको कहते हैं।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

प० क्र०—(शब्दस्य) वेद वाक्यस्थ प्रत्येक पद (अर्थेन) स्व अर्थ से (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक सम्बन्ध रखता

है (तस्य) धर्म के (ज्ञानं) यथार्थ ज्ञान साधन (उपदेशः) ईश्वरोपदिष्ट होने से (च) तथा (अनुपलब्धे, अर्थे) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त (अव्यतिरेकः) व्यभिचारी और विरोधी नहीं (बादरायणस्य) व्यासजी के मत में (तत्) वह वचन (अनपेक्षत्वात्) अपने अर्थ सत्यता के कारण (प्रमाणं) धर्म में स्वतः प्रमाण है।

सं०—शब्द नित्य है अतः पूर्व पक्ष करते हैं।

कर्मैके तत्रदर्शनात् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(एके) कोई २ (कर्म) शब्द को कार्य मानते हैं। (तत्र) शब्द में (दर्शनात्) प्रयत्न पाया जाता है।

भा०—जो यत्न से प्राप्त होने वाली वस्तु है वह अनित्य होगी इस नियम से शब्द भी यत्न से सिद्ध होता है अतः वह अनित्य हो जायगा क्योंकि वह कार्य होगया अतः अनित्यता आती है।

सं०—पुनः अनित्यता दिखलाते हैं।

अस्थानात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(अस्थानात्) न ठहरने वाला होने से भी।

भा०—नित्य वस्तु स्थिर होती है शब्द उच्चारण काल के अनन्तर नहीं रहता अतः अनित्य सिद्ध है।

सं०—दूसरा अनित्यता हेतु यह भी है।

करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥

प० क्र०—(करोति शब्दात्) यज्ञदत्त ने शब्द किया इस विषय व्यवहार से भी उसकी अनित्यता होती है।

सं०—और हेतु से भी अनित्यता है।

सत्त्वान्तरे च यौग पद्यात् ॥ ९ ॥

प० क्र०—(सत्वान्तरे च) इस तथा अन्य देशस्थ पुरुष में (यौग पद्यात्) एक ही समय में प्राप्ति होने से भी शब्द अनित्य है।

भा०—एक शब्द अनेक देशान्तर में मिलने से भी उसकी अनित्यता को बतलाता है जो देवदत्त यहां 'गौ' शब्द कह रहा है देशान्तर में यज्ञदत्त भी "गौ" शब्द कहता है अतः यदि एक नित्य शब्द होता तो एक काल में ही एक अथवा अनेक देश में दो व्यक्तियों में उसकी समान उपलब्धि न होती अतः शब्द नाना है और नाना होने से अनित्य भी है।

सं०—अन्य हेतु भी दिया जाता है।

प्रकृति विकृत्योश्च ॥ १० ॥

प० क्र०—(च) तथा (प्रकृति विकृतयोः) प्रकृति या विकृति के कारण शब्द अनित्य है।

भा०—शब्द में एक अक्षर के स्थान में दूसरा आने अर्थात् आगम और लोप होने से भी अनित्य है क्योंकि प्रकिति विकृति होता रहता है अतः शब्द अनित्य है।

सं०—और भी हेतु हैं।

वृद्धिश्च कर्तृ भूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥

प० क्र०—(च) तथा (कर्तृ भूम्ना) अधिक शब्द बोलने वालों के कारण से (अस्य) शब्द के (वृद्धिः) पढ़ते देखे जाने से भी शब्द अनित्य है।

भा०—पुरुष प्रयत्न से वृद्धि को प्राप्त वस्तु अनित्य होती है शब्द भी पुरुष प्रयत्न से बढ़ता है अतः अनित्य है।

सं०—अब इन सब का उत्तर दिया जाता है।

समन्तु तत्र दर्शनम् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(तत्र) नित्य तथा अनित्य मानने वालों में (दर्शनम्) शब्द का क्षणमात्र दर्शन होना (सम) सम-तुल्य है।

भा०—अनित्यवादी शब्द को प्रयत्न से अद्भूत मानते हैं और नित्यवादी के भी मत में प्रयत्न से अतः दोनों मतों में उत्पत्ति और उद्भूत (प्रकट) होने के आगे क्षण की समानता है अतः वह प्रयत्न सिद्ध शब्द नित्य है।

सं०—पूर्व पक्ष सातवें सूत्र का जो है उसका उत्तर।

सतः परम दर्शनं विषया नागमात् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(सतः) शब्द के होने से (अदर्शनं) जो दूसरे क्षण में दर्शन न होने से वह (परं) केवल (विषयनागमात्) शब्द के व्यंजन न होने से।

भा०—अर्थात् जो यह कहा गया कि उच्चारण के अनन्तर शब्द नहीं रहता अतः वह अनित्य है यह समीचीन नहीं किन्तु उसका उस समय अदर्शन नहीं किन्तु उसका अभिव्यंजक (बोलने वाला) न रहने से है अतः शब्द नित्य है।

सं०—आठवें सूत्र के पूर्व पक्ष का उत्तर यह है।

प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥

प० क्र०—(प्रयोगस्य) पचति, करोति, क्रिया आदि उच्चारण के भाव से हैं ।

भा०—'पचति' पकाता है, 'करोति, करता है यह उच्चारण के अभिप्राय से हैं नकि बनाता है अर्थात् उसका मूल कर्त्ता है अतः शब्द नित्य है ।

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥ १५ ॥

प्र० क्र०—(यौग पद्यम्) एक शब्द का अनेक देशों में सम काल में होना (आदित्यवत्) जैसे सूर्य समझना चाहिये ।

भा०—जैसे एक सूर्य एक समय में अनेक देशों में एक समय में दिखाई देता है इसी प्रकार शब्दस्वरूप से नानात्व को प्राप्त नहीं अतः नित्य है ।

सं०—दशवें सूत्र का उत्तर यह है ।

शब्दान्तर मविकारः ॥ १६ ॥

प्र० क्र०—(अविकारः) जहां 'य' के स्थान में 'ई' होता है वह विकार वश नहीं किन्तु (शब्दान्तर) इकार से अन्य शब्द की ओर है ।

भा०—'य' अक्षर यदि 'इ' अक्षर का विकार होता तो यकार के ग्रहण में इकार का नियम पूर्वक ग्रहण होना चाहिये था क्योंकि जिसका जो विकार है वह अपनी

प्रकृति के ग्रहण में नियम रखता है अतः इकार यकार का विकार नही केवल शब्दान्तर मात्र है* ।

सं०—ग्यारहवें सूत्र का उत्तर यह है ।

नाद वृद्धि परा ॥ १७ ॥

प्र०क्र०— (नाद वृद्ध परा) अधिक बोलने वालों के कारण नाद की वृद्धि है न कि शब्द की ।

भा०—सावयव पदार्थ घटता बढ़ता है न कि निरवयव शब्द निरवयव है अतः वृद्धि रहित है अतः नाद नित्य है।

सं०—अब शब्द की नित्यता सिद्ध करते हैं ।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ १८ ॥

प्र०क्र०—(नित्यः) शब्द नित्य (स्यात) है (तु) अनित्य नहीं (दर्शनस्य) उसका उच्चारण (परार्थ त्वात्) श्रोता के ज्ञान के लिये होने से ।*

भा०—यदि शब्द न बोला जाता तो श्रोता को कुछ भी लाभ न होता अर्थ के ज्ञान का कारण शब्द माना है ।

सं०—शब्द की नित्यता में अन्य हेतु भी है ।

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

प० क्र०—(सर्वत्र) सब शब्दों में (यौगपद्यात्) एक ही समय में प्रत्य भिज्ञा होने से ।

* महाभाष्य में लिखा है कि पाणिनआचार्य के मत में आदेश विकार नहीं किन्तु शब्दान्तर मात्र है क्योंकि शब्द नित्य है। सं० १,१,२०.

भा०—जिसको पूर्व देखा जावे और फिर वही देखा जावे ऐसी प्रत्य भिज्ञा किसी भी प्रमाण से नहीं हट सकती अतः शब्द स्थायी है क्षणिक नहीं अतः नित्य हैं ।

सं०—और भी शब्द के नित्यत्व का हेतु देते हैं ।

संख्या भावात् ॥ २० ॥

प० क्र०—(संख्या भावात्) संख्या के भाव से भी शब्द नित्य है ।

भा०—उच्चारण करने वाले ने एक शब्द कई वार कहा यह भी शब्द के नित्यत्व में प्रमाण है ।

सं०—शब्द के नित्य होने में दूसरा हेतु ।

अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(अनपेक्षत्वात्) शब्द नाश होगया इसका कारण न जानने से भी वह नित्य है ।

भा०—घट टूट गया पट फट गया इसके फट जाने पर फूट जाने पर भी नाश का ज्ञान है और पूर्व भी था कि टूटे फटेगा परन्तु शब्द नाश कारण नहीं जाना गया अतः शब्द निरवयव है उसके नाश का कारण नहीं जाने से वह नित्य हैं ।

सं०—शब्द वायुका कार्य है अतः उसकी उत्पत्ति होने से अनित्य है ।

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

प० क्र०—(योगस्य) शब्द में वायु के अंश होने से (प्रख्याभावात्) श्रवणेन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने से (च) एवं त्वचा इन्द्रिय से शब्द स्पर्श प्रत्यक्ष नहीं होने से ।

भा०—जो जिसका कार्य है उसका उसके अवयवों से सम्बन्ध होता है जैसे तन्तु का पट का अवयव सम्बन्ध है अतः यदि शब्द वायु का कार्य होता तो श्रवणेन्द्रिय से शब्द में भी वायु के अवयवों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता परन्तु ऐसा नहीं है अतः शब्द वायुका कार्य नहीं। दूसरे वायु का स्पर्श गुण भी उसमें नहीं क्योंकि त्वचा को प्रत्यक्ष नहीं है।

सं०—शब्द के नित्यत्व में दूसरा हेतु।

लिङ्ग दर्शनाच्च ॥२३॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्ग दर्शनाच्च) वेद में शब्द के नित्य चिन्ह मिलने से भी।

भा०—पूर्व पुण्य प्रभाव से वेद प्राप्ति योग्यता वश ऋषियों ने ईश्वर की प्रेरणा से अपने हृदय में वेद शब्द पाया इस से भी शब्द का नित्यत्व अबाधित प्रमाण है।

सं०—कहते हैं कि शब्द तथा शब्दार्थ नित्य हों भी तो भी वेद वाक्य धर्म में प्रमाण रूप नहीं।

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्या तन्नि मित्त त्वात् ॥२४॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष स्थापक है। (उत्पत्तौ) शब्द एवं शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य होने से वेद वाक्यस्थ पदों से पदार्थ बोध यद्यपि हो भी तो भी (अवचाः स्युः) वाक्यार्थ वतलाने वाले नहीं (अर्थस्य) अर्थ का ज्ञान (अतन्निमित्तत्वात्) वाक्य से होता है न कि पदों से।

भा०—पद पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है वर्ण समुदाय भी नित्य है अतः पदों से पदार्थज्ञान अन्य की अपेक्षा से भी होगा

परन्तु पद समुच्चय रूप वाक्य और उसका अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं होता कारण कि वाक्यार्थ पदार्थों से विचित्र होता है और पद का पदार्थ से सम्बन्ध होता है न कि वाक्यार्थ से।

सं०—इसका यह समाधान है।

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वा ॥ २५ ॥

प० क्र०—(तद्भूतानां) स्व-अर्थों में वर्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पदों के साथ (समाम्नायः) पाठ होने से उनके समुदाय से ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है (अर्थस्य) वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में (तन्निमित्वात्) पदार्थ ज्ञान ही एक कारण है अन्य नहीं।

भा०—जिस पद में क्रिया हो वह वाक्य अन्यथा वाक्य नहीं बनता पदों का अपने अर्थों से नित्य सम्बन्ध है। विना पदार्थों के वाक्यार्थ कोई वस्तु नहीं यह क्रिया पद से स्वयं बनता है अतः वेद वाक्य अपने अर्थ बोध कराने में अन्य के आश्रित नहीं अतः धर्म में वह स्वतः प्रमाण है।

सं०—पदों से पदार्थ ज्ञान संभव है न कि वाक्यार्थ का।

लोके सन्निय-मात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥ २६ ॥

प० क्र०—(लोके) यथालोक में (सन्नियमात्) नियम से सम्बन्ध होने से वेद में भी (प्रयोग सन्निकर्षः) गुरु परम्परा से पद पदार्थ सम्बन्ध जान कर वाक्यार्थ उत्पत्ति (स्यात्) होती है।

भा०—पद एवं पद पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का कारण है उसी प्रकार गुरु परम्परा से वेद में भी पद पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान से सुख कामनादि के लिये अग्नि होत्रादि कार्य हैं। क्योंकि वेद वाक्य उपकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य के बोधक हैं।

सं०—वेद वाक्य अपने अर्थ बोध कराने में अन्य की अपेक्षा रहित हैं अतः स्वतः प्रमाण हैं अतएव अपौरुपेय भी हैं।

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७ ॥

प० क्र०—(च) और (एके) कोई २ (वेदान्) वेदों को अनित्यत्व मानते हैं और (पुरुषाख्याः) बनाने वाले पुरुषों के नाम का (सन्निकर्ष) सम्बन्ध होने से।

भा०— वेदों में ऋषियों के नाम पाये जाने से प्रतीत होता है कि इन्हीं ऋषियों के बनाये हैं अतः अपौरुपेय नहीं। और भी हेतु है।

अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥

प० क्र०—(च) और (अनित्य दर्शनात्) जन्म मरण धर्म वान पुरुषों के नाम वेदों में हैं अतः वह अपौरुषेय हैं

भा०—ऐसे भी नाम आते हैं कि जिनका अस्तित्व इस भूमण्डल पर कभी भी न था अतः यह पीछे रचे गये हैं आदि सृष्टि में भी नही अतः पौरुपेय हैं।

सं०—समाधान करते हैं।

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २९ ॥

सं० क्र०—तुपूर्व पक्षार्थ खण्डनार्थ है (शब्द पूर्वत्वम्) वेद रूप शब्द में नित्यत्व (उक्तं) पूर्व ही कह आये हैं।

भा०—वेद को पिछले सूत्र में नित्य सिद्धि कर आये हैं पुनः उस के अनित्यत्व की अशंका निरर्थक ही है वेद अपौरुषेय एवं नित्य हैं अनित्य नहीं ।

सं०—जो व्यक्तियों के नाम वेद में हैं उनका कारण ।

आख्याः प्रवचनात् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(आख्या) वेद में नामादि (प्रवचनात्) अध्ययन अध्यापन के कारण हैं ।

भा०—जिस ऋषि ने इस वेद मंत्र का चिरकाल तक अध्ययन अथवा अध्यापन कराया वह उस के नाम से प्रसिद्ध हो गया न कि रचयिता की दृष्टि से है ।

सं०—वेदों में अनित्य पुरुषों के नाम हैं इसका समाधान ।

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—जो शब्द वेदों में तुग्र और भुज्युः आदि आये हैं वह (परं) केवल (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्द सामान्य मात्रके अतिरिक्त कुछ नहीं । वह नाम नहीं ।

भा०—इन शब्दों के अर्थ देखने से प्रतीत होता है कि यह नाम नहीं किन्तु शब्द मात्र हैं और योगिक अर्थ को बतलाते हैं अतः वेद अपौरुषेय नहीं ।

सं०—वेद में जन्म मरण-शील मनुष्यों के नाम नहीं तो भी प्रमाण नहीं हो सकते । क्योंकि उस में असम्बन्ध बातें हैं यह भी कारण है ।

कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणःसम्बन्धात् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—या शब्दशङ्का निवारणार्थ है। (कृते) वहाँ यज्ञ कर्म करने के लिये (विनियोगः) प्रेरणा (स्यात्) है। (कर्मणः) यज्ञ रूप कर्म का (सम्बधात्) सम्बन्ध मिलता है।

भा०—वेदों में यज्ञ रूप कर्म करने की प्रेरणा है और कर्म का जीव का सम्बन्ध भी है जैसे "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत" अथर्व।१६।१।६ कि विद्वानों ने परमात्मा की दी हुई वस्तु से यज्ञ को विस्तार दिया आदि असंभव बातें नहीं किन्तु सार्थक कर्म करणीय हैं अतः वेद सर्वथा स्वतः प्रमाण हैं।

इति श्रीपं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते पूर्व मीमांसा भाषा भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथम पादः समाप्तम् ॥

ॐ

अथ द्वितीय पादः प्रारम्भ्यते

सं०—शब्द, शब्दार्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करके वेद स्वतः प्रमाण बतलाये अब कर्म के ठीक-ठीक अर्थ न देने वाले वाक्यों के सम्बन्ध में कहते हैं।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्य मुच्यते ॥ १ ॥

प०.क्र०—(आम्नायस्य) वेद के (क्रियार्थत्वात्) कर्म का बोधक होने से वह (अतदर्थानां) जिनसे अर्थ बोध नहीं होता वह (अनर्थक्य) अर्थ हीन कर्म हैं (तस्मात्) वह (अनित्यम्) अर्थात् अप्रमाण (उच्यते) कहे जाते हैं।

भा०—कुछ ऐसे वाक्य वेदों में आते हैं कि जिनके अर्थ ही नहीं हैं और अनर्थ सुबोध जन्य नहीं। अतः यह दोष होने से प्राणी के लिये उपादेय नहीं क्योंकि उसमें कर्त्तव्य का उद्बोधन किया ही नहीं गया। अतः अप्रमाण हैं क्योंकि जिसमें वस्तु प्रयोग विधि नहीं और वस्तु स्वरूप मात्र बतलाये हैं वह सिद्धार्थ कहलाते हैं न कि अनर्थ वाक्य समूह।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ॥ २ ॥

सं०—और भी कथन करते हैं किः—

तथा फलाभावात् ॥ ३ ॥

प० क्र०—(फलाभावात्) सिद्धार्थ बोधक ज्ञान वाक्य से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कोई फल भी नहीं निकल सकता (तथा) अप्रमाण है।

भा०—जिन वाक्यों से पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति का ज्ञान पावे वही प्रमाण है सिद्धार्थ वाक्यों में यह कुछ नहीं होता केवल वस्तु स्वरूप ही जान लेने से क्या होता है अतः वृथा ही है।

सं०—और भी हेतु है।

अन्यानर्थक्यात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—(अनर्थक्यात्) अर्थ रहित होने से सिद्धार्थ बोधक वाक्य अप्रमाण हैं।

भा०—वेदों में जो विधि वाक्य हैं उनका कुछ भी अर्थ नहीं कि जब तक उनका विधान न बतलाया गया हो केवल उपदेश कर देने से लाभ नहीं जब तक कि क्रिया करने की न बतलाई जावे वह वेदों नहीं हैं अतः प्राणी को उससे कोई लाभ नहीं। जान लेना मात्र मुक्ति का मार्ग नहीं किन्तु कर्तव्य पथानुगामी होकर ज्ञानी होना कुछ अर्थ रखता है।

सं०—वाक्यों के अप्रमाण से भी।

अभागि प्रतिषेधाच्च ॥५॥

प० क्र०—(अभागिप्रतिषेधात्) अप्राप्ति का नियेध करने से।

भा०—जो अनुपलब्ध है उसका निषेध पाये जाने से सिद्धार्थ के बतलाने वाले वेद वाक्य अप्रमाण हैं ।

सं०—और भी हेतु देते हैं ।

अनित्यसंयोगात् ॥६॥

प० क्र०—(अनित्य संयोगात्) अनित्य जन्म मरण पदार्थों का वर्णन होने से ।

भा०—वेदों में जरा जन्म मरण पुनर्जन्म अनित्य बातें हैं इस लिये भी अप्रमाण हैं ।

सं०—इसका समाधान ।

विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः ॥७॥

प० क्र०—(विधिना) विधि वाक्यों (स्तुत्यर्थेन) पुरुष प्रवृत्ति आपेक्षित स्तुतियें (विधिना) विधिवाक्य मिश्रित (एक वाक्यत्वात्) एक वाक्यता से स्तुति विधान बोधक (स्युः) विधिवाक्य प्रमाण है (तु) अप्रमाण नहीं हो सकते ।

भा०—विधि-वाक्य-कर्त्तव्यताबोधक वाक्य होते हैं न कि सिद्ध । परन्तु विधिवाक्य में पुरुष प्रवृत्ति आपेक्षित स्तुतियां होती हैं एवं सिद्ध वाक्यों में फलाकांक्षा होती है वह अतः फलवान विधिवाक्य से मिलकर आपेक्षित विधि में अर्थ की स्तुति करके कर्त्तव्यार्थ बतलाते हैं न कि सिद्धार्थ यह वाक्यों से मिलाकर वाक्यता मिलती है अतः कोई अप्रमाण दोष नहीं आता

क्योंकि विधि-वाक्य जिस कर्त्तव्य का अर्थ विधना करता है, उसी का सिद्धार्थ बोधक वाक्य भी समर्थन करता है, अतः विधिवाक्यवत् प्रमाण है।

सं०—और भी प्रमाण देते है ।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥ ८ ॥

प०क्र० (चा) और (साम्प्रदायिकम्) सृष्टि काल से (तुल्यं) समान होना ।

भा०—सृष्टि के आरंभ काल से विधि और सिद्ध वाक्यों की गुरुशिष्य परम्परा से प्राप्ति होने से भी समान् रीति से प्रमाण हैं ।

सं०—शास्त्र विरोध का परिहार करते हैं ।

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ९ ॥

प०क्र०—(प्रयोगेति) स्थूल दृष्टि से समझ में आने वाले अर्थ में वाक्यार्थ होने से (विरोधः) विरोध (स्यात्) होवे परन्तु (शब्दार्थः तु) यह अर्थ तो (अप्रयोगभूतः) वाक्यार्थ विषयहीन होने से अन्य अर्थ का द्योतकहै (तस्मात्) इस कारण (अनुपपत्तिः) वेद वाक्यों का पारस्परिक विरोध युक्त अनुपपत्ति दोष (अप्राप्ता) न होने से भी कारण कि (उपपद्यते) उक्त वाक्य का विरोध रहित अर्थ है ।

भा०—वेद वाक्यों में ऐसा विरोध प्रतीत होने से कि कहीं ईश्वर को कहा कि यह सब पुरुष हैं और "कहीं यह

सब उसकी महिमा है" यह स्थूल दृष्टि से ही है क्योंकि वहां यह नहीं कहा गया कि "बस इतना ही पुरुष" है और है ही नहीं । किन्तु कहा तो यह है कि यह सब पुरुष विभूति होने से है अतः तात्पर्य्य का विषयीभूत अर्थ का अन्तर होने से वाक्यों का कोई परस्पर विरोध नहीं। अतः कोई वाक्य प्रमाण हीन भी नहीं ।

सं०—सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में विधेयार्थ वाक्यों की प्रशंसा से विधि वाक्य युक्त वाक्य से अर्थ करना यह ठीक नहीं क्यों कि भिन्नार्थ के बोधक होने से और सब विधेयार्थ की ही प्रशंसा न करने से शंका होती है।

गुणवादस्तु ॥ १० ॥

प० क्र०—(तु) शब्द शंका परिहारार्थ है (गुणवादः) जो स्तुति वाद बतलाया है वह गुणवाद है।

भा०—सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से सर्वत्र विधेयार्थ की स्तुति पाई जाती है यह गुणवाद ही है न कि अन्य मुख्य वाद । क्योंकि कहीं यह विधेयार्थ का स्तवन करते हैं और कहीं उससे भिन्नार्थ का भी कथन करते हैं अतः दोष नहीं ।

सं०—वेदों में ब्राह्मणादि चारो वर्णों को परमात्मा का अङ्ग बतलाया है यह समीचीन नहीं क्योंकि वह अशरीरी है उसमें अवयव नहीं ।

रूपात्प्रायात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(प्रायात्) बहुधा वेदों में (रूपात्) रूपक अलंकार से वर्णन है ।

भा०—जहाँ २ मुखादि अवयव लेकर परमात्मा का निरूपण वेदों में हैं वह रूप का लङ्कार से हैं न कि वास्तव में अतः उसका शरीरी वर्णन अशरीरी के समान निर्दोष हैं।

सं०—इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है।

दूरभूयस्त्वात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(दूरभूयस्त्वात्) स्थूलार्थ करने से नेत्र और सूर्य की दूरी अर्थात् कारण कार्य भाव असम्भव प्रतीत होगा।

भा०—जहाँ कहा है कि उस परमात्मा के नेत्रों से सूर्योत्पत्ति हुई यह स्थूल करना प्रत्यक्ष विरोध का प्रमाण है क्योंकि नेत्रों से सूर्य जैसे दिव्य पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है केवल वहाँ यही अर्थ है कि परमात्मा के चक्षु सदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति हुई इस अर्थ में विरोध भी नहीं आता।

सं०—उसकी यदि चक्षुसदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति माने तो फिर यह क्यों कहा कि वह चक्षुसदृश कार्य है।

अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम्। १३ ॥

प० क्र०—(अपराधात्) मोटी दृष्टि के अपराध से (कर्त्तुः) अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्य का (पुत्रदर्शनम्) पुत्र अर्थात् कार्य रूप से (च) चक्षुका कारण रूप से दर्शन होता है।

भा०—चक्षु परस्पर पिता पुत्र अथवा चक्षु सूर्य का कारण अथवा सूर्य चक्षु का कार्य नहीं किन्तु परमात्मा सर्व पिता है और केवल स्थूल दृष्टि से सूर्य चक्षु का कार्य प्रतीत होता है यथार्थ में ऐसा है नहीं।

अकालिकेप्सा ॥१४॥

प० क्र०—(अकालि केप्सा) एक ही काल में प्राणी मात्र की मोक्ष की इच्छा पाये जाने से।

भा०—प्राणी मात्र मृत्यु से पार होना चाहता है अतः वेदों ने बतलाया, बिना उसे जाने अन्य कोई मुक्ति मार्ग नहीं इस वाक्य में सब फलों के महान फल मुक्ति का वर्णन है न कि कर्म जन्य फल को निस्सार कथन के अभिप्राय से कहा है।

सं०—इस में युक्ति यह है।

विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥

प० क्र०—(विद्या प्रशंसा) विद्या का यश होने से।

भा०—वेद वाक्यों में कि बिना उसके जाने मृत्यु से पार होना कठिन है आदि में जो मृत्यु को पार करना ब्रह्म विद्या का फल कहा है इस से तो महत्व बढ़ता है न कि अन्य फलों के बोधक वेद वाक्यों की निरर्थकता है। अर्थात् जिस-जिस कर्म का जो-जो फल वेद वाक्य बतलाता है वह अवश्य कर्त्तव्य कर्म है और उसका फल भी है परन्तु मोक्ष प्राप्ति ब्रह्म विद्या से ही होती है जो वेदों में ही बतलाई है अतः कर्म करो।

सं०—किसी वर्ण विशेष को मोक्ष विद्याधिकार है अथवा सब को।

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥ १६ ॥

प० क्र०—(अधिकारिकम्) ब्रह्म कर्म का अधिकार (सर्वत्वम्) सब को एकसा है।

भा०—मृत्यु से सब छूटना चाहते हैं उसका उपाय एक ब्रह्म विद्या ही है और जब ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है तो परमात्मानिष्पन्न हैं और यह समानाधिकार का उपदेश ब्रह्म की ही ओर है उसके समान भाव से सब को अधिकार कहा गया है।

सं०—ब्रह्म विद्या से मृत्यु से छुटकारा नहीं किन्तु वेदोक्त कर्म करने से ही होता है।

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फल-विशेषस्स्यात् ॥ १७ ॥

प० क्र०—(फलस्य) फल विशेष की (कर्म निष्वृत्तेः) कर्म से सिद्धि होने से मृत्यु से छुटकारा नहीं (तेषां) उनके कर्मों का (फल विशेषः) विशेष फल है (स्यात्) है वह (लोकवत्) सांसारिक कर्म जन्य फल समान (परिणामतः) बदलने वाला है।

भा०—सांसारिक कर्म परिणामी (बदलने वाले) हैं इसी भांति वैदिक कर्मफल भी परिछिन्न हैं। इन दोनों में भेद यह है कि सांसारिक कर्म फल टिकाऊ नहीं और

वैदिककर्म चिरकाल ठहरे रहते हैं अर्थात् कल्पान्त फल है और मृत्यु से छुटकारा जिन कर्मों से होता है वह सांसारी कर्मों के समान अल्पकाल ठहरने वाले नहीं अर्थात् लौकिक कर्म परिणाम से सीमित परन्तु वैदिक असीमित है क्योंकि उनका परिणाम सांसारिक कर्मों से वाह्य है।

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥ १८ ॥

प० क्र०—(अन्त्ययोः) जिन पाचवें और छटवें सूत्र में अन्त के दोनों पूर्व पक्षों का समाधान किया गया है (यथोक्तम्) उसी प्रकार (पूर्वपाद के समान जानना चाहिये)।

भा०—जैसे छटे सूत्र का समाधान पूर्व पाद के ३६ वें सूत्र में किया गया है उसी प्रकार पाचवें सूत्र का समाधान यह है कि परमात्मा अमूर्त है उसकी मूर्ति किसी भी प्रमाण से नहीं सिद्ध होती परन्तु चेतनता रूपधर्म की तुल्य योग्यता से जैसे जीव का मूर्ति (शरीर) अल्पज्ञों ने माना है उसी प्रकार ईश्वर की मूर्ति कल्पना भी करली है। अन्यथा वेद ईश्वर की मूर्ति (प्रतिमा) नहीं मानते जैसे "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः वेद में कहा है कि उसकी कोई मूर्ति नहीं।

सं०—अति स्पष्ट अर्थ बोधक सिद्धार्थ वेद वाक्यों को प्रामाणिक मानने के हेतु कहते हैं

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१६॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष प्रति पादक है (विधिः) स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों में सिद्धार्थ बोधक विधि की क्रिया (स्यात्) है क्योंकि (अपूर्व त्वात्) क्योंकि उनका भी अपूर्व ही अर्थ विधि वाक्य समान है। यदि उन्हें (वाद मात्रं हि) केवल सिद्धार्थ बोधक मात्र ही मानेंगे तो वह (अनर्थ कम्) अप्रमाण हो जावेंगे।

भा०—यजुर्वेद अ० ३१ । १ में स्पष्ट अर्थ वाले इस सिद्धार्थ वाक्य में कि "वह परमात्मा अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और पुन्य पति हैं, उसी की उपासना करो और उसका ही ध्यान धरो। यह वाक्य तो हो गये परन्तु इसकी विधि कल्पना किये बिना अपूर्व अर्थ का लाभ कैसे होगा अर्थात् विधि कल्पना अवश्य होनी चाहिये और यदि वाक्यों का अनोखा लाभ नहीं लेना है केवल वाद (कथन) मात्र ही मानलें तो वह निरर्थक अप्रमाण हो जावेंगें परन्तु बुद्धि पूर्वक कहे गये वाक्य निरर्थक और अप्रमाण नहीं कहे जा सकते अतः विधि कल्पना होनी ही चाहिये।

सं०—अब सिद्धान्त सम्बन्धी आशंका करते हैं।

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

प० क्र०—(लोकवत्) यह कथन सांसारी कथन तुल्य है इसलिये विधि-कल्पना व्यर्थ है (चेत्) यदि (इति निश्चय पूर्वक नहीं।

भा०—जैसे संसार में जब कोई वस्तु क्रय-विक्रय में आती है तो उसकी प्रशंसा और तदनुकूल मूल्य निश्चित होता है इसी प्रकार यजुर्वेद के इस मंत्र में केवल स्तुति वाद मात्र है अतः विधि कल्पना की आवश्यकता नहीं ।

सं०—इस अशंका का समाधान यह है ।

न पूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं इसलिये कि (पूर्वत्वात्) सांसारी स्युत्यवाक्यों में प्रसिद्धार्थ ही कहा जाता है कोई अलौकिक अर्थ का कथन नहीं होता ।

भा०—उक्त यजुर्वेद वाक्य में जो अपूर्व (अलौकिक) अर्थ है वह सांसारी वाद में नहीं है अतः लौकिक से बिलक्षणार्थ कथन होने से विधि-कल्पना अनिवार्य है ।

सं०—इस का यह समाधान है ।

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥ २२ ॥

प० क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष हटाने को है । (वाक्य शेषत्वम्) ऐसे सिद्धार्थ बोधक वाक्यों को विधि वाक्यों का अंग उक्त कहा गया है ।

भा०—सिद्धार्थ बोधक वाक्य विधान किये गये अर्थ की प्रशंसा द्वारा विधि वाक्य का अंग बन कर अर्थ बोध कराते हैं उसी प्रकार अति स्पष्ट अर्थ वाले सिद्धार्थ बोधक वचन भी विधि वाक्य का अंग होकर अर्थ बोध कराते हैं वहाँ विधि कल्पना अत्यावश्यक होती है ।

सं०—इससे यह युक्ति है ।

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥ २३ ॥

प० क्र०—(च) यदि (विधिः) उसमें विधि कल्पना की जाय तो वह उन वाक्यों में (अनर्थकः) अर्थ नहीं देगी क्योंकि (कचिततस्यात्) सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से कहीं २ स्पष्ट रूप से प्रशंसा (प्रतीयेत) पाई जाती है (तत्) अतः (सामान्यात्) सब वाक्यों के समान होने से जिन में स्पष्ट स्तुति नहीं पाई जाती (इतरेष) उन अन्यों में भी (तथात्वम्) विधि की अपेक्षा स्तुति कल्पना की प्रकृति श्रेष्ठ है ।

भा०—कहीं कहीं स्पष्ट स्तुति पाई जाती है और विधि नहीं प्रतीत होती अतः जहां स्पष्ट रूप से स्तुति न मिले वहां सिद्धार्थ बोधक वाक्य तुलना से स्तुति कल्पना करना छोटा पन है उस से तो वाक्यो में विधि की कल्पना कर लेना ही गौरव है अतः विधि कल्पना से स्तुति कल्पना श्रेष्ठ है ।

सं०—पुनः उक्ति देते है ।

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥ २४ ॥

प०क्र०—(प्रकरणे) जिस प्रकरण का वाक्य है उसका (अपकर्ष) स्तुति (सम्भवत्) स्पष्ट पाये जाने से (नकल्पयेत्) विधि करना नहीं करना चाहिये (हि)

कारण कि (तत्प्रति) उस स्तुति के सम्मुख (विध्यानर्थ क्यं) विधि कल्पना वृथा है ।

भा०—वाक्य जिस कथन के उद्देश्य से है उस से भिन्न अर्थ का वह कदापि नहीं कहना जो प्रकरण के देखने से प्रतीत होता है । जहां प्रकरण में उपासना विधि में उपास्य परमात्मा की स्तुति का सिद्धार्थ बोधक वाक्य विस्पष्ट रुप से निरूपण कर रहे है । वहां विधि कल्पना अप्रा संगिक है वहां तो उपासना विधि ही अंग मान कर विहित कर्म अर्थ की स्तुति कल्पना उत्तम है ।

सं०—विधि कल्पना से ऐसे स्थानों में दोष होता है ।

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥ २५ ॥

प०क्र०—(च) तथा (विधौ) उन वाक्यों में विधि कल्पना करने से (वाक्य भेदः) अर्थ भेद से वाक्य भेद (स्यात्) हो जावेगा ।

भा०—जिन मंत्रों में परमात्मा की अपरिमित शक्तियों का वर्णन है यदि उन में विधि कल्पना की जावेगी तो वह स्तुति उस से भिन्न विहित कर्मों का भी निरूपण करेंगे परन्तु ऐसा करने से वहां वाक्य भेद रूप दोष (एक ही वाक्य का कहीं कुछ अर्थ कहीं कुछ अर्थ) आता है । क्योंकि नियम यह है कि शब्द, ज्ञान, और क्रिया एक ही कार्य को करते हैं अन्य को नहीं अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ निकला अथवा जिस ज्ञान से जो अर्थ जाना अथवा जिस क्रिया से जो कार्य सिद्ध कि-

या वह एक शब्द अन्य अर्थ को नहीं कहेगा न ज्ञान ही दूसरे अर्थ का वोधक होगा न क्रिया ही अन्य कार्य साधिका होगी। अतः विधि वाक्य कल्पना न करके विधि वाक्याङ्ग ही मानना श्रेष्ठ हैं।

सं०—हेतु पद सिद्धार्थ वोधक वाक्यों को प्रमाणित करते हैं।

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥

प० क्र०—वा पूर्व पक्ष हेतुक है (हेतुः) तृतियाविभक्ति वाले पद के अर्थ वोधक (स्यात्) हैं क्योंकि (अर्थ वत्त्वोपपत्तिभ्यां) वह वाक्य अर्थ एवं उपपत्ति वाले हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

भा०—यजुर्वेद अध्याय ३१।१६ में 'यज्ञेन यज्ञ मय जन्त देवा' इसमें तृतीय विभक्ति युक्त 'यज्ञेन' सूस विपय वाक्य से यह कहा गया कि "यज्ञ से यज्ञ रूप परमात्मा का पूर्व विद्वान् पूजन करते थे तो क्या यहां परमात्म पूजन का यज्ञ साधन है किम्वा यजुर्वेद अ। ४०। २ में कुर्वन्नेवेहिकर्माणि" इस मन्त्र मे कहे हुये कि वेद विहित कर्मों को करता हुआ १०० वर्ष जीने की इच्छा करे इस कार्य विधि से विहित यज्ञादि रूप कर्म विधान की स्तुति करते हैं। इन दोनों मन्त्रों में स्पष्ट वतला दिया एक मन्त्र "यज्ञ रूप परमात्मा के पूजन" का साधन यज्ञ है मानता है और यह हेतुक अर्थ सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को सार्थक बनाता है परन्तु दूसरे में केवल वेद विहित कर्मों के करने का आदेश मात्र किया

वहां कोई विधि नहीं बतलाई यज्ञ अर्थात् परमात्मा के पूजन का साधन है । यह विधि वाक्य है और विषय एवं प्रकरण अनुकूल है । दूसरा मंत्र उसी कर्म को सौ वर्ष तक करने का आदेश करता है परन्तु साधन विधि उस में नहीं बतलाई । इसलिये मंत्र का प्रकरणानुकूल ही अर्थ किया जाना चाहिये ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष के हटाने को आया है । (स्तुतिः) ऐसे वाक्य में कर्म विधि से विहित कर्त्तव्य कर्म यज्ञादि कर्मों का महत्व बतलाते हैं । क्योंकि (स्तुति महत्वार्थ शब्द पूर्व त्वात्) साधन विधि के अनुकूल ही होगा (च) पुनः ऐसे वाक्यों में (तस्य) यज्ञ की (अचोदना) प्रेरणा अथवा विधि नहीं बतलाई ।

भा०—परम्परा के शिष्टाचार से यज्ञ की प्राप्ति है अतएव उसे कर्त्तव्य कर्म कहा है अतः वहाँ साधन स्वीकार करने के स्थान में ऐसे वाक्यों में स्तुति अथवा महत्व ही मानना उत्तम है क्योंकि 'कुर्वन्नेवेहि' इस मन्त्र में कर्म विधि कही गई है उसमें केवल पुरुष प्रवृत्ति के लिये प्रेरणा है और इसी अर्थ से संमति बैठती भी है क्योंकि जहाँ यज्ञादि रूप कर्मों के महत्व कहे गये हैं वहाँ यज्ञ को परमात्मा के पूजन का साधन नहीं कहा यदि कहा होता तो विधि पूर्वक साधन भी बतलाया गया होता अतः 'साधन' के स्थान में स्तुति मानना ही समीचीन है ।

सं०—इसमें यह सन्देह रहता है

अर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥

प० क्र०—(कर्थे) फल न होने से (स्तुतिः) महत्त्व कल्पना (अन्याय्या) न्याय युक्त नहीं (चेत्) यदि (इति) है तो ठीक नहीं

भा०—जिस वाक्य में स्तुति का कफ न दिखाई दे उसकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सं०—इसका समाधान।

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥ २९ ॥

प० क्र०— 'तु' पद शंका निवारणार्थ है (विधिशेपत्वात्) ऐसे वाक्यों का विधि वाक्य का अंग होने ही (अर्थः) स्तुति की कल्पना का फल है (यथ) जिस प्रकार (लोके) सांसारिक वाक्यों में विधि वाक्य का अंग होना स्तुति का फल है।

भा०—जिस प्रकार विधेय अर्थ के महत्व को बतलाने वाले सिद्धार्थ बोधक वाक्य विधि वाक्य का अंग कहे जाते हैं उसी प्रकार वेद में भी है अतः वेदों में स्तुति कल्पना कोई व्यर्थ की बात नहीं क्योंकि ऐसे वाक्य विधि वाक्य के अंग होने से ही अर्थ वाले हैं।

सं०—ऐसा मान लेने पर युक्ति देते हैं।

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(च) और यदि (हेतुः) उक्ततृतीया विभक्ति युक्त यज्ञेन हेतु वाक्य में जहाँ यज्ञ को ही पूजन का

साधन कहा था माना जाय तो उसका साधक के अभाव से ठहरना असंभव है अतः (निर्देशात् सामान्यात् तृतीया विभक्ति रूप सामान्यनिर्देश से (अवतिष्ठेत्) ठहरनेवाला (चत्) यदि (इति) तो (विधिनां) विधि और अविधिकी (अव्यवस्था) अस्त व्यस्तता (स्यात्) भी नहीं रहती।

भा०—उक्त वाक्य में यज्ञ का साधन रूप विधान मात्र कहा है परन्तु उसका साधक नहीं बतलाया। परन्तु वहाँ केवल तृतीया विभक्ति होकर उसके साधन की कल्पना करली है तो जो विधि वाक्य हैं अथवा अविधि दोनों प्रकार के भी वाक्य नहीं उनकी व्यवस्था करनी कठिन होगी क्योंकि बहुधा ऐसे मंत्र आये है कि जो विधि वाक्य नहीं परन्तु विद्यार्थ से दीखते हैं परन्तु सिद्धान्त पक्ष तो यह है कि जिस वाक्य में अपूर्व अलौकिकता हो वही विधि वाक्य है दूसरा नहीं पहिले यजुर्वेद के मन्त्र में कोई अपूर्व बात नहीं कही गई क्योंकि उसी वेद के दूसरे मन्त्र से यज्ञादि वैदिककर्म अर्थ प्राप्त थे ही। तब प्राप्त अर्थ को बतलाने वाला वाक्य विधायक नहीं होता केवल पुरुष कर्म प्रवृत्ति का हेतु मात्रवत हो सकता है अतः वहां यज्ञ को साधन रूप नहीं कहा गया है किन्तु वेद विहित कर्मों में पुरुषों की रुचि हो ऐसे कर्मों की स्तुति (महत्व) बतलाया है।

सं०—वेद मन्त्रों का पठन पाठन मात्र पुण्य है अथवा अर्थ सहित स्वाध्याय का भी विधान है !

तदर्थ शास्त्रात् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—(तत) वेद मंत्रों का अर्थ सहित स्वाध्याय करना क्योंकि (अर्थ शास्त्रात्) वेद पुरुषार्थ चतुष्टय का मनुष्यमात्र के लिये जो साधन हैं उनका विवेचन करता है।

भा०—इस लोक में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किस प्रकार प्राप्त करे इसके ही बतलाने को वेद का प्रकाश हुआ है यदि वेद अर्थ सहित न पढ़ा जावेगा तो मष्नुयों को चारों फलों के प्राप्ति के उपाय कैसे ज्ञात होंगे अतः अर्थ सहित वेदाध्ययन करना चाहिये।

सं०—इसमें एक हेतु और भी है।

वाक्य नियमात् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(वाक्य नियमात्) प्रत्येक मन्त्र के आदि में ऋषियों का नाम पाये जाने से वेदों का अर्थ सहित ही स्वाध्याय ठीक है।

भा०—जो वेद अंगो ऋषि हैं उनसे यह अर्थ निकलता है कि अमुक ऋषि ने विधिवत् मंत्रार्थ विचार कर प्राणियों के कल्याण के लिये विस्तार किया। ऋषि का अर्थ जानने वाला है अर्थात् जो परम्परा से वेदों के पठन पाठन शैली है अतः प्रत्येक अधिकारी प्राणी को स्वाध्याय करना चाहिये।

सं०—इसमें दूसरा हेतु भी है।

बुद्धशास्त्रात् ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(बुद्ध शास्त्रात्) ज्ञान को देने वाला वेद ही एक शास्त्र है । उस का अर्थ सहित ही स्वाध्याय करना चाहिये ।

भा०—वेद ही एक मात्र ऐसा शास्त्र है कि जिसने आदि सृष्टि में मनुष्य को ज्ञान दिया अतः उसका अर्थ सहित स्वाध्याय होने से ही ज्ञान का प्रकाश संसार में फैल सकता है अतः अर्थ सहित स्वाध्याय का निरूपण किया गया है ।

सं०—इस में पूर्व पक्ष यह है कि:—

अविद्यमानवचनात् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(अविद्यमान वचनात्) अर्थ सहित स्वाध्याय करना आवश्यक नहीं क्योंकि उन में अविद्यमान पदार्थों का वर्णन है ।

भा०—वेदों में कुछ एसे भी पदार्थों का वर्णन है कि जिनके ज्ञान से मनुष्य को कोई लाभ नहीं जैसे ऋग्वेद ८।४।१७ के 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' में कहा किउ स के हज़ार सिर और हज़ार पांव और हज़ार आँखे हैं अत एक अर्थ सहित पठन पाठन से क्या लाभ! इसमें संख्या दोष भी है जब हज़ार सिर होगें तो दो हज़ार आँखे होंगी वहां हज़ार आँखें ही कही हैं ।

सं०—और भी हेतु देते हैं ।

अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(अचेतने) जड़ पदार्थों में (अर्थ वन्धनात्) अपने अर्थ से बँधे हुये वेद पठन पाठन के योग्य नहीं।

भा०—ऋग्वेद ८। ४। ११। २३ में इस मंत्र का कि "त्वमुत्तमास्योषधे" अर्थात् ओषधि तू श्रेष्ठ है इस औषधि रूप जड़ पदार्थ को सम्बोधन करके प्रतिपादन किया हुआ अर्थ सर्वथा असंगत होता है। संसार में चेतन पदार्थ को सम्बोधन किया करते हैं जड़ को नहीं अतः अर्थ सहित पठन पाठन से क्या लाभ।

सं—तीसरा हेतु और भी दिया जाता है।

अर्थविप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(अर्थ विप्रति षेधात्) परस्पर विरोध अर्थ का कथन करने से भी वेद का अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं।

भा०—ऋग्वेद १।६।१६।१० इस मंत्र कि "अदिति द्यौरपितिरन्तरिक्षम्" में जो यह वतलाया कि "अदिति ही द्यौ है और वही अन्तरिक्ष है इसमें परस्पर अर्थ विरोध मिलता है क्योंकि द्यौ ही अन्तरिक्ष है यह कैसे हो सकता है। अन्तरिक्ष और द्यौ में वड़ा अन्तर है अतः अर्थ सहित पठन-पाठन से क्या लाभ।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

प० क्र०—(स्वाध्याय वद वचनात्) वेद के पठन-पाठन का जिन वाक्यों में विधान है उनके अर्थ सहित पठन-

पाठन का भी विधान नहीं मिलता। अतः अर्थ सहित पठन-पाठन ठीक नहीं।

भा०—उपनिषदों में आया है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' मनुष्य मात्र को वेद पढ़ना चाहिये इस पठन-पाठन के निरूपक वाक्य में भी अर्थ सहित पाठ का आदेश नहीं है अतः विधान रहित अर्थ युक्त पठन-पाठन अनावश्यक ही है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

अविज्ञेयात् ॥३८॥

प० क्र०—(अविज्ञेयात्) वेदों के अर्थ भी जानने योग्य न होने से अर्थ सहित पठन-पाठन वृथा है।

भा०—ऋग्वेद २।४।८।३ 'अम्यक सात इन्द्र ऋष्टि रसमे और ऋग्वेद ८।३।६।६ के मंत्र 'सृण्येव जर्भरी तुफरी तु' आदि अनेक ऐसे मंत्र हैं कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं बनता अतः अर्थ सहित स्वाध्याय अनावश्यक है।

सं०—इसमें यह हेतु भी है।

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

प० क्र०—(अनित्य संयोगात्) अनित्य पदार्थों में जैसे जन्म मरणजरा यौवन आदि पदार्थों का सम्बन्ध मिलने से (मनर्थक्यम्) मंत्रों का अर्थों सहित पाठ करना निरर्थक है।

भा०—ऋग्वेद ३।३।२१।१४ के "किन्ते कृण्वन्ति की कटेपुगाव:" मंत्र में कीकट देश और नैशारव नगर और उसका

प्रमङ्गद राजा बतलाया गया है अतः उसमें इतिहास है और यह मंत्र उपर्युक्त राजा के पश्चात् ही बने थे अतः ईश्वरोक्त होने में भी सन्देह है अतः वेदों का अर्थ सहित पठन-पाठन वृथा ही है।

सं०—इन छहों हेतुओं का समाधान देते हैं

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

प० क्र—'तु' पद पूर्व पक्ष के निषेध के लिये है (अविशिष्टः) लोक और वेद में (वाक्यार्थ) वाक्य के अर्थ का ज्ञान एक सा ही माना जाता है।

भा०—लोक और वेद में वाक्य के अर्थ का एक सा ही ज्ञान होता है जैसे लोक में यौगिक शब्दार्थ धातु आदि प्रत्यय के ज्ञान से जाने जाते हैं उसी प्रकार वेद में भी ऐसा ही है अतः लोगों में सम्पूर्ण ग्रन्थ अर्थ सहित पठन पाठन से लाभ होता है उसी प्रकार अर्थ सहित वेदों का स्वाध्याय लाभदायक है।

सं०—अर्थ सहित पठन पाठन में हेतु और भी देते हैं।

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

प० क्र०—(श्रुतिः) वेद (पुनः) यतः (गुणार्थेन) अनेक गुण वाले अर्थों युक्त हैं अतः उनका पठन पाठन अर्थ युक्त होना चाहिये।

भा०—वेद का एक एक पद अनन्त लाभदायक है, वह सब सत्य विद्याओं का आगार है अतः जब तक उसे अर्थ सहित प्राणी न पढ़ेंगे उससे लाभ ही क्या होगा अतएव वेद को अर्थ सहित ही पढाना चाहिये।

सं०—इसी को पुनः पुष्ट करते हैं।

परिसंख्या ॥४२॥

प० क्र०—(परिसंख्या) वेद का अर्थ सहित पठन पाठन होने से त्याज्य कर्मों के न करने और कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान होता है।

भा०—सुख तथा दुख शुभा शुभ कर्मों के कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य पर निर्भर है परन्तु कौन से शुभ और कौन से अशुभ हैं इस अल्पज्ञ जीव को बिना सर्वज्ञ ईश्वर के उपदेश किये कर्त्तव्य बोध नहीं हो सकता अतएव इष्ट और अनिष्ट कर्मों के ग्रहण तथा त्याज्य बोध के लिए वह वेद अर्थ सहित ही पढ़ना पढ़ाना चाहिये।

सं०—इस कथन पर यह आपत्ति की जाती है।

अर्थवादो वा ॥ ४३ ॥

प० क्र०—'वा' आशंका निमित्त प्रयोग किया गया (अर्थवादः) यह अर्थवाद है कि शुभ कर्म करने से सुख और अशुभ से दुख होता है।

भा०—यह कहना ठीक नहीं कि सुख दुख शुभाशुभ कर्मों पर आधारित है क्योंकि लोक में इसके विपरीत देखा गया है।

सं०—इस आशंका का यह उत्तर है।

अविरुद्धं परम् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(अविरुद्ध) शुभा शुभ कर्मों के करने से दुःख अथवा सुख होता है यह बात लोक और वेद उभय

सम्मत है। अतः यह बात (परम) अति उत्तम होने से ग्रहण करने योग्य है।

भा०—इसे अर्थवाद नहीं कहा जा सकता कि शुभ कर्म से सुख और अनिष्ट कर्म से दुख होता है क्योंकि वेद में तो उपदेश और शिष्ट पुरुषों में इसका आचरण मिलता है इसलिये इष्ट कर्म लाभदायक और अनिष्ट हानि कर है।

सं०—एक और समाधान करते हैं।

संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(संप्रैषे) वेद के हजार सिर और हजार नेत्र वाले मंत्र में (कर्म गर्हानुपलम्भः) अविद्यमान अर्थों का कहना कोई दोष नहीं क्योंकि (संस्कारत्वात्) वह मनुष्य बुद्धि को संस्कृत करने के लिये कहा गया है।

भा०—वेद में मुख्य और गौण अर्थ को लेकर उपदेश किया गया है और यही कारण है कि उसमें अविद्यमान अर्थ का भान होता है वास्तव में ऐसा है नहीं। अतः वेद को अर्थ सहित ही पढ़ने से यह भ्रम दूर हो सकता है

सं०—एक और समाधान करते हैं

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

प० क्र०—(अभिधाने) जो अचेतन पदार्थों को सम्बोधन कर के कहा गया है उसमें तो (अर्थवादः) अर्थवाद है

भा०—जहाँ इस प्रकार से आवे कि हे सोम औषधे! तू सर्व औषधियों में श्रेष्ठ है। इससे जड़ से बातचीत करना

नहीं कहा जाता किन्तु सोम औषधि के उत्तम गुणों का वर्णन करना है क्योंकि अचेतन के लिये श्रवण इन्द्रिय हीन होने से कोई सम्बोधन नहीं हो सकता

सं०—अतः समाधान करते हैं

गुणादप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

प० क्र०—(अविप्रतिषेधः स्यात्) अर्थों में कोई परस्पर विरोध नहीं (गुण) गुण वृत्ति से।

भा०—यह जो वेद में कहा गया कि तू अदिति हीद्यू है और वही अन्तरिक्ष है इस तक ही गुण वृत्ति से अनेकार्थ का कथन किया जा सकता है जैसे लोक में एक शब्द अनेकार्थ ध्वनि का शब्द होता है यथा, हरि, कपि, सैन्धव, आदि होने से परस्पर अनेक अनेक अर्थों के यथा स्थान संगति करने से होते हैं उसी भाँति वेद में भी जानना चाहिये।

सं०—पुनः समाधान करते हैं

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

प० क्र०—(विद्याऽवचनम्) विधि में अर्थ सहित पठन पाठन का न कहा जाना यह (असंयोगात्) उसके वचन की अप्राप्ति के ही कारण है।

भा०—यदि विद्या में अर्थ सहित पठन पाठन का विधान नहीं है तोउसका यह भाव लेना कि वेद अर्थ सहित न पढ़ा पढ़ाया जावे यह ठीक नहीं क्योंकि अध्ययन शब्द का अर्थ ही अर्थ सहित पठन पाठन करना है।

सं०—एक और समाधान करते हैं।

सतः परमविज्ञानम् ॥ ४९ ॥

प० क्र०—(अविज्ञानम्) जिन मंत्रों में अर्थ का अविज्ञान बतलाया है वह (सतः परं) विद्यमान अर्थ का ही जानना है।

भा०—जहाँ वेदों में अर्थ समझ में न आवे वहाँ अपनी ही अविद्या समझनी चाहिये मंत्रों का कोई दोष नहीं क्योंकि उनके अर्थ हो सकते हैं और उनके अर्थ बुद्धि-संगत हैं।

सं०—पुनः समाधान करते हैं।

उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥ ५० ॥

प० क्र०—(अनित्य संयोगः) जन्म मरण वाले विषय वेद में हैं इसका समाधान (उक्तः च) पीछे और भी कह ही दिया है।

भा०—वेदों में जहाँ मनुष्य अथवा गाँवों के नाम आये हैं वह सामान्य संज्ञा है किसी व्यक्ति विशेष वा ग्राम विशेष को लक्ष्य करके नहीं कहे गये हैं और सर्वत्र यही जानना चाहिये।

सं०—अब स्वपक्ष परिपुष्ट करने को युक्ति देते हैं।

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् ॥ ५१ ॥

प०— क्र०—(लिंगोपदेशः) वेद मंत्र परमात्मा के चिन्हों का वर्णन आया है।वह (च) और भी (तदर्थवत्) उसे (वेद) को अर्थ सहित पढ़ने पढ़ाने का साधक समझना चाहिये।

भा०—यजुर्वेद ४०। ४ में बतलाया है कि "वह कभी कंपन नहीं करता तथा एक ही है" इसमें अकंपन और

एक ही है यह दो विशेषण परमात्मा के लिये होने से विना अर्थ सहित वेद पढ़े पढ़ाये कैसे जाने जा सकते हैं और उनके अज्ञान से विशेष्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता है।

सं०—पूर्वोक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

ऊहः ॥५२॥

प० क्र०—तर्क (ऊहः) तर्क से भी।

भा०—ऋग्वेद ६।४।२०।१ में यह बतलाया गया है कि वह प्राण दाता और वह पिता है यह प्रश्न होता है कि जो प्राण दाता नहीं वह पिता भी नहीं हो सकता अब इस का स्पष्ट कार्य विना तर्क के नहीं हो सकता अतएव वेदों को अर्थ सहित ही पढ़ना पढ़ाना चाहिये जो विना इस प्रकार पढ़े पढ़ायेनहीं आ सकता।

सं०—पुनः और युक्ति देते हैं।

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

प० क्र०—(विधि शब्दाः विधि) विधि वाक्यों (च) से भी वेदों के अर्थ सहित पढ़ने पढाने की अवस्था पाई जाती है।

भा०—यजुर्वेद।४०।२। में कर्म को सौ वर्ष तक करते हुये जीते रहने का उपदेश मिलता हैं। यह ज्ञान तब तक न हो सकेगा कि जब तक अर्थ सहित विधि विधान युक्त कर्मानुष्ठान न किया जावेगा। परन्तु वह भी सब वेद के अर्थ सहित पठन पाठन से ही जाना जा सकता है अन्य किसी प्रकार से नहीं।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमासां भाषा-भाष्ये प्रथमाध्यास्य द्वितीयः पादः।

ॐ

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादः प्रारभ्यते ।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण है अतः मनुष्य को अर्थ सहित पढ़ना पढ़ाना चाहिये अब ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाणिकता के लिए कहते हैं ।

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ॥१।

प० क्र०—(धर्मस्य) धर्म में (शब्दमूलत्वात्) केवल वेद की प्रामाणिकता से (अशब्दम) उससे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ (अनपेक्ष्यं,स्यात्) अप्रमाण हैं ।

भा०—भाव यह है कि जब वेद स्वतः प्रमाण हैं और धर्म में केवल वही प्रामाणिक है, तो फिर उससे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाण न होने से अप्रमाण है ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(अपि, वा) सिद्धान्त सूचक शब्द है (कर्तृसामान्यात) इत्तरा के पुत्र महीदास आदि के रचे हुए (अनुमानं)

ब्राह्मण ग्रन्थ (प्रमाणं) वेदानुकूल होने से प्रमाण है ।

भा०—धर्म में वेद को स्वतः प्रमाण माना था इससे यह नहीं कह सकते कि वेदानुकूल होने से ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाण हैं ही नहीं । उन्हें भी परतः प्रमाण में माना गया है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्त्ता ऋषि थे न कि ईश्वर ।

सं०—जो ब्राह्मण वेदानुकूल अर्थ प्रतिपदक हैं वह प्रमाण शेष अप्रमाण हैं ।

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥

प० क्र०—(विरोधे) वेद और ब्राह्मणों का परस्पर असम्पत होने पर (अनुमानं) ऐतरेयादि ब्राह्मण (अनपेक्ष्यं) शेष अप्रमाण हैं (तु) किन्तु (असति, हि) अविरुद्ध होने पर वह प्रमाण (स्यात्) हैं ।

भा०—जिसका वेदों में निरूपण किया है और यदि उसका ब्राह्मण प्रतिपादन नहीं करते तो वह ब्राह्मण अप्रमाण है परन्तु वेदानुकूल होने पर प्रामाणिक कहे जा सकते हैं ।

सं०—वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हैं तो ब्राह्मण ग्रन्थ परतःप्रमाण क्यों माने जावें ।

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

प० क्र०—(च) ऋषि प्रोक्त होने के सिवाय (हेतु दर्शनाच्च) वेदों की व्याख्या रूप कारण से भी उन्हें परतः प्रमाण में लिया है ।

भा०—ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रणीत हैं परन्तु विशेषता यह है कि वह वेदों की व्याख्या है और जिसकी जो व्याख्या होती है वह उसके अनुसार होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण होती है एतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद की व्याख्या है अतः वेदानुकूल होने से प्रमाण है और प्रतिकूल होने से अप्रमाण है।

सं०—क्या एतरेय ब्राह्मण सर्वथा ऋग्वेद के अनुकूल है

शिष्टाकोपे विरुद्धमिति चेत् ॥५॥

प० क्र०—(शिष्टाकोपे) उसे शिष्टों ने विना किसी विरोध के माना है कि (अविरुद्ध) वह सर्वथा वेदानुकूल है यदि यह कहोगे तो ठीक नहीं।

भा०—जो वेद विहित कर्मों के करने वाले हैं ऐतरेयादि ब्राह्मणों का मान पूर्वक स्वीकार करते हैं यदि वह वेद विरुद्ध होते तो इस प्रकार उनका ग्रहण न होता अतः वह वेदानुकूल होने से वेद तुल्य प्रमाण है

सं०—इसका समाधान करते हैं

न शास्त्रपरिमाणत्वात्॥६॥

प० क्र०—(न) यह ठीक है। (शास्त्र परिमाण त्वात्) ईश्वर रचित होने से केवल वेद ही स्वतः प्रमाण हो सकते हैं।

भा०—ऋग्वेद ८। ४। १८, के 'तस्माद्यज्ञात्सर्व हुतः' मन्त्र में ऋगादि चारों वेदों की उस परमात्मा से उत्पत्ति मानी गई है न कि ऐतरेयादि ब्राह्मणों की इसलिये वेद

स्वतः प्रमाण और तदनुकूल होने से ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं शिष्ट पुरुष ऐसा ही मानते हैं।

सं०—यदि ऋषि प्रभृति कि जिन्हों ने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये मान्य हैं तो वेदवत ब्राह्मण क्यों नहीं माने जाते।

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्॥ ७॥

प०क्र०—(अपि वा) शंका निवारणार्थ प्रोयोग है (कारण ग्रहणे) वेद विरुद्ध का ग्रहण न किये जाने से (प्रयुक्तानि) बनाये हुये होने से (प्रतीयेरन्) प्रमाण माने हैं।

भा०—ऋषि प्रभृति महानु भाव होने से आदरणीय है परन्तु फिर भी मनुष्य होने से उन में भ्रम होना सम्भव है अतः उन के रचे हुये ब्राह्मण ग्रन्थ वेदानुकूल होते हुये भी स्वतः प्रमाण न होकर परतः प्रमाण में ही आते हैं।

सं०—अब इसी में हेतु देते हैं।

तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्॥ ८॥

प०क्र०—तेषु उन ब्राह्मण ग्रन्थों में (विरोधस्य) वेद के विरुद्ध (अदर्शनात्) न होने से तथा (समा) वेद तुल्य ही (विप्रति पत्तिः) पदार्थ विज्ञान (स्यात्) है।

भा०—जो वेदों में पदार्थ विज्ञान है वैसा ही इन ब्राह्मणों में व्याख्या रूप विद्यमान है अतः जिन ब्राह्मणों की

विषयानकूल संगति मिलती है वह प्रमाण ही है परन्तु असंगति होने पर अप्रमाण है।

सं०—ब्राह्मण ग्रन्थों में संध्यादि अग्नि होत्र कर्म कर्त्तव्य विस्तार से कहा है परन्तु वेदों में नहीं कहा। अतः विस्तार होने से भी वह प्रमाण नहीं।

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

प०क्र०—(वा) का प्रयोग सिद्धान्त प्रयोजन से है (शास्त्र स्था) ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों में कहे हुये का ही व्याख्यान है न कि कोई स्वतंत्र निरूपण क्यों कि (तन्नि मित्त त्वात् वह वेद मूलक है।

भा०—ब्राह्मणों में सन्ध्यादि अग्नि होत्र का निरूपण कपोल कल्पित नहीं किन्तु वेदानुकूल है। जिसे वेदों में कर्त्तव्य कर्म बतलाया। उन्हीं की ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक व्याख्या है अतः ब्राह्मण वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

सं०—ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि अर्थवाद आदि कई प्रकार के विषय कहे गये हैं इनमें किस को प्रमाण माना जावे।

चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन ॥ १० ॥

प० क्र०—(चोदितं) विधि अनुसार (तु) ही (प्रमाणेन) वेद के साथ (अविरोधात्) विरोध न होने से (प्रतीयेत) प्रमाण मानना चाहिये।

भा०—ब्राह्मणों में विधि, अर्थवाद आदि कतिपय प्रकारों से अर्थों को विस्तार दिया गया है वहाँ विधि शब्दों में

जो-जो कहा गया है वह वेदानुकूल होने से अनुष्ठान कर्म करने योग्य है वह प्रसङ्ग वश कहा गया है वेदाधार से नहीं ।

सं०—कल्प सूत्र भी वेदाङ्ग होने से परतः प्रमाण क्यों नहीं ।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(प्रयोग शास्त्र) वेद विहित धर्मों का यथार्थ अनुष्ठान के बतलाने वाले कल्प सूत्र तो वेद सदृश स्वतः प्रमाण हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो असंगत है ।

भा०—कल्प सूत्र वेदोक्त कर्मानुष्टान का बोध कराते हैं तो कल्प सूत्रों को वेदानुकूल होने से स्वतः प्रमाण मान लेने में क्या हानि है यह प्रश्न किया गया है ।

सं०—इसका समाधान ।

नऽसन्नियमात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(न) कल्प सूत्र वेद तुल्य प्रमाण नहीं क्यों कि (असन्नियमात्) उनमें अवेदिकत्व भाव भी मिलता है ।

भा०—वेदों के समान कल्प सूत्रों में सच्चे अर्थ नहीं मिलते । क्योंकि जो बात वेदों में नहीं उनका कल्प सूत्रों में कथन मिलता है जो केवल काल्पनिक हैं अतः वह वेद समान स्वतः प्रमाण नहीं अतः ब्राह्मणों के सदृश परतः प्रमाण में ही रहेंगे ।

सं०—इसमें यह युक्ति है ।

अवाक्य शेषाच्च ॥१३॥

प० क्र०—(च) कल्प सूत्र स्वतः प्रमाण नहीं क्योंकि (अवाक्य शेषात्) उनमें कोई विधि वाक्य और उनका स्तुति वाक्य नहीं मिलता।

भा०—वेदों में कर्मानुष्ठान करने की आज्ञा मिलती है कर्मों के फल के प्रशंसात्मक वाक्य हैं वैसे कल्प सूत्रों में नहीं उनमें तो केवल कर्म फलों के प्रकार का ही वर्णन है अतः वेद सदृश स्वतः प्रमाण नहीं।

सं०—पुनः एक और युक्ति यह भी है।

सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

प० क्र०—(सर्वत्र) सम्पूर्ण कल्प सूत्रों में (सन्निधान शास्त्रात्) अर्थ की योग्यता से अति समीपस्थ वेदार्थ के (प्रयोगात्) विरुद्धार्थ प्रयोग मिलने से (च) वह वेद सदृश स्वतः प्रमाण नहीं।

भा०—कल्प सूत्र ऋषियों के रचे हुए हैं वह वेद के निकटतम होते हुए भी उनमें अर्थ ऐसे २ किये गये हैं कि जिनमें अर्थ करता की निज मति अनुसार निरूपण मिलता है अतः कल्पसूत्र परतः प्रमाण में आ सकते नहीं स्वतः प्रमाण में।

सं०—शिष्टों के आचरण के अनुसार आचार-व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥

प० क्र०—(अनुमान व्यवस्थानात्). स्मृति तथा शिष्टा चरण देश काल और अवस्था से सम्बन्धित होने के कारण

(तत्संयुक्त) वह उसी व्यवस्था के साथ सम्बन्ध रखता हुआ (प्रमाणं) प्रमाण है ।

भा०—स्मृति जिस देश जिस काल और जिस अवस्था में शिष्ट पुरुषों द्वारा बनी उसी में उसका अनुसरण करना चाहिए न कि अन्य भी सर्वत्र करें ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

अपि वा सर्वधर्मः स्यात्तन्न्यायत्वाद्विधानस्य ॥ १६ ॥

प० क्र०—(अपि वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्षसंहारार्थ आया है (तत्) मनुस्मृति और शिष्टाचार से (सर्वधर्मः) मनुष्य मात्र का एक समान आचरणीय धर्म (स्यात्) है क्योंकि (विधानस्य) स्मार्त अर्थ और शिष्टों का आचरण (न्यायत्वात्) सर्वथा ठीक है ।

भा०—मानव धर्म शास्त्र में जिसका विधान है और जो सनातन से वैदि शिष्ट पुरुषों के आचरण हैं वह सर्वथा वेदानुकूल होने से मान्य हैं अतः वह मनुष्य मात्र के लाभ के हैं किसी जाति, देश, काल व अवस्था विशेष के ही लिये नहीं कहे गये हैं । भाव यह है कि वैदिकों के एक समान आचरण होने चाहिये ।

सं०—जहाँ स्मृति अथवा शिष्टों के अनुसार आचरण करते हुये न रह सकें वहाँ क्या कर्त्तव्य है ।

दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ॥ १७ ॥

प० क्र०—(दर्शनात्) वैदिक ज्ञान से (विनियोगः) स्मार्त्त शिष्टाचार की स्थापना (स्यात्) हो जानी चाहिये ।

भा०—जिस देश में वेदोक्त धर्म और तदनुकूल शिष्टाचरण न रहा हो वहाँ पुनः शिष्टाचार स्थापित किया जाना चाहिये जिस से सनातन धर्म से गिरना न हो।

सं०—जहाँ वैदिक शृङ्खला न रही हो वहाँ क्या कर्त्तव्य है।

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥ १८ ॥

प० क्र०—(नित्यस्य) वैदिक धर्म नित्य होने से सनातन है उसका नाश नहीं हो सकता (लिगां भावात्) सनातन के नाश का कोई प्रमाण चिन्ह नहीं मिलता (च) पुनः हो सकता है।

भा०—वेद सनातनी विद्या है उसका नाश नहीं होता मनुष्यों की राजसी तामसी बुद्धि भेद से अर्थ और आचरण को नूतन रीति से अभिभव और पराभव होता रहता है जैसी-जैसी बुद्धि वैसे-वैसे अर्थ और उसी के अनुसार आचरण हो जाते हैं अतः वेदानुकूल जीवन बनाने से वह सात्विक बुद्धि, आचरण और अर्थ पुनः प्रचलित हो सकते हैं।

सं०—जिस देश के जो आचरण से अनुकरणीय ग्रन्थ हैं वह वहां के लिये अनुकूल हैं अन्य देशों में उन की अनुकूलता कैसे होगी।

आख्या हि देशसंयोगात् ॥ १९ ॥

प०क्र०—(आख्या) नाम (हि) भी (देश संयोगात्) देश विशेष के सम्बन्ध से है।

भा०—वेद धर्म के प्रचारक ऋषि आदि काल में जिस देश में हुये और वहां से ही सर्वत्र वह वेदोक्त धर्म फैला।

उसी के अनुसार स्मृति ग्रन्थ बने, उनके अनकूल ही शिष्टों के आचरण बने, अतः वह सब प्रकार मान्य हैं वह किसी जाति अथवा देश विदेश से सम्बन्ध नहीं रखते । (भारत धर्म) यह संज्ञा तो केवल देश सम्बन्ध से है स्वभाव से नहीं ।

सं०—इस में यह आशंका है ।

न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ॥ २० ॥

प०क्र०—(देशान्तरेषु) यदि भारत धर्म केवल देश योग से है तो (न) एसा नहीं (स्यात्) होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो ठीक नहीं ।

भा०—किसी वस्तु से किसी वस्तु के नाम का तब ही तक सम्बन्ध रहता है जब तक वह बनी रहे, बाद को वह नहीं रहता इसी प्रकार 'भारत धर्म' अन्यत्र जाने से उसी देश के नाम से होना चाहिये क्योंकि देश नाम सम्बन्ध नहीं रहा अतः प्रतीत होता है कि उस का नाम देश विशेष सम्बन्ध से नहीं है । किन्तु वेदोक्त धर्म सार्व भौम अनुकरणीय, आदरणीय एवं आचरणीय शिष्ट धर्म है ।

सं०—इस आपत्ति का निराकरण करते हैं ।

स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥

प० क्र०—(योगाख्या, हि) योग होने से प्रसिद्ध होने से (स्यात्) है जैसे (माथुरवत्) मथुरा निवासी माथुर कहलाये ।

भा०—भारत में जन्म लेने से आदि ऋषि भारतीय ऋषि कहलाये । वह किसी भी देश में आवागमन में रहें

भारतीय संज्ञा शून्य नहीं रह सकते। जैसे मथुरा में जन्मे हुए मनुष्य का नाम उससे माथुर कहा जाना नहीं हट सकता अतः यह नियम समीचीन नहीं।

सं०—इस कथित अर्थ में आशंका करते हैं।

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥

प० क्र०—'वा' शंका सूचक शब्द है। (कर्मधर्मः) ऋषियों के नाम के साथ देश बोधक शब्द का योग वेदोक्त कर्म का अंग है (प्रवणवत्) प्रवण के समान।

भा०—जैसे यह विधि है कि "प्राचीन प्रवेण वैश्व देवेनयजेत्" अर्थात् प्राचीन प्रवण देश में वैश्व देव नामक यज्ञ करें जिस प्रकार यहाँ वैश्व देव का प्राचीन प्रवण देश अंग बतलाया गया उसी प्रकार वेदोक्त कर्मानुष्ठान कर्त्तव्य योग्य 'भारतवर्ष' ही है अतः वह भारतीय धर्म होने से उन्हीं से कर्त्तव्य है अन्य से नहीं।

सं०—इसका समाधान यह है।

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ॥२३॥

प० क्र०—'तु' आशंका निवारणार्थ है (कर्तृधर्मेण) देश विशेष को कर्म का अंग मान लेना काले गोरे कर्त्ता के अंग स्वीकार के (तुल्य) सदृश हैं।

भा०—कर्म कर्त्ता के गोरे काले अंग पर ध्यान देना जिस प्रकार व्यर्थ है क्योंकि उसका कर्मानुष्ठान से क्या सम्बन्ध वह वैदिक होना चाहिए चाहे वह काला हो चाहे गोरा। वहाँ रंग का प्रश्न ही नहीं इसी प्रकार देश

विशेष को कर्म का अंग मानना वृथा है कर्मानुष्ठान से उसका क्या सम्बन्ध केवल स्थान पवित्र और निरापद होना आवश्यक है अतः प्राचीन प्रवण देश उसके उपयुक्त होने से निरूपण में आया है जो वैश्व देव कर्म को अनुष्ठीय उपयुक्त स्थान सूचक मात्र है।

सं०—साधुपद प्रयोग-सिद्धि में कहते हैं।

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥ २४ ॥

प० क०—(प्रयोगोत्पत्त्य शास्त्रत्वात्) शुद्ध पद की सिद्धि में व्याकरण की अप्रमाणिकता से (शब्देषु) शुद्ध तथा अशुद्ध शब्दों में (व्यवस्था) शुद्ध शब्द प्रयोग की व्यवस्था (न, स्यात्) नहीं हो सकती।

भा०—गो शब्द शुद्ध और गावी, गोणी, आदि अशुद्ध हैं यह व्याकरण से ही व्यवस्था हो सकती है परन्तु शुद्ध पद की निष्पत्ति में वेद मूलक व्याकरण न होने से अप्रमाण है अतः शुद्ध तथा अशुद्ध शब्द का प्रयोग करना उसके नियम से ठीक नहीं।

सं०—उस पक्ष का समाधान करते हैं।

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥ २५ ॥

प० क०—(शब्दे) सर्वथा शुद्ध शब्द का प्रयोग हो क्योंकि (प्रयत्न निष्पत्तेः अपराधस्य) उसके प्रयोग करने से अपने ही पुरुषार्थ से साध्य पाप का (भागित्वम्) भागी होना पड़ता है।

भा०—शब्द शास्त्र वेद मूलक है ऋगवेद १।८।१०।२ में उसका क्रम वर्णन मिलता है महा भाष्यकार श्री पतंजलि मुनि ने महा भाष्य ६। १। ८४ में लिखा है कि म्लेच्छ (अशुद्ध) कभी भी न बोले उसका बोलने वाला म्लेच्छ हो जाता है और कामना पूर्ण नहीं होती।

सं०—और भी युक्ति देते हैं।

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥ २६ ॥

प० क्र०—(अनेक शब्दत्वं) एक शब्द के निमित्त समानार्थ अनेक शब्दों को मानना (अन्यायः) अन्याय है।

भा०—अर्थ बोध शब्दाधीन है यदि वह एक ही शब्द से होता हो तो उसके लिये समानार्थक अनेक शुद्ध अथवा अशुद्ध शब्द को गढ़े जावें। जैसे जिसके गले में सासना (कम्बल) लटकता हो वह गौरूप अर्थ का व्यंजन गोशब्द पर्याप्त है गौणी, गावी, आदि अपभ्रंश तथा शुद्ध, अशुद्ध शब्द का मानना असमीचीन है।

सं०—शुद्धाशुद्ध शब्द का ज्ञान कैसे हो।

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात् ॥ २७ ॥

प०क्र०—(तत्र) शुद्ध तथा अशुद्ध अनेक शब्दों में (तत्वं) शुद्ध शब्दार्थ ज्ञान (अभियोग विशेषात्) व्याकरण अभ्यास से (स्यात्) होता है।

भा०—गो शब्द शुद्ध और गावी, गौणी आदि अशुद्ध अपभ्रंश हैं यह ज्ञान व्याकरण अध्ययन से होता है अतः शुद्धा शुद्ध ज्ञान के लिये व्याकरण पठन पाठन वैदिकों को अवश्य कर्त्तव्य है।

सं०—यह गो सिद्ध शब्द के अशुद्ध शब्द कैसे बने और उन से गो रूप अर्थ का ग्रहण कैसे होने लगा ।

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥ २८ ॥

प०क्र०—(तत्) गो शब्द के गौणी गावी आदि अपभ्रंश अशुद्ध शब्द (अशक्तिः) व्याकरणानुसार शुद्ध शब्द न जानने की शक्ति-हीनता ही है (च) और (अनुरूप त्वात्) गो शब्द के समान होने से उससे गोरूप अर्थ का बोध कर लिया ।

भा०—पूर्व में किसी ने गो शब्द उच्चारण करने के स्थान में व्याकरण ज्ञान की न्यूनता से शुद्धोच्चारण न कर सकने पर उस के स्थान में 'तत्सम' शब्द रच लिये वह शब्द दूसरों ने भी सुने और उत्तरोत्तर इसी प्रकार स्थान पाते गये और गो शब्द के अपभ्रंश होने से 'गोत्व, अर्थ बोध में प्रयुक्त होने लगे ।

सं०—उसी को पुनः दृष्टान्त से निरूपण करते हैं ।

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥ २६ ॥

प०क्र०—(च) तथा (विभक्ति प्रत्यये) अन्य विभक्ति के बोलने पर जैसे प्राति पदिकरूप एक देश की समानता से अर्थ बोधक होते हैं उसी भांति (एक देशत्वात्) गो रूप शुद्ध शब्द का प्रयोग एक देशीय होने से गौणी, गावी, आदि अशुद्ध और अपभ्रंश शब्दों द्वारा गो रूप अर्थ का बोध (स्यात्) होता है ।

भा०—जैसे किसी ने कहा कि 'अश्मकेभ्य आगच्छति' अश्मक देश से आता है यहाँ पंचमी विभक्ति के स्थान में

'अश्म कै रागच्छति' तृतीया विभक्ति बोलने पर भी प्राति पदिक रूपांश सदृस होने से श्रोता अर्थाव गाहन् हो जाता हैं उसी प्रकार गावी, गौणी आदि अपभ्रंश गो रूप शुद्ध शब्द समान रूपता कारण-वश उस अर्थ का बोधक होता है यद्यपि इसे इष्ट नहीं कह सकते इसलिये क्या लौकिक क्या वैदिक शब्दों का शुद्धोचारण ही होना चाहिये ।

सं०—गौ शब्द की शक्ति गो धर्म आदि अर्थ में हो सकती है न कि व्यक्ति में अतः इसे सिद्ध करते हैं

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ॥३०॥

प० क्र०—(अविभागात्) गो शब्द लोक और वेद में एक सा है (अर्थैकत्वम्) उसका व्यक्तित्व रूप से एक ही अर्थ भी है क्योंकि (प्रयोग चोदना भावात्) वाक्य की प्रेरणा का लगाव व्यक्ति में है

भा०—'व्रीहीन्वहन्ति' धान कूटो, 'अश्वेनय' घोड़ा ले जा 'गामानय' गौ लाओ इन प्रेरक वाक्यों में धान का कूटना, घोड़ा ले जाना और गौ लाना आदि मात्र का अर्थ बोधक हैं न कि जाति का । जाति लाई या ले जाई गई अथवा कूटी नहीं जा सकती । अतः गो शब्द गौ व्यक्ति का बोधक है । न कि जाति का

सं०—जाति के शब्दार्थ न होने में हेतु देते हैं

अद्रव्य शब्द त्वात् ॥३१॥

प० क्र०—(अद्रव्य शब्दत्वात्) यदि शब्द का अर्थ जाति मान लिया जावे तो वह द्रव्याश्रित वालों का वाचक नहीं माना जावेगा

भा०—जैसे कोई कहे कि छः दो, बीस दो, तो इन वाक्यों में जो छः अथवा बीस आदि का देना है वह जाति पक्ष में नहीं किन्तु व्यक्ति का ही है क्योंकि जाति एक होने होने से छः आदि संख्या का आधार नहीं हो सकती

सं०—और युक्ति देते हैं ।

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥

प० क्र०—(अन्यदर्शनात्) ग्रहण क्रिया के साथ अन्य का अन्वय देखे जाने से (च) शब्द का अर्थ जाति नहीं ।

भा०—जैसे कोई कहे कि यदि युद्ध में एक अश्व मर जावे तो तुरन्त दूसरा ले लेवे । यहाँ अश्व का मरना और अन्य का ग्रहण जाति पक्ष में नहीं घट सकता क्योंकि जाति में मरण और ग्रहण दोनों असंभव हैं इसलिये व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है जाति नहीं ।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष को हटाने के निमित्त प्रयोग किया है (आकृतिः) शब्द का अर्थ जाति है न कि व्यक्ति क्योंकि(क्रियार्थत्वात्) शिष्ट गुरुजनों के व्यवहार में आने से जाति रूप अर्थ में ही शब्द की शक्ति का ग्रहण है ।

भा०—बड़े बूढ़ों को जैसा बोलता हुआ बालक सुनता है उसी प्रकार वह शब्द की शक्ति को ग्रहण करता है यह जाति में ही होता है जैसे जिसने जिस वस्तु के नाम के शब्द शक्ति को ग्रहण किया वह उसे वही कहेगा

और उससे भिन्न व्यक्ति को देखकर सन्देह होगा ही नहीं।

सं०—पुनः सन्देह किया जाता है।

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥

प० क्र०—(क्रिया) जाति पक्ष में जैसे कहा जावे कि "व्रीहीन वहन्ति" (धान कूटने की क्रिया) (न स्यात्) नहीं होगी और (अर्थान्तरे) अन्य के स्थान में (विधानं) अन्य ग्रहण का विधान तथा (द्रव्यं) पड्देया, द्वादश देया इत्यादि द्रव्याश्रय काल (न) नहीं होगा (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

भा०—तेतीसवें सूत्र के भाष्य में बतलाया जा चुका है कि यदि व्यक्ति में शक्ति ग्रह मानी जावे तो जिस व्यक्ति में उसको शक्ति ग्रह हुआ है उससे अन्य में शक्ति ग्रह न होने से अवश्यमेव सन्देह होता क्योंकि शक्तियों अनन्त हैं और एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है अतः जाति ही शब्दार्थ है व्यक्ति नहीं।

सं०—इन शङ्काओं का समाधान करते हैं।

तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(तदर्थत्वात्) व्रीह (जो) आदि पदों को लक्षण वृत्ति से कहे हुये अर्थ होने से (प्रयोगस्य) प्रयोग के अर्थ का (अविभागः) बाधक नहीं।

भा०—शब्द का अर्थ यह है कि जिसका अन्य किसी प्रकार से लाभ न हो। व्यक्ति ऐसा पदार्थ नहीं कि जो अन्य

किसी भाँति न मिल सके। जाति ग्रहण से वह स्वयं ग्रहण में आजावेगी क्योंकि वह जाति का आश्रय है और विना आश्रय जाति का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः उसमें शक्ति का मानना व्यर्थ है और अर्थापत्ति से लाभ करने में बड़े दोष हैं अतएव शब्द का मुख्यार्थ जाति और व्यक्ति विना आक्षेप के मिलते हैं।

इति श्री पं० गोकुलचन्द दीक्षित कृते मीमांसा भाषा भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयः पादः।

ॐ

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादः प्रारभ्यते ।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण हैं, ब्राह्मण, कल्प सूत्र, स्मृति और शिष्टाचार वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण कहे गये अब ऐतरेय ब्राह्मण में निरुपित कर्म की संज्ञा का कथन करते हैं।

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥

प० क्र०—(समाम्नायै तदर्थं) वेद को विधेयार्थ में प्रामाण्य (उक्तं) कहा गया है (तस्मात्) अतः (सर्वं) सब ब्राह्मणों में कहा हुआ उद्भिदादिपद (तदर्थं) विधेयार्थ के लिये (स्यात) है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में ऐसा पाठ आता है कि "उद्भिदा यजेत् इत्यादि इस में पूर्व पक्षी ने यह कहा है कि प्रथम वेद करो विधेय अर्थ में प्रामाण्य कहा क्योंकि विधि वाक्य पूर्व विधान किये गये ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्भिदादि रूपगुण विशेष का विधान करते हैं किसी अपूर्व याग का नहीं क्योंकि ऐसा मानने से वाक्य भेद हो जाता है कि एक ही वाक्य प्रथम

याग का और फिर उसके नाम का विधान करे यह समीचीन नही अतः ऐसे यागों में गुण विशेष का ही विधान मानना ठीक है नाम का नहीं ।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं

अपि वा नाम घेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(अपि वा) शब्द पूर्व पक्ष निवारण के लिये हैं (उत्पत्तौ) सुनने पर (यत) जो पद (अपूर्वं) प्रथम किसी अन्य अर्थ में प्रयोग में न आया हो वह (नामधेयं) याग का नाम (स्यात्) है (अविधायकत्वात्) किसी गुण विशेष का बतलाने वाला नहीं ।

भा०—'उद्भिदादि' पद किसी अन्य अर्थ के पर्याय में पहले प्रसिद्ध नहीं हुए । अतः उस वाक्य में किसी गुण भूत द्रव्य विशेष का वर्णन नहीं करते किन्तु वेद विहित कर्मों की संज्ञा ही बतलाते हैं यदि ऐसा न माना जावेगा तो प्रथम कर्म संज्ञा लाभ न होगा दूसरे गुण का विधान दूसरे स्थान पर मिलने से उसका मानना वृथा होगा तीसरे गुण का विधान मानने से उन पदों की उद्भिदादि नामों में मत्त्वर्थ लक्षण करनी पड़ती है क्योंकि यज धातु का अर्थ याग क्रिया है अतः नाम का विधान ही मानना श्रेष्ठ है गुण विशेष का नहीं । और यदि नाम का विधान माना जावेगा तो वाक्य भेद दोष आवेगा जो ठीक

नहीं है।* क्योंकि उद्भित पद यौगिक है और स्वयं कर्म का वाचक ह अतः उसके विधान की आवश्येकता नहीं।

सं०—चित्रादि शब्दों से याग का नाम निरूपण करते हैं।

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्ध ॥ ३ ॥

प०क्र—(यस्मिन्) जिस पद में (गुणोपदेशः) रूढ़ होने पर भी गुणोपदेश मिले उस का (प्रधानतः) धातु रूप प्रकृति के साथ (अभि सम्बन्धः) याग का नाम होकर सम्बध होना योग्य है।

भा०—इस ब्राह्मण वाक्य में कि "चित्र या यजेत पशु कामः" इस में इस नाम विधि से कि, पशु कामना वाला पुरुष चित्रा नामक याग करे अथवा इस में गुणविधि है कि चित्र रूप वाले किसी द्रव्य विशेष से याग करे! इस का यह उत्तर है कि यद्यपि चित्रा शब्द उद्भित शब्द के समान यौगिक है परन्तु किसी विभिन्न रूप वाले किसी एक पदार्थ से रूढ़ है तब भी वह उद्भित के समान याग है। चित्रा याग दही, मधु, घी और जल, अक्षत अनेक पदर्थ युक्त होता है परन्तु गुण विधि मानने से "अग्निषो मीयं पशुमा लभते"

* ज्योतिष्टोम यज्ञ में यह बातें हैं जो करनी पड़ती हैं। "उद्भित" नामक क्रिया में पशु प्रदर्शिनी होती थी। "वलभित" नामक क्रिया में निरीक्षण द्वारा सेना के यथा क्रम विभाग का प्रदर्शन होता था। अभिजित नामक क्रिया में शत्रु को सन्मुख युद्ध में जीत कर उत्सव क्रिया होती थी। विश्वजित् नामक क्रिया में सब मान्डलीकों पर विजय प्राप्त कर जो उत्सव होता था वह विश्वजित् यज्ञ भाग कहलाता था।

अर्थात् प्रकाश और सरल गुणमय परमात्मा के उद्देश्य से पशु का उत्सर्ग (त्याग करे *

सं०—अग्नि होत्रादि शब्दों को कर्म का नाम होना निरूपण करते हैं।

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥ ४ ॥

प०क्र०—(च) और (तत्प्रख्यं) जिस वाक्य में सुने हुये गुण का मिलने वाला (अन्य शास्त्रम्) अन्य वाक्य विद्यमान है उस में नाम विधि होती है।

भा०—ब्राह्मण ग्रन्थों में "अग्निहोत्रं जुहोति" यहाँ यह जानना आवश्यक है कि इस याग का अग्निहोत्र नाम है या केवल होत्र। इसका यह उत्तर है कि "अग्नि-ज्योतिः" इत्यादि से सायंजुहोति और सूर्योज्योतिः से प्रातः जुहोति। इन वाक्यों में अग्नि रूप गुण

* पृष्ठ याग में जब राजा युद्ध को चला जाता था तो पीछे से यह माध्य दिन में गान विशेष होता था।

"अभित्वा शूरनोनुमः" कयानश्चित्रा आभुवत्, तंवोद स्मृती पहम् "तरो भिर्वो विदद्वसुम्" यह यथाक्रम रथन्तर, वाम देव्य, नौधस और कालेय साम कहे जाते थे।

* वहिष्पवमान याग क्रिया में धर्म युद्ध संकल्प से प्रातः राजभवन से बाहर निकला राजा तीनऋचा वाले तीन सूक्तों का गायत्र साम द्वारा गान रूप कर्म करता था।

इसी प्रकार 'आजि' अर्थात् युद्ध में जाते समय राजा लोग "अग्ने आयाहि वीतये, आनो मित्रावरुण, 'आयाहि सुषुमा हिते, इन्द्राग्नी अगतं सुतम्" इन गायत्र साम गानों से 'आज्य याग करते थे।

पाया जाता है परन्तु प्राप्त विधि नहीं हैं अतः यह नाम विधि ही कहे जावेंगे और यदि यह कहो कि जिस कर्म में अग्नि में होमता है वह अग्निहोत्र है इससे भी नाम ही लब्ध होता है गुण नहीं। अतः वहाँ नाम की विधि है न कि गुण का विधान। वैसे ही "आधार" याग कर्म में भी नाम जानना।*

सं०—'श्येन' शब्द भी याग का नाम है उसे कहते हैं।

तद्व्यपदेशं च ॥५॥

प० क्र०—(च) तथा (तद् व्यपदेशं) जिन वाक्यों में प्रसिद्ध पदार्थ से कर्म का उपमेय तथा उपमान भाव से निरूपण पाया जावे उसे भी नाम विधि कहते हैं।

भा०—जिन स्थलों पर श्येन, सन्देश तथा गो याग के नाम आये हैं वहाँ गुण विधान है अथवा नाम इसका उत्तर यह दिया गया है कि यद्यपि जाति वाची श्येन आदि शब्दों से याग का निरूपण किया गया है परन्तु उस याग में श्येन आदि रूप गुण विधान के प्रयोजन से नहीं किन्तु उपमा के प्रयोजन से है जैसे श्येनः बाज अपने शत्रु को पकड़ लेता है अथवा सन्देश संडासी बटलोई आदि को पकड़ती है और गौवे दूध से यजमान का श्येन सदृश (त्राण करती है) वाला भाव है अतः नाम विधि ही मानना चाहिए नकि गुण विधि।†

---

* आधार याग में नैऋत्ती दिशा से लेकर ऐशानी दिशायन्ति निरन्तर यज्ञ कुण्ड में घी पड़ता है वह कर्म आधार कहलाता है।

† यह स्थल हैं, श्येनेन अभिचरन यजेत्, सन्देशेन अभिचरन यजेत्, गवा अभिचर्यमाणो यजेत्। यहाँ नाम है गुण विधि नहीं।

सं०—वाजपेय शब्द भी याग नाम धेयक ही है।

नामधेये गुणश्रुतेःस्याद्विधानमिति चेत् ॥६॥

प० क्र०—(नाम धेये) नाम ही में (गुण श्रुतेः) गुण के सुने जाने से (विधानं) वाजपेय शब्द से गुण विधान (स्यात्) है (चेत्) यदि (इति) कहा जावे तो समीचीन नहीं।

भा०—ऐसे स्थलों में वाजपेय याग का नाम है अथवा गुण विधान है कि जहाँ आता है कि "वाजपेयेन स्वाराज्य कामो यजेत्" इसका यह भाव है कि पान करने योग्य अन्न रस को वाजपेय कहते हैं*। इससे सिद्ध है कि वाजपेय संज्ञा में ही द्रव्य रूप गुण पाया जाता है अतः वहाँ गुण विधान हैं न कि नाम विधि है।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥ ७ ॥

प० क्र०—(न) यह गुण विधि नहीं क्योंकि गुण विधि स्वीकार करने से (क्रिय योः) वाजपेय यज्ञ और दर्श पूर्णमास यह दोनों यज्ञ क्रियायें (तुल्यत्वात्) परस्पर समान होती हैं।

भा०—वाजपेय याग में गुण मानने से दर्श पूर्णमास की विधि में अन्तर नहीं रहता। दर्श पूर्णमास याग में भी तो वही गुण वाजपेय कैसे अन्न मय द्रव्य के गुण विधि मुक्ति ही होते हैं अतः गुण की सदृशता से दर्श पूर्ण मास प्रकृति याग और वाजपेय विकृति याग

---

*वाजस्य अन्नस्य पेयो रसो वाजपेयः इस पद श्रवण से गुण पाया जाता है अतः नाम विधान नहीं। यह भाव है।

हो जावेगा और अति देश स्वीकार करना होगा परन्तु यह माना नहीं जा सकता क्योंकि वाजपेय याग सत्रह "दीक्षा" और सत्रह ही 'उपसत' वाला होता है परन्तु दर्श पूर्ण मास में यह नहीं होते अतः ज्योतिष्टोम याग का विकृति रूप वाज पेय याग है* ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं

ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥८॥

प० क्र०—(ऐक शब्द) एक ही वाक्य में (यदि एक ही वाक्य से गुण विधान पदार्थवत्) गुण स्वरूप दूसरे अर्थ का गुण विधान मानने से वाक्य रूप दोष आता है तथा याग का अभिधान कर लिया जावे तो एक ही यज धातु के अर्थ याग और वाजपेय के साथ 'वाजपेयेन यजेत् और स्वाराज्य कामो भजेत्' इस में कर्मत्व और करणत्व रूप सम्बन्ध मानना पड़ेगा जो ठीक नहीं क्योंकि एक ही पद का अलग अलग अर्थ से दोनों के साथ सम्बन्ध मानने में वाक्य दोष होता है अतः 'वाजपेयेन, इसे नाम विधि ही मानना चाहिये गुण विधि नहीं ।

सं०—अग्नेय आदि शब्दों को गुण विशिष्ट याग का विधान कर्त्ता बतलाते हैं

तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः ॥९॥

प० क्र०—(तु) शब्द नाम विधि की कावृत्ति के लिये प्रयोग हुआ है । (तद्गुणा) 'आग्नेय' शब्द कर्म युक्त गुणों

* प्रकृति याग उसे कहते हैं कि जिसमें सम्पूर्ण पर्यन्त अंग प्रत्यङ्गों का विधान पाया जावे । इससे उलटे को विकृति कहते हैं । दीक्षा के दिन के पश्चात ' सोम अभिषव' दिन से पहले पहले जो हवन किये जाते हैं उसका नाम 'उपसत्' है ।

का (विधीयेरन्) विधान करते है न कि केवल कर्म का। कारण कि (विधिनार्थे) कर्म विधायक आग्नेय शब्दों में (अविभागात्) कर्म और अग्नि आदि गुणों में अन्तर नहीं और यह गुण (अन्येन) किसी दूसरे वाक्य से (शिष्टाः) उपलब्ध (नचेत्) नहीं है।

भा०—जैसे दर्श पूर्ण मास अधिकरण में कहा जाता है कि कि "यदाऽ ऽग्नेयोऽष्टाक पालो ऽमावास्यां पौर्णमास्या याञ्चाच्यु तो भवति" इस में अग्नेय शब्द अग्निहोत्र शब्द के समान कर्म का संज्ञक है अथवा गुण सहित कर्म विधाना है तो कहते है कि यदि केवल नाम विधि मानी जावे तो लाघवता है तौ भी न मानना ही ठीक है जैसे जहां कोई अन्य वाक्य गुण का विधान करता है वहाँ ही वह माना जाता है यह नियम है जैसे अग्नि ज्योतिः इत्यादि में न कि सर्वत्र और "आग्ने योऽष्टा कपाः" में अग्नि गुण का दिखलाने वाला अन्य वाक्य न होने से वहां गुण सहित कर्म के विधान करने वाले ही आग्नेय आदि शब्द है मानना ठीक है।

सं०—वर्हिः शब्द जाति वाचक है उस को कहते हैं।

वर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥ १० ॥

प०क्र०—(वर्हि राजयोः) वर्हि और आज्य का (असंस्कारे) संस्कार हीन (शब्द लाभात्) शब्द प्रयोग से (अतच्छब्दः) वह संस्कृत नहीं क्योंकि वर्हिः कुश तथा शुद्ध घी के वाचक नहीं वर्हि और आज्य मात्र के वाची हैं।

भा०—दर्श पूर्ण मास में कहा है कि "वर्हिर्लुनाति" दाम काटे "आज्यं विलाप यति" घृत तपावे, पुरोडाश पर्य्यग्नि करोति "पुरोडाश के चतुर्दिग अग्नि फेरै" यहां वर्हि शब्द यूप (खंभा) आहवनीय शब्द समान संस्कार वाची है अथवा जाति वाची हैं क्योंकि वर्हि शब्द से तृण विशेष और आज्य शब्द से घृत विशेष इसी प्रकार पुरोडाश शब्द से पिट्ठी विशेष का वाची होने का अभिप्राय निकलता है इसलिये इसका समाधान यह है कि यद्यपि यूप आहवनीय आदि संस्कार वाची शब्द हीं हैं क्योंकि यूप स्तम्भ मात्र और 'आहवनीय' शब्द अग्निमात्र का वाची नहीं क्योंकि मंत्रों में स्पष्ट स्तंम्भ विशेष और अग्नि विशेष का ही वाची माना है यद्यपि वर्हिः शब्द अन्वय व्यतिरेक से जाति वाचक हो सकता है और उसे संस्कार वाची मानने में दोष है इसलिये वर्हि शब्द जाति वाचक है संस्कार वाचक नहीं।

सं०—प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है उसे वतलाते हैं।

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(प्रोक्षणीषु) जहाँ प्रोक्षण हो उन जलों में प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग मानना चाहिये क्योंकि (अर्थ संयोगात्) अवयवार्थ के सम्बन्ध से प्रोक्षिणी शब्द का अर्थ जल ही है।

भा०—दर्श पूर्णमास याग में "प्रोक्षिणी रासादय" इस वाक्य में प्रोक्षिणी जल वाची है अथवा जाति वाची अर्थात

जल मात्र का ज्ञापक है अथवा यौगिक प्रोक्षण के साधन मात्र का वाची है। यद्यपि लौकिक और वैदिक शब्दों में प्रोक्षिणी जल वाची प्रयोग ही है परन्तु उक्त वाक्य में प्रोक्षिणी शब्द यौगिक अर्थात् प्रोक्षण साधन मात्र का द्योतक है और संस्कार तथा जाति वाची नहीं। संस्कार वाची मानने से अन्योन्याश्रम दोष भी आता है परन्तु यौगिक मानने से दोनों दोषों का परिहार हो जाता है और सेवन क्रिया के साधन भूत द्रव्य मात्र जैसे घृत, जल, दोनों का ग्रहण हो जाता है। अतः प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है संस्कार और जाति वाची नहीं।

सं०—निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक ही है।

तथा निर्मन्थ्ये ॥ १२ ॥

प० क्र०—(तथा) जिस प्रकार प्रोक्षिणी शब्द "प्रोक्षिणी रासादय वाक्य में यौगिक है उसी प्रकार (निर्मन्थ्ये) यह वाक्य "निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति" वाक्य में यौगिक है।

भा०—अग्नि चयन प्रकरण में "निर्मन्थ्य" शब्द संस्कार वाची है अथवा जाति वाची अथवा यौगिक इसका यह उत्तर है कि अग्नि चयन कर्म प्रकरण में पढ़े जाने से वह शुद्ध अग्नि और उस से उपपन्न अग्नि मात्र का वाचक हो सकता है परन्तु यहाँ यौगिक ही है। संस्कार वाची मानने से 'चिर मथति "अथवा,, अचिर निर्मथित का निश्चय नहीं हो सकता और जाति वाचक मानने से यथोपपन्न अग्नि का ग्रहण

अग्नि चयन में ठीक नहीं। अतः लौकिक मथन से अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये जोकि निर्मन्थ्य शब्द का अर्थ भी है।*

सं०—वैश्वदेव आदि शब्द भी याग वाची हैं इसलिये कहते हैं।

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत्॥१३॥

प० क्र०—(वैश्वदेवे) अर्थात् "वैश्वदेवेन यजेत्" इस वाक्य में सुने गये देवता तथा द्रव्य रूप गुण का (विकल्पः) जैसे "आग्नेयमष्टा कपालं निर्वयति" इस वाक्य में आये देवता तथा द्रव्य रूप गुण के साथ विकल्प है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—चातुर्मास यज्ञ के चार पर्व अर्थात् वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेध, शुनासीरीय। इनमें प्रथम पर्व में†

---

* अष्ट याग यह हैं।

(१) आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति। (२) सौम्यं चरुम्। (३) सावित्रं द्वादश कपालं। (४) सारस्वतं चरुम्। (५) पौष्णं चरुम्। (६) मारुतं सप्त कपालं। (७) वैश्वदेवी यामिक्षाम्। (८) द्यावापृथिव्यमेक कपालं। वाक्यों में आदेश पाया जाता है।

† अग्नियों के कई प्रकार हैं जैसे—

(१) दो अरणियों को परस्पर रगड़ने से उद्भूत् अग्नि मथित अग्नि और (२) आधान काल में मंथन करके गार्हपत्य के स्थान में स्थापित अग्नि 'चिरमथितं' अग्नि। (३) चयन काल में मथन करके मिट्टी के ठीकरे में स्थापित की अग्नि अचिरमथित। (४) और तुरन्त लौकिक मंथन से अग्नि का नाम अचिर निर्मथित अग्नि कही जाती हैं।

आठ प्रकार के भाग कहे हैं इसमें " वैश्वदेवेनयजेत्" इसमें गुण विधि है अथवा नाम विधि इसका निरूपण करना है। यहाँ 'यजेत्' पद आठों याग का अनुवाद करके उसमें देवता तथा द्रव्य रूप गुण की विधि बतलाता है। प्रकरण में ऐसा ही पाठ हैं उसके विहित देवता तथा द्रव्य रूप गुणों का 'आग्नेयं' आदि वाक्य विधान किये अग्नि आदि देवता तथा पुरोडाशादि द्रव्य रूप गुणों के साथ विकल्प के स्थान में संग्रह है।

सं०—इसका समाधान करते हैं

न वा पकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्च नहि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

प० क्र०—(न वा) गुण विधि मान कर अग्नि आदि देवता रूप गुणों का विश्वे देव रूप गुण के साथ विकल्प ठीक नहीं (प्रकरणात्) प्रकरण से अग्नि आदिक होना और (प्रत्यक्ष विधानात्) साक्षात तद्धित श्रुति से विहित एंव (द्रव्यस्य) उत्पन्न वाक्य से पुरोडाश आदि द्रव्य गुणों की प्राप्ति का भी (प्रकरणं) प्रकरणानुकूल द्रव्य गुण के योग से (न, हि) विकल्प नहीं बनता।

भा०—अग्नि देवता और पुरोडाशं आदि प्रकार गुण पहले विद्यमान होने से अन्तरङ्ग है और वैश्व देव वाक्य में विधान किये देवता एंव द्रव्य रूप गुण पश्चात् होने से वहि रङ्ग है यतः अन्तरङ्ग से वहि रंग निर्वल होता है अतः वहिरङ्ग द्वारा अन्तरंग का पाक्षिक

बाध मानकर विकल्प ठीक नहीं क्योंकि निर्बल प्रबल का बाधक नहीं हो सकता। अतः "वैश्व देवेन यजेत" में गुण विधि नहीं किन्तु नाम विधि है अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट आठ यागों में 'यजेत' पद से वैश्व देव नाम से अनुवाद कर लिया गया है।

सं०—गुण विधि मानने में और भी दोष हैं।

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

प० क्र०—(च) और (मिथः) दोनों का (अनर्थ सम्बन्धः) सम्बन्ध नहीं बनता।

भा०—उत्पत्ति वाक्य द्वारा उपलब्ध होने से अग्नि आदि गुण पूर्व ही विद्यमान हैं अतः उनका याग-योग होने पर प्रकरण द्वारा जाने हुए विश्वदेव रूप गुण का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। करण कि अग्नि आदि गुणों का सम्बन्ध होने से याग आकांक्षा रहित हो जाता है और आकांक्षा विरहित होने से सम्बन्ध नहीं होता एवं सम्बन्ध न होने से गुण विधि मानना निष्प्रयोजन के समान है इसलिये 'वैश्व देवे न यजेत्' यह गुण विधि नहीं किन्तु पूर्वोक्त आठों याग की समुच्चय रूप नाम विधि है।

सं०—परन्तु याग की आवृति से सम्बन्ध तो बन जाता है। फिर असम्बन्ध कैसा।

परार्थत्वाद्गुणानाम् ॥ १६ ॥

प०क्र०—(गुणानां) गुणों के (परार्थ त्वात्) अप्रधान होने से कर्म की लौट फेर नहीं हो सकती।

भा०—गुणों का लौट फेर प्रधान के अनुसार होता है न कि गुणों के अनुकूल। प्रधान का इस नियम से याग

प्रधान है और अग्नि आदि विश्वेदेव याग का अंग होने से अप्रधान और इसी लिये यह गुण कहे जाते हैं क्योंकि गौण प्रधान नहीं हो सकता अतः तदनुसार ही याग की आवृत्ति भी नहीं बन सकती इस कारण नाम विधि ठीक है गुण विधि नहीं ।

सं०—वैश्वानर यज्ञ में (अष्टा कपाल) आदि शब्दों का अर्थवाद होना कहते हैं ।

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥ १७ ॥

प०क्र०—(पूर्ववन्तः) अग्नि आदि गुणपूर्व होने से (अविधानार्थाः) "वैश्व देव ने यजेत्" में उस की विधि की सामर्थ नहीं, परन्तु (समाम्नाये) अष्टा कपाल, नव कपाल आदि सामान्य वाक्यों में (तत्सामर्थ्यं) आठ आदि गुणों की विधि बल से है क्यों कि पहले वह न थे ।

भा०—यह प्रश्न यहां सिद्ध किया है कि "अष्टा कपालं" में गुण विधि है या वैश्वामरेष्टि निरूपक वाक्यों में सुनते हुये द्वादश कपाल के प्रशंसक अर्थवाद हैं । इसमें पूर्व पक्षी कहता है कि "द्वादश सुकपाले संस्कृतः" जो बारह कपालों में पकाया जाय उस पुरोडाश रूप द्रव्य विशेष को द्वादश कपाल कहते हैं और सिद्धान्ती यह कहता है कि कथन से कि द्वादाश कपाल पुरोडाश रूप द्रव्य विशेप का वाची है उसी प्रकाल अष्टा कपाल नव कपाल आदि भी पुरोडाश रूप द्रव्य* विशेप के वाची है द्वादश कपाल के समान उन के पवित्र तादि

*पुरोडाश चावल की या जौ की पिट्ठी में सुगन्धित द्रव्य योग से चौकोर मोटी रोटी मिट्टी के कपाल पर पकाई जाती है वह पुरोडाश

फल भी कहे गये हैं अतः यह गुण विधि है न कि अर्थवाद। *

सं०—इसका समाधान करते हैं।

गुणस्य तु विधानार्थे तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥१८॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष निवृत्ति के लिये प्रयोग किया है (गुणस्य) बारह कपाल रूप गुण के (विधानार्थे) विधान करने वाले "वैश्वानरं" इस वचन के होते हुये भी (अतद्गुणः) आठ कपाल आदि रूप गुणों का विधान नहीं हो सकता और (प्रयोग) याग की अन्तर विधि में अयोग्य होने से (अनर्थकाः) वह निष्फल हो जाते हैं और (तं प्रति) बिना अर्थ वाद माने हुये उनका प्राकृत याग से सम्बन्ध एवं (अर्थवत्ता) प्रयोजनीय (नहि) नहीं हो सकते।

कहलाता है लिखा है कि वह बड़ा स्वादिष्ट और विद्वानों को प्रिय होता था।

* कान्येष्टि यज्ञ में लिखा है कि पुत्रोत्पन्न होने पर जो यह याग कराता है उसका पुत्र पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, सर्वेन्द्रिय सहित पशु-धन वाला होता है विधि यह है कि पुत्रोत्पन्न होने पर परमात्मा के निमित्त द्वादश कपाल प्रदान करे। जो अष्ट कपाल निर्माण करे तो 'गायत्री' से पुत्र को शुद्ध कराता है नव कपाल से करे तो 'पवमान स्तोत्र' से तेज धारण कराता है द्वादश कपाल याग करे तो वह 'जगती' से उसे पशुधन वाला करता है।

भा०—यद्यपि द्वादश कपाल की भाँति अष्टा कपाल भी पुरोडाश रूप द्रव्य के ही वाची हैं परन्तु द्वादश कपाल रूप द्रव्य गुण का इस याग के साथ योग नहीं क्योंकि वह पूर्व ही द्वादश कपाल रूप गुण से रुका हुआ था और अनेक गुणों की विधि मानने से वाक्य भेद रूप दोष आता है वह ठीक नहीं और बिना अर्थ वाद माने हुये इस याग से योग भी ठीक नहीं बैठता । इसलिये अष्टा कपाल द्वादश कपाल की स्तुति कर्त्ता होने से अर्थ वाद है गुण विधि नहीं ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं

तच्छेषो नोपपद्यते ॥१९॥

प० क्र०—(तच्छेषः) अष्टा कपाल और द्वादश कपाल के शेष अर्थात् स्तुति कर्त्ता हैं यह (न) नहीं (उपपद्यते) सिद्ध हो सकता है

भा०—अष्ट संख्या द्वादश के सामने छोटी है इस कारण अष्टा कपाल को द्वादश कपाल का स्तुति कर्त्ता कहना असंगत है ।

सं०—इसका समाधान यह है ।

अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥२०॥

प० क्र०—(विधानार्थे) कथित द्वादश संख्या में (अविभागात्) अष्ट आदि संख्या का अन्तर्भाव होने से (स्तुत्यर्थेन) स्तवन रूप अर्थ से (उपपद्येरन) अष्टा कपाल आदि कथन ठीक है ।

भा०—अष्ट आदि संख्या द्वादश के भीतर होने से उसका अंश है और अंश द्वारा अंशी की स्तुति होना असम्भव नहीं अतएव अष्टा कपाल आदि वाक्य अर्थ वाद ही हैं गुण विधि नहीं।

सं०—उक्त अर्थ की आशंका।

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

प० क्र०—(कारणं) अष्टा कपाल आदि सुने हुए पवित्रादि फल के कारण (स्यात्) हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो ठीक नहीं।

भा०—अष्टा कपाल और द्वादश कपाल के स्तुति कर्त्ता अर्थ वाद नहीं हो सकते किन्तु कठिन पवित्रत्ता आदि रूप फल के कारण है और कारणता क्रिया का शेष अर्थात् गुण हुये विना सम्भव नहीं अतएव वह गुण विधि ही है अर्थ वाद नहीं कही जा सकती।

सं०—इसका यह समाधान है।

आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ॥ २२ ॥

प० क्र०—(अकारणं) अष्टा कपाल आदि कथित पवित्रता आदि फल के मूल नहीं। क्योंकि (आनर्थ्यक्यात्) उनका उस फल में प्रयोजन नहीं (कर्त्तुः हि) यज्ञ कर्त्ता यजमान को ही (कारणानि) पवित्रादि फल मिलने से वह कर्त्ता को अनुपलब्ध होने के स्थान में जात पुत्र को होते हैं अतः (गुणार्थः हि) स्तुति वाची का (विधीयते) अष्टाकपाल आदि विधि बतलाई है गुणार्थ नहीं।

भा०—यदि अष्टा कपाल का भिन्न अर्थ मान कर उन में गुण विधि मानी जावे तो अनेक इष्टियां माननी होंगी और ऐसा मानना आरम्भ और अन्त की एक वाक्यता नष्ट होती है। और इससे एक ही इष्टि का विधान मिलता है कारण कि वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्ववेत पुत्रे जाते "यहां से आरम्भ करके यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एक सभवति" इस इष्टि के अन्त वाक्य तक एक ही इष्टि का उपसंहार किया है। यदि बीच में पढ़े गये अष्ट कपाल आदि भी गुण विधि होती तो उस प्रकार का उपसंहार ही क्यों किया जाता अतः यह गुण विधि नहीं किन्तु अर्थवाद है।

सं०—यज मान शब्द को प्रस्तर (कुशमुष्टि) आदि में स्तुति अर्थकता का विस्तार करते हैं।

तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥

प० क्र०—(तत्सिद्धिः) कुशमुष्टि आदि से यजमान का कार्य पाया जाता है।

भा०—जैसे यजमानः प्रस्तरः। "यजमान एक कपाल*" इन अधि करण वाक्यों में गुण विधि है अथवा अर्थवाद। इसका यह समाधान किया गया है कि जैसे द्वादश कपाल का अष्ट कपाल एक अवयव (भाग) है उसी प्रकार कुश मुष्टि (प्रस्तर) आदि का यज मान अवयव नहीं किन्तु स्तुतिकर्त्ता है। अव-

* एक खप्पर में पकाया पुरोडाश एक कपाल कहलाता है।

यव ही स्तुति कर्त्ता हो अन्य न हो यह नियम भी नहीं गुणों के सादृश्य से अन्य भी अन्य की स्तुति कर्त्ता होता है जैस 'सिंहों देवदत्तः' सिंह सदृश देवदत्त के गुण होने से देवदत्त का सिंह शब्द स्तुति कर्त्ता है उसी प्रकार 'यजमानः प्रस्तरः' आदि यजमान याग उपकरणादि गुणों से कुशमुष्टि आदि यजमान शब्द स्तुति वाची हैं अतः यहाँ अर्थ वाद है गुण विधि नहीं।

सं०—अग्नि आदि शब्द ब्राह्मण आदि के स्तुति वाची हैं।

जातिः ॥२४॥

प० क्र०—ब्राह्मणादि वर्णों को जो अग्नि आदि संज्ञा से कहा गया है उसका कारण (जातिः) उत्पन्न गुण विशेष ही है।

भा०—"अग्निर्वैब्राह्मणः" इन्द्रो राजन्यः 'वैश्योविश्वेदेवाः' इन वाक्यों में अग्नि आदि शब्द अग्नि आदि गुण के बतलाने वाले हैं अथवा अर्थवाद ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के स्तुति वाची हैं। यहाँ अर्थवाद मानने से यद्यपि वाक्य व्यर्थ हो जाता है फिर भी गुण विधि मानना संगत नहीं। कारण कि अग्नि आदि स्वतंत्र पदार्थ होने से ब्राह्मण आदि के गुण नहीं अतः (:सिंहोऽयं देवदत्तः) इस कियह देवदत्त सिंह है सिंह के क्रूरतादि गुण विशेषों की सादृश्यता से देवदत्त को सिंह कहा है उसी प्रकार उद्भूत प्रकाशादि गुण विशेष की समानता से ब्राह्मण आदि को अग्नि कहा हैं वअतए ब्राह्मण अग्नि, क्षत्रिय, इन्द्र और वैश्य को विश्वदेव-

कहा अर्थात् उन गुणों के कारण ब्राह्मणादि की अग्नि आदि नाम से प्रशंसा की है अर्थात् यहाँ भी अर्थवाद है गुणविधि नहीं कह सकते ।

सं०—यजमान आदि शब्दों को यूप का स्तुति कर्त्ता निरूपण करते हैं ।

सारूप्यात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(सारुप्यात) यूप को आदित्य और यजमान बतलाया है, यह तेज तथा लम्बाई की योग्यता से सादृश्य कहा है ।

भा०—जैसे यजमानो 'यूपः' आदित्यो यूपः यहाँ यजमान और 'यूप' में लम्बाई तथा घृत से चुपड़े यूप और सूर्य में तेज की समानता कही है । इसी सादृश्य से यूप को यजमान और आदित्य कहा गया है अतः दोनों के स्तुति कर्त्ता अर्थ वाद हैं ।

सं०—अब अपशु आदि गौ आदि के स्तावक होने से प्रयोग किये गये हैं।

प्रशंसा ॥ २६ ॥

प० क्र०—(प्रशंसा) गौ और घोड़ा को छोड़ कर छाग आदि सब अपशु हैं यहाँ गौ और अश्व की स्तुति है ।

भा०—यहाँ भी इन वाक्यों में कि "अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" अयज्ञो वा एप योऽस्तमा "असत्रं वा सतत् यदच्छन्दोमम्" आदि विधि वाक्य हैं अथवा अर्थ वाद हैं । यद्यपि विधि मानने से यह सब वाक्य सार्थक हो जाते हैं तथापि

ऐसा करना ठीक नहीं क्योंकि विधि होने से गौ, अश्व ही पशु संज्ञक होते हैं (अजा) बकरी आदि नहीं इसी प्रकार सामवाला और छन्दोम वाला यज्ञ ही सत्र कहलाता है अन्य नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि अजादि भी पशु है और साम अथवा छन्दो रहित भी यज्ञ होते हैं अतः यह अर्थ वाद कि गौ अश्व अजादि से उत्तम पशु हैं और इसी प्रकार साम और छन्दोम रहित भी यज्ञ और सत्र होते है जो उत्तम हैं अतः यहाँ केवल स्तुति की गई है विधि वाक्य नहीं कहे जा सकते।

सं०—जिन मंत्रों में* सृष्टि शब्द नहीं और असृष्टि शब्द भी नहीं उन मंत्रों का सृष्टि शब्द से ग्रहण होता है।

भूमा ॥ २७ ॥

प० क्र०—(भूमा) सृष्टिलिङ्ग वाले मंत्रों का भूयस्त्व होने से।

भा०—"सृष्टि रूप दधाति" वाक्य में सृष्टि शब्द सृष्टि तथा असृष्टि दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है और वहाँ अग्नि संचयन कर्म का प्रकरण चल रहा है इनमें सृष्टि शब्द वाले मंत्रों का इष्ट का (ईंट) के उपधान में गुण रूप से विधान पाया जाता है अथवा उनका अनुवाद करके सृष्टि असृष्टि दोनों शब्द वाले मंत्रों से इष्टकर के उपाधान का विधान है यहाँ यद्यपि सृष्टि

* "सृज" धातु से सृष्टि शब्द बनता है उसके प्रयोग वाले मंत्रों से जहाँ ईंटों द्वारा कुण्ड रचना होती है उसे सृष्टि रचना, उपधानादि कहते हैं।

के साथ 'उपदधाति' क्रिया के साथ योग होने से सृष्टि शब्द वाले मंत्रों का *उपधान में गुण रूप से विधान होना योग्य है परन्तु यह असंगत है क्योंकि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पढ़े जाने से वह मंत्र स्वयं आया है परन्तु उसका विधान नहीं किया जा सकता अतः मंत्रानुवाद पूर्वक इष्टका के उपधान का विधान मानना ही ठीक है।

सं०—'प्राणभृत' शब्द को लक्षणा से प्राण वाले तथा विना प्राण वाले 'अप्राणभृत' उन सब मंत्रों का अनुवादक निरूपण करते हैं।

लिङ्ग समवायात् ॥२८॥

प० क्र०—"लिङ्ग समावायात" आरंभ पाये जाने से †प्राणभृत मंत्र का सब मंत्रों की संगति है।

भा०—जैसे "प्राणभृत उप दधाति" में प्राणभृत शब्द प्राण एवं अप्राणभृत दोनों प्रकार के मंत्रों का अनुवादक है तो शंका होती है प्राण शब्द वाले मंत्रों के उपधान में गुण रूप विधान है अथवा लक्षणावृत्ति से प्राण तथा अप्राणभृत दोनों प्रकार के मंत्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपाधान की विधि है। कहते हैं कि यद्यपि प्राणभृत क्रिया का उपदधाति क्रिया से योग होने से प्राण शब्द वाले मंत्रों का उपधान में गुण रूप से विधि माननी चाहिये और अनुवाद नहीं

* उपधान रचना का नाम है।

† जिन ईंटों की प्राण शब्दोपेत मंत्रों की रचना है उसे प्राणभृत कहते हैं।

क्योंकि यदि अनुवाद माने तो लक्षणा मानना पड़ेगी। फिर भी गुण रूप से विधान मानना असंगत है क्योंकि ऐसा करने से मंत्र अनर्थक होते हैं।

सं०—सदिग्ध अर्थ का वाक्य शेप से निर्णय निरूपण करते हैं।

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥ २९ ॥

प० क्र०—(सन्दिग्धेषु) विहित अर्थों में भ्रम होने पर (वाक्य शेषात्) वाक्य शेप से निर्णय होता है।

भा०—जैसे कहा कि 'अक्ताः शकराः उपधाने वाक्य* में कहा गया कि अग्नि कुण्ड में उपधान के लिये शक्कर को घी से चुपड़ना (मिलाना) अथवा तैल से तो यद्यपि इस वाक्य में शक्कर का केवल चुपड़ना मात्र कहा है तो भी तैल से चुपड़ी शक्कर का वहाँ अग्रहण है क्योंकि वहाँ निर्णायक वाक्य नहीं हैं परन्तु घृत का उसकी तेजस्विता रूप प्रशंसात्मक "तेजो वै घृतम् वाक्य शेष विद्यमान है अतः तैल-शर्करा अञ्जन निरर्थक सा हो जाता है अतः उस वाक्य में घी से भींगी हुई शकर ही ली गई है तैल युक्त नहीं।

सं०—पदार्थ योग्यतानुसार अर्थ निर्णय करते है।

अर्थाद्वा कल्पनेकदेशत्वात् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(अर्थात्) अन्य निश्चय करने वाले चिन्हों के न होने पर पदार्थ की क्षमता से (वा) ही अर्थ के निश्चय की (कल्पना) ऊहा होती है क्योंकि (एक

* मिट्टी से मिले छोटे २ कंकड़ शर्करा कहलाती है और घी से मिश्रित शर्करा को 'अक्ता' कहते हैं।

देशत्वात्,) कल्पना से भी अर्थ निर्णय हो सकता है ।

भा०—जैसे 'स्रुवेण वद्यति' "स्वधितिनाऽवद्यति" 'हस्तेनावद्यति' इन अधिकरण वाक्यों में । यज्ञ में प्रयोजनीय घी आदि पदार्थों को उनकी योग्यतानुसार स्रुवा आदि से भाग विशेष का भिन्न करना इस भाव से इन वाक्यों में स्रुवा आदि ग्रहण है अथवा कभी स्रुवा से अथवा कभी स्वधिति से कभी हस्त से अवदान करना इस भाव से ग्रहण है वो कहते हैं कि आग में घी आदि विभिन्न पदार्थों का उपयोग होता है जो शीत में अत्यन्त कठिन होने से स्रुवा तथा हाथ से अवदान होना कठिन है अतः विकल्प प्रयोजन से उनके ग्रहण की कल्पना असंगत है किन्तु स्रुवा से अवदान योग्य पदार्थों का स्रुवा से, *स्वधिति के योग्य स्वधिति से और हाथ के योग्य पदार्थ का हाथ से अवदान श्रेष्ठ है और पदार्थ योग्यता से कल्पना भी ठीक होती है अतः पदार्थ योग्यता से वहाँ स्रुवादि ग्रहण है न कि विकल्प अभिप्राय से । यहाँ जैसे पदार्थ योग्यता से उनके अवदान का निरूपण है उसी प्रकार सर्वत्र योग्यतानुसार अर्थ का भी निर्णय जानना चाहिये ।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसादर्शने भाष भाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः

—

* छोटी छुरी को स्वधिति कहते हैं ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते।

सं०—प्रथम अध्याय में वेदानुकूल कर्मों को धर्म बतला या अब उसके भेदों को बतलाते हैं। पहले धर्म के क्रिया पद कथन वालों का निरूपण करते हैं।

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

प० क्र०—(भावार्थः) याग, होम, दान तथा प्रत्ययांश से धात्वंश से भावना वाची (कर्म शब्दाः) यजेति, जुहोति ददाति आदि क्रिया पद (तेभ्यः) उनसे (क्रिया) याग होम दान रूप कर्त्तव्य काम का (प्रतीयत) ज्ञान होता है और (एवहि) यही (अर्थः) क्रिया रूप का भाव (विधीयते) धर्म कहा गया है।

भा०—जैसे कहा गया है कि 'सोमने यजेत स्वर्ग कामः' 'दर्श पूर्ण मासाभ्यांस्वर्ग कामो यजेत' अग्नि होत्रः 'जुहोति हिरण्य मात्रेया' पदाति यह सब ज्योतिष्टोम यज्ञ के कामना मन्त्र हैं इनमें नाम और आख्यातान्त समस्त पद धर्म को कहते हैं अथवा यजेत, जुहोति,

आदि आख्यातान्त पद स्वयं ही धर्म के कथन करने वाले हैं इसका समाधान यह है कि धर्म द्रव्य गुण रूप किसी वस्तु विशेष की संज्ञा नहीं परन्तु सोम घी आदि नाना वस्तुओं का और पुरुष के उद्योग से सिद्ध वेदानुकूल याग, होम, दान आदि रूप कर्त्तव्य विशेष को नाम धर्म है और उनका ज्ञान यजेत जुहोति आदि आख्यातान्त पदों से होता है अतएव सर्वत्र विधि वाक्यों में विद्यमान नाम और आख्यातान्त पदों के बीच केवल आख्यातान्त पद ही धर्म के निरूपक है।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

प० क्र०—(सर्वेषां) सोम, घी इत्यादि पदार्थों का (अर्थः) साधन करने योग्य अर्थ (भावः) यज्ञादि क्रिया ये हैं अतएव नाम पद भी धर्म के निरूपक हैं (चेत्) यदि (इति) इस प्रकार कहाँ जावे तो ठीक नहीं।

भा०—जैसे काठ थाली आदि उपकरणों के बिना पाक क्रिया नहीं होती और न उसका भात (चावल) पकाने का सिद्धफल ही उपलब्ध हो सकता हैं। उसी प्रकार सोम घी आदि पदार्थों के बिना याग आदि क्रिया भी नहीं हो सकती और न उससे होने वाले फल की ही प्राप्ति हो सकती है इसलिए विधि वाक्य में विद्यमान क्रिया पद समान नाम पद भी फल के साधन धर्म के कहने वाले हैं न कि केवल आख्यातान्त पद ही।

सं०—आगे के दो सूत्रों में नाम और आख्यात पदों के लक्षण द्वारा शंका निवारण करते हैं।

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकांक्षाभूतत्वात्स्वे प्रयोगे ॥३॥

प० क्र०—(स्वे) अपने अर्थ में (प्रयोगे) प्रयोग होने पर (येषाम) जिन पदों का (उत्पत्तौ) बोलने के समय में (रूपोपलब्धिः) अपने अर्थ की प्राप्ति होती है (तानि) उनको (नमामि) नाम कहते हैं और (तस्मात्) बोलने के समय अर्थोपलब्धि होने से (तेभ्यः) वह (पराकांक्षा) स्वार्थ सिद्धि के निमित्त अन्य की इच्छा रहित हैं क्योंकि (स्वे, प्रयोगे) उन के बोलने काल में (भूतत्वात) अर्थ रहता है।

भा०—अर्थ दो प्रकार के होते हैं सिद्ध और साध्य। जो अर्थ अपने वाचक पदों के बोलने की अवधि में विद्यमान हैं और अपनी सिद्धि के निमित्त अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रखते वहाँ सिद्ध और उनके वाचक पदों की 'नाम' संज्ञा है। सोमादि द्रव्य गुण वाची शब्द का उदाहरण है जो अर्थ अपने वाचक पदों के बोलने-काल में न हों किन्तु बोलने-काल के पश्चात् द्रव्य आदि विभिन्न साधनों तथा पुरुष के उद्योग से उत्पन्न हों वह 'साध्य' और उनके वाचक 'अख्यात' कहे जाते हैं। जैसा कि यजति, जुहोति और ददाति के बोलने के समय याग होम दानादि अविद्यमान थे परन्तु पुरुषार्थ के पश्चात् होते हैं।

सं०—इनके ज्ञान की क्या आवश्यकता है ।

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगे न विद्यते तान्याख्यातानि तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात्प्रयोगस्य ॥४॥

प० क्र०—(तु) फिर (ऐषां) जिन पदों के (उत्पत्तौ) उत्पन्न अर्थात् उच्चारण समय में (अर्थे, स्वे) निज अर्थ में (प्रयोगः) उच्चारण (न विद्यते) नहीं हो (तानि) उनको (आख्यातानि) आख्यात कहते हैं और (तस्मात्) इसी कारण (तेभ्यः) उनसे (प्रतीयेत) धर्म जाना जाता है कारण कि (प्रयोगस्य) उनका प्रयोजन (आश्रितत्वात्) पुरुष प्रयत्न पर आश्रित है ।

भा०—जिन पदों के अर्थ बोलने के समय न हों किन्तु द्रव्य आदि विभिन्न साधनों और पुरुष के उद्योग के अनन्तर सिद्ध हों उन्हें आख्यात् कहते हैं ।

सं०—यागादि कर्मों से भविष्यत का फलारंभ क्यों पाया जाता है ।

चोदना पुनरारम्भः ॥५॥

प० क्र०—(पुनः) जिस लिए (चोदना) उक्त कर्मों की प्रेरणा अर्थात् विधि वेद में मिलती है और उनसे (आरम्भः) भविष्यत फल का आरम्भ होता है ।

भा०—जैसे लौकिक मनुष्यों के किए हुए कर्मों का कर्म-फल होता है उसी प्रकार याग, होम, दानादि कर्म जो परमात्मा की आज्ञा से किये जाते हैं उनसे भावी फल का आरम्भ होता है ।

सं०—विधि वाक्यों में विद्यमान आख्यात निरूपण कर अब उनके विभाग कहते हैं।

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

प० क्र०—(तानि) वह क्रियापद (द्वैधं) दो भांति के हैं (गुणप्रधान भूतानि) एक गौण कर्म के निरूपक और अन्य प्रधान कर्म के बतलाने वाले हैं।

भा०—क्रिया पद अर्थात् आख्यात दो प्रकार के हैं एक गुणभूत और दूसरा प्रधानभूत। जो गौण कर्मों के निरूपक है उन्हे गुणभूत और प्रधान कर्मो के प्रति पादक को प्रधानभूत कहते है।

सं०—प्रधान भूत का यह लक्षण है।

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(यैः) जो कर्म (चिकीर्ष्यंते) संस्कार के निमित्त (द्रव्यं) द्रव्यापेक्षा (न) नहीं करते (तानि) वे (प्रधान भूतानि) प्रधान कर्म है। कारण कि (द्रव्यस्य) द्रव्य का (गुण भूतत्वात्) उनके प्रति गौण है।

भा०—जो कर्म द्रव्य के न संस्कार करने वाले है न उत्पन्न करने वाले ही हैं किन्तु स्वयं ही द्रव्य साधक हैं वह प्रधान कर्म कहलाते है जैसे याग, होम दान इत्यादि।

सं०—गौण कर्म का लक्षण देते हैं।

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्॥ ८ ॥

प० क्र—(तु) तथा (यैं) जो कर्म (चिकीर्ष्यते) संस्कारादि के निमित्त (द्रव्यं) द्रव्य की अपेक्षा वाले हैं (तत्र) वहाँ उन कर्मों में (गुणः) गौणता (प्रतीयेत) समझनी चाहिये क्योंकि (तस्य) उन कर्मों के लिये (द्रव्य प्राधन त्वात्) द्रव्य प्रधान मुख्य है।

भा०—जो कर्म द्रव्य के संस्कारक और उत्पन्न करने वाले है और स्वयं द्रव्य साध्य नहीं उन्हें गौण कर्म कहते हैं 'जैसे व्रीहीन वहन्ति' धानों को कूटो । तण्डुलानि पिनष्टि, चावलों को पीसो। यह कर्म द्रव्य के संस्कार कहलाते है और 'यूपं तक्षति' खम्भे को बनावे 'आहवनीय माध्धाति' अग्न्याध्यन करे कर्म गौण कहे जाते हैं क्योंकि यह कर्म संस्कार एवं उत्पत्ति के निमित्त द्रव्य पर अवलम्बित हैं अर्थात् हम किस का संस्कार और किस की उत्पत्ति करें । इस प्रकार द्रव्याकांक्षा बनी रहती है। अर्थात् जिन कर्मों का फल अदृष्ट हो वह प्रधानकर्म और जिनका दृष्ट है वह गौण कर्म होते हैं।

सं०—सम्मार्जन को गौण कर्म बतलाते हैं

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥९॥

प० क्र०—(तु) शब्द का पूर्व पक्ष संकेत निमित्त है (प्रयाजवत्) जिस प्रकार 'प्रयाज' कर्म है उसी प्रकार (धर्म मात्रे) स्रुवादि के धर्म मात्र सम्मार्जन (धोधा डालना)

भी (कर्म) प्रधान कृत्य (स्यात्) हैं कारण कि इनसे (अनिष्टतेः) किसी दृष्ट की सृष्टि नहीं पाई जाती।

भा०—'स्रवः सम्मार्ष्टि' 'अग्नि संम्मार्ष्टि' परिधि सम्मार्ष्टि पुरोडाशं पर्य्यग्नि करोति इत्यादि वाक्य दर्श पूर्णमास याग प्रकरण में पढ़े गये हैं। स्रुवः अग्नि और परिध का सम्भार्जन एवं पुरोडाशं का पर्य्यग्नि करण प्रधान कर्म है अथवा गौण। क्योंकि जैसे 'अवहनन' कूटना आदि कर्म का तुष विमोकादि भूसी प्रथक्करण आदि प्रत्यक्ष फल हैं उसी प्रकार सम्मार्जनादि कर्म भी अदृष्ट फल रहित हैं अतः 'प्रयाजं' कर्म के सदृश सम्मार्जन भी प्रधान कर्म है* और वह प्रधान कर्म होने से प्रयाज सदृश है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात् ॥१०॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग है (इतरैः) कूटने आदि कर्म के (सधर्मः) सदृश (स्यात्) है क्योंकि (तुल्य श्रुति त्वात्) दोनों का एक प्रकार से उपदेश मिलता है।

*झाड़ पोंछकर रखना सम्मार्जन। वेदी के चारों ओर एक सी रक्खी सत्वक लकड़ी परिधि। खपरे में पकाई रोटी विशेष पुरोडाश और दर्भ पुष्टी के आगे के भाग में अग्नि लगाकर पुरोडाश के चारों ओर घुमाने को पर्य्यग्नि करण और समिधादि नामक पाँच आहुति कर्म विशेष को 'प्रयाज' कहते हैं।

भा०—जिस प्रकार कूटना पीसनोदि दृष्टि फल द्योतक नहीं उसी प्रकार सम्भार्जनादि भी नहीं है परन्तु वह उनके समान गौण कर्म तो मानना ही चाहिये। इसलिये कि द्रव्य प्रधानता की बतलाने वाली द्वतीया विभक्ति का उपदेश दोनों स्थानों में एक सा है*: और कर्त्ता के ईप्सिततम की कर्म संज्ञा वाला माना है और जो ईप्सिततम होगा वही प्रधान होगा अतः याग के लिये उपयोगी बनाने योग्य क्रिया तुष रहित धान कर्त्ता को इप्सिततम है इसी भाँति स्रुवा के संम्भार्जन आदि भी कर्त्ता को इप्सिततम हैं।†

सं०—इसका समाधान करते:हैं।

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥ ११॥

प० क्र०—(द्रव्योपदेशः) 'स्रुचः :सम्मार्ष्टि:' में जो द्वितीयान्त स्त्रु चः पद से स्रुवः' द्रव्य का उपदेश है वह गौण रूप से है न कि प्रधानता से (चेत्) यदि (इति) इस प्रकार का कहो तो असमीचीन है।

भा०—जहाँ ऐसा आता है कि 'सक्तून जुहोति, एक कपालं जुहोति' अर्थात् सत्तुओं से होम करे अथवा एक खपरे में पड़े पुरोडाश से हवन करे इन वाक्यों में सक्तु आदि गौण द्रव्य का द्वितोया विभक्ति से

* पाणिन आचार्य ने "कर्मणि द्वितीया" अष्टा २। ३। २ इस सूत्र में कर्म में द्वितीया विभक्ति मानी है।

† कर्तु रीप्सित तम् कर्म। अष्टा १। ४। ४९ इस पाणिन आचार्य के सूत्र से कर्त्ता को इप्सिततम संज्ञा है।

बतलाया है उसी प्रकार स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि में भी स्रुवादि द्वितीया विभक्ति से बतलाया है न कि स्रुवादि के प्रधान से।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(न) नस्रुचः सम्मष्टिं 'आदि में गुण रूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं, कारण कि (लोकवत्) जैसे लोक में कहते हैं कि 'ग्राम गच्छति' इसी प्रयोग की भांति (तदर्थ त्वात्) उसमें उपदिष्ट द्वितीया विभक्ति को कमर्थित्व है। (च) फिर (तस्य) वह स्रुवादि सब द्रव्य (शेप भूत त्वात्) घी आदि के रखने आदि से उनके शेप हैं।

भा०—सत्तु आदि द्रव्य केवल होम के साधन है न कि किसी अन्य अर्थ में आ सकने वाले हैं क्योंकि उनका हवन करने से वह भस्मीभूत हो जाते हैं इसी कारण 'सक्तून जुहोति' में लक्षण वृत्ति से करणार्थिक द्वितीया विभक्ति की कल्पना द्वारा सक्तु आदि का गुणरूपेण आदेश मानना की ठीक है परन्तु स्रुचः सम्मार्ष्टि में उपदिष्ट द्वितीया विभक्ति को करणार्थकता नहीं मान सकते क्योंकि सम्मार्जन से भिन्न यज्ञ के उपयोगी घी आदि रखने में सम्मर्जित स्रुवा आदि का विनियोग है जो विना कर्म में द्वितीया माने हो ही नहीं सकता। विशेप कर जब कर्म इप्सित तम होने से प्रधान माना गया है। अतः यह उदाहरण समीचीन नहीं।

सं०—अब स्तोत्र तथा शस्त्र को प्रधान कर्म सिद्ध करते हैं।

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधानत्वात्॥ १३॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष का द्योतक है (स्तुत शस्त्रयोः) स्तोत्र और शस्त्र (संस्कारः) संस्कार कर्म है। वह (याज्यावत्) याज्या ऋचा की सदृश (देवता भिधाना त्वात्) गुण कथन से परमात्मा के स्वरूप को कहते हैं।

भा०—'याज्या' * द्वारा याग के आरम्भ में अध्वर्यु खड़ा हो कर ईश्वर वन्दना करता है और गाकर जिन मंत्रों से स्तुति की जाती है। यह स्तोत्र और विना गाये स्तुति करने का नाम शस्त्र है। अब ज्योतिष्टोम में स्तोत्र शस्त्र गुण कर्म है अथवा प्रधान कर्म। जैसे याज्या ऋचा गुण निरूपण से ईश्वर का स्वरूप बतलाती है उसी प्रकार स्तोत्र शस्त्र भी गुण कीर्तन करते हैं†। इस प्रकार का अनुस्मरण भूसीदूर करने की भांति परमात्म-संस्कार विशेष है। जहाँ संस्कार्य संस्कारक भाव हों वहाँ संस्कार्य प्रधान और संस्कार गौण होता है। अतः यह गौण कर्म है न कि प्रधान नहीं। वेदों में एक सच्चिदानन्द ही देवता माना है

* ऋग्वेद की ऋचा विशेष का नाम है।

† 'अग्नि आयाहि वीतये, आनो मित्रा वरुण, आयाहि सुषुमाहिते इन्द्राग्नी आगतं सुत, यह सामवेद के चारों सूत्र प्रातः गान में गायत्री साम नाम से गाये जाते हैं।

अन्य को नहीं। अतः उसे "अग्निं मित्रं वरुण मग्नि माहुरथो दिव्यस्य सुपर्णोगरुत्मान एकं सद्विप्रा" वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः आदि परमात्मा के ही प्रकाश गुण प्रधानता से कथन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य नामों की प्रवृत्ति का भी उस* के गुण के अनुसार प्रधानता दी जाती है क्योंकि एक प्रभू के अनन्त गुण अनन्त वीर्य, अनन्त पराक्रमादि गुण हैं जिस ऋचा में जिस नाम से स्तुति है वही उसका देवता माना जाता है ऐसी ऋचा आग्नेयी, ऐन्द्री, वारुणी आदि नाम से हैं अन्तः इन्द्र, अग्नि, वरुण महेन्द्र कोई भिन्न देवता नहीं।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र कर्म सम्बन्धी आक्षेप का समाधान यह है।

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुण भूतत्वात् ॥१४॥

प० क्र०—(तु , शब्द पूर्व पक्ष का परिहार करता है (देवता नाम चोदना) यदि स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म माना

*"आज्यस्तोत्र" तथा "अभिताशूर नो नुम" कयानश्चित्र, आभुवत, तं वो दस्मयूतिषहम्, तरो भिर्वो विहद्वसुम् यह सामवेद के चारों सूक्त दुपहर में यथा क्रम रथन्तर आदि पृष्ठ स्तोत्र कहे जाते हैं। यह सूत्र तीन ऋचा का होता है और स्तोत्र, स्तुति, स्तवन, स्तुति, शस्त्र; शंसन एवं प्रशंसा पार्य्याय वाची होते हैं और यथा स्थान इनके प्रयोग पाये जाते हैं।

जाता है तो उन मन्त्रों का जिनमें इन्द्रादि देवता के नाम से स्तुति वाले मंत्र का (अर्थेन) अर्थानुकूल (अपकृष्येत) अपकर्ष होना चाहिये । क्योंकि (अर्थस्य) देवता रूप अर्थ के लिये (गुण भूत त्वात्) मन्त्र गुण भूत हैं ।

भा०—स्तोतव्य पदार्थ मय गुणों के कथन को स्तुति अथवा प्रशंसा कहते हैं । गुणों के कथन से वस्तु-स्वरूप को बतलाने का नाम स्तुति नहीं है जैसे 'यज्ञदत्त-श्चतुर्वेदा भिज्ञः' चारों वेदों का ज्ञाता यज्ञदत्त है इस वाक्य में स्तुति योग्य देवदत्त में चारों वेदों का ज्ञान गुण सम्बन्ध कहने से स्तुति पाई गई । यदि इसी को 'चतुर्वेदी' 'हे उसे लाओ' परन्तु इसमें कोई प्रशंसा नहीं पाई जाती इसी प्रकार स्तोत्र शस्त्र को भी गुण कथन से देवता में प्रशंसात्मक गुणों के सम्बन्ध का साथी मानना चाहिये । अतः 'आज्यैःस्तवते' अथवा आज्यैर्देवं प्रकाशते यह वाक्य स्पष्ट हो जाते हैं । और दोनों का भेद भी जाना जाता है । देवता मन्त्र गुण भूत और मन्त्र प्रधान होते हैं । जहाँ जिसके पास पढ़ा गया होगा वहीं रह कर वह स्तुति कर्त्ता हो सकता है और इसी से मुख्यार्थ लाभ होने पर 'स्तौति' तथा 'शंसति' धातु की अर्थ में लक्षणा भी न करनी पड़ेगी अंतः यही समीचीन है कि स्तोत्र शस्त्र प्रधान कर्म है न कि गौण कर्म है माना जावे ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं

वशावद्वा गुणार्थे स्यात् ॥१५॥

प० क्र०—'वा' शब्द शब्दार्थ है (वशावत्) जैसे वशा सम्बन्धी 'गुण वाली अजा' के स्मरण के लिये उसका विशेष्य वाचक 'छाग' पद घटता है और 'एपछाग' यह मन्त्र पढ़ा जाता है उसी प्रकार (गुणार्थः) बड़े गुण वाले इन्द्र के स्मरण में अभित्वा शूर नो नुमः यह मन्त्र (स्यात्) माहेन्द्रग्रह याग की समीपता में पढ़ा गया है।

भा०—स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मान कर ऐन्द्र प्रगाथ मंत्र "अभित्वा शूरनोनुमः" का अपकर्ष (जिस प्रकरण में जो पाठ है वहाँ से उठा कर जहाँ देवता हो ले जाना) रूप दोष बतलाना ठीक नहीं क्योंकि मंत्र का महत्व गुण विशेष 'इन्द्र' उसके ही स्मरण में माहेन्द्र ग्रह याग की समीपता में पढ़े गये हैं। सगुण का अभिधान निर्गुण शब्द से होता है जैसे 'वशा'* विशिष्ट गुण से अजा (बकरी) जैसे कहा कि "सावा एषा सर्व देवत्या यदजावशा। वायव्या माल-भते" अर्थात् अपने सौम्य गुणों से सब के आधीन रहने वाली दुधार और ऊन वाली यह 'अजा' सर्व गुण सम्पन्न परमात्मा के उद्देश्य से प्रदत्त महान् पुण्य-जनक होती है। अतः प्रजा-रक्षक 'वायु' पर-

* 'वशा' दूध और ऊन देने वाली बकरी या भेड़ को कहते हैं न कि बहुधा अशुद्ध बोलने वाले "वशा" को "वसा" कहते हैं जो चर्बी (मेदार्थ) में आता है। वशा दूध देने वाली ऊन वाली भेड़ होती है। अब भी "यूराल पहाड़ में अलपका बकरी मिलती है" उसी के वस्त्रों से बना अलपका वस्त्र भी मिलता है।

मात्मा के उद्देश्य से इसका उत्सर्ग करे। इस प्रकार 'वशा' गुण वाली 'अजा' याग का विधान करके उसकी समीपता में उस अजा (बकरी) का स्मरण दिलाने वाला "अजा वाची छाग (भेड़) पद घटने वाला मन्त्र" एष छागः यजुर्वेद २५, २६ का पढ़ा यद्यपि मन्त्र में 'छाग' शब्द केवल अजावाची है परन्तु वशा गुण सम्पन्न अजा का वाचक नहीं तथापि उस गुण सम्पन्न अजा का स्मरण दिलाता है इसी भाँति ऐन्द्र. प्रगाथ मन्त्रों में 'इन्द्र' पद से विशेष महत्व पूर्ण इन्द्र का स्मारक है न कि केवल इन्द्र का। अतः स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मान लेने पर भी उन मन्त्रों में अपकर्ष रूप दोष नहीं आ सकता क्योंकि 'महेन्द्र' के बतलाने वाले मंत्र का एक ही स्थान है।

सं०—उस शंका का निराकरण कहते हैं।

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥ १९ ॥

प० क्र०—(न) वह मन्त्र महेन्द्र के अभिधायक नहीं क्योंकि उनमें (श्रुति) समवायित्वात् इन्द्र पद से सम्बन्ध है।

भा०—माहेन्द्र ग्रह याग की सन्निधि में जो मंत्र पढ़े हैं वह माहेन्द्र शब्द कि जिस देवता अर्थ में तद्धित प्रत्यय करने से ऐसा बनता है कि "महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य अर्थात् महेन्द्र है। देवता जिसका पात्र वह माहेन्द्र कहा जाता है। प्रत्यय का स्वभाव है कि जिस प्रकृति के आगे होगा उसके साथ मिलकर ही

अपने अर्थ का बोधक होता है न कि प्रकृति के एक देश का। माहेन्द्र शब्द से जो 'अण्' प्रत्यय हुआ है उसकी प्रकृति महेन्द्र और प्रकृत्येक देश इन्द्र है अतः वहाँ इन्द्र का सम्बन्ध है और महेन्द्र का नहीं। अतः वह प्रकृत्येक देश इन्द्र के अभिधायक होते हुए भी महेन्द्र का निरूपण नहीं करता क्योंकि प्रकृत्येक देश होने के कारण महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है जब महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है तो जिस याग में इन्द्र देवता है वहाँ ऐन्द्र प्रगाथ का अपकर्ष अवश्य होना चाहिए इसमें स्थान एवं सन्निधि दोष कह चुका है अतः स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानना ठीक नहीं किन्तु प्रधान कर्म ही माना जावेगा।

स०—इन्द्र और महेन्द्र के भिन्न होने में हेतु देते हैं।

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशभेदात्) नाम मात्र भेद से इन्द्र और महेन्द्र भिन्न २ हैं।

भा०—इन्द्र और महेन्द्र की प्रवृत्ति का निमित्त साधारण और महान ऐश्वर्य है निमित्त भेद से नैमित्तक भेद का होना स्वाभाविक है अतः परमात्मा का इन्द्र और महेन्द्र रूप से भेद मानना चाहिए अतएव दर्श पूर्ण मास यज्ञ में "वहु दुग्धीन्द्राय" वहु दग्धि महेन्द्राय हविः" इसका भेद भी की विस्पष्ट कहा जाता है अतः दोनों का भेद है।

सं०—और भी युक्ति देते हैं।

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

प० क्र०—(च) और इन्द्र तथा महेन्द्र को एक ही स्वीकार करने से (गुणः) 'वदे' विशेषण (अनर्थकः) वृथा (स्यात्) हो जाते हैं।

भा०—जिस विशेषण ने अपने विशेष्य को अन्य से न संयुक्त किया वह विशेषण व्यर्थ होता है 'महान' विशेषण और 'इन्द्र' विशेष्य यदि अपने विशेष्य को अन्य से न युक्त करे तो वृथा होता है अतः इन्द्र तथा महेन्द्र एक एक मानना समीचीन नहीं।

सं०—दोनों में भिन्नता होने में और भी युक्ति है।

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥ १६ ॥

प० क्र०—(याज्या पुरोरुचोः) यदि दोनों एक ही माने जावें तो 'याज्या' तथा 'पुरोऽनुवाक्या' ऋचाओं में दोनों का भेद पूर्वक कथन (तथा) अर्थहीन हो जावेगा।

भा०—याग के आरम्भ में इन दो मन्त्रों को अध्वर्यु खड़ा हो कर पढ़ता है कि 'इन्द्रस्यनु वीर्य्याणि प्रवोचं यानि इत्यादि ऋ० १ । २ । ३६ । १ यह याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या मन्त्र कहलाते हैं। इनमें इन्द्र केपर्याय परमात्मा की स्तुति है अतः यह ऐन्द्र याज्या पुरोऽनुवाक्या कहते हैं। 'महा इन्द्राय अत्रेस्त' ऋ० ५ । ८ । ६ । १ आदि दो मन्त्रों का नाम माहेन्द्र याज्या और पुरोऽनुवाक्या' है इन महेन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति है यदि इन्द्र महेन्द्र दोनों एक माने जावेंगे तो याज्या पुरोऽनुवाक्या का विकल्प मानना पड़ेगा

अर्थात् एक ही ऋचा दोनों यागों में पढ़ी जा सकेगी अतः यह विकल्प दोषयुक्त होगा अतः उक्त भेद मानना युक्ति संगत नहीं।

सं०—'वशावत्' इस दृष्टान्त का समाधान करते हैं।

वशायामर्थसमवायात् ॥ २० ॥

प० क्र०—(वशाया) वशा अजा (बकरी या भेड़) में (अर्थ समवात्वात्) छाग रूप अर्थ का योग पाये जाने से दिया हुआ दृष्टान्त असमीचीन है।

भा०—जैसे वशा गुण विशेष वाली अजा का निरूपण करके 'एष छागः, इस मन्त्र में केवल अजा वाचक 'छाग' शब्द से विधान किया गया है उसी प्रकार महात्म विशिष्ट इन्द्र का निरूपण करके "अभित्वा शूर नो नुमः" इस मन्त्र में केवल इन्द्र शब्द से विधान किया है यह पूर्व कथित दृष्टान्त ठीक नहीं। क्योंकि "छाग" शब्द वशा-वाली अजा विशेष का ही अनुगामी है न कि अजा मात्र का। परन्तु इन्द्र शब्द महात्म विशेष 'इन्द्र' का अनुगामी नहीं किन्तु इन्द्र मात्र का है अतः कारणात् वशा विशिष्ट अजा का विधान करके इन्द्र शब्द से निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि. वशापन एक ऐसा धर्म है जो अजा व्यक्ति को छोड़ नहीं सकता और महत्व उससे विरुद्ध है अतः छाग शब्द वशा विशेष अजा का अभिधायक रहे यह सम्भव है परन्तु इन्द्र शब्द महत्व विशेष इन्द्र का नहीं। इसी भाव से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता होने से इन्द्र शब्द महेन्द्र का अभिदायक

नहीं और अपकर्ष से दोष होने से स्तोत्र शास्त्र के गुण कर्म मानने में दोष है अतः वह प्रधान कर्म है।

सं०—अपकर्ष में इष्टापत्ति से सन्देह दिखाते हैं।

यच्चेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

प० क्र०—'वा' शब्द आशंका की सूचनार्थ आया है (यत्र) जिस याग में इन्द्र देवता हो उसमें (इति) पूर्व पठित अभित्वा शूरनो नुमः आदि ऐन्द्र प्रगाथ मंत्रों का अपकर्ष (स्यात्) हो। कारण कि (अर्थवत्वात्) वह अर्थवाद हो जाते हैं।

भा—यदि 'अभित्वा शूरनु नुमः' इस ऐन्द्र प्रगाथ मंत्र में महेन्द्र का अभिधान, महेन्द्र याग की समीपता में पढ़े जाने से नहीं किया जा सकता। और इन्द्र का अभिधान करने से अर्थ देते हैं तो जिस याग का इन्द्र देवता है वहाँ उनका अपकर्ष होने में कोई हानि नहीं।

सं०—इस शंका का उत्तर देते हैं।

न त्वाम्नातेषु ॥२२॥

प० क्र०—(आम्नातेपु) एन्द्र प्रगाथ मंत्रों के सिवाय 'याम्याहि' मंत्रों में (नतु) नहीं तो अर्थ वाला घट नहीं सकता।

भा०—स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म स्वीकार करने से इस अभित्वा शूरनो नुमः आदि मंत्रों को अपकर्ष होने से अर्थ वाला हो संकता है परन्तु "याम्याः शंसति" जिन मंत्रों में यम नामक परमात्मा का स्तुतिवाची मंत्रों से प्रशंसा करें अर्थात् 'शिपि विशिष्ट वतीः शंसति' अर्थात् विशिष्ट शब्द वाली ऋचाओं से परमात्मा

का स्तवन करे और 'अग्नि यास्ते शंस्तृत' अर्थात्
प्रजा-पालन तथा प्रकाश गुण विशेष परमात्मा की
अग्नि मारुत शब्द युक्त मंत्रों से स्तवन करे तो वहाँ
मंत्रों को अपकर्ष होने से अर्थ वाला नहीं हो सकता
और अपकर्ष अवश्य करना पड़ेगा क्योंकि जिस
स्थान तथा जिसकी समीपता में उसका पाठ है वहाँ
से वह अन्य के अनुगामी नहीं हो सकते अतः
अपकर्ष मानना समीचीन नहीं ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

दृश्यते ॥ २३ ॥

प० क्र०—(दृश्यते) याम्यादि मंत्रों को भी अन्यत्र अर्थ वाला
पाते हैं ।

भा०—जिस प्रकार एन्द्र प्रगाथ मन्त्रों का इन्द्र देवता सम्बन्धी
याग में अपकर्ष सप्रयोजन है उसी प्रकार उस उस
देवता के यागों में याम्यादि मंत्रों का अपकर्ष भी
अर्थ वाला है निरर्थक नहीं अतः स्तोत्र शस्त्र को
गुण कर्म मानना ही उचित है ।

सं०—इस आशंका को निवारण करते हैं ।

अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥

प० क्र०—"अपि वा" आशंका दूर करने को पद का प्रयोग है ।
(स्तौति शंसती) स्तोत्र और शास्त्र (प्रकरणे)
प्रकरण में ही (क्रियोत्पत्ति) स्तुति रूप क्रिया का
(विदध्याताम्) विधान करते हैं क्योंकि ऐसा करने से
उनको (श्रुति संयोगात्) मुख्यार्थ का योग होता है ।

भा०—स्त्रोत्र शस्त्र का मुख्य अर्थ 'स्तुति' और देवता के स्वरूप का अभिधान गौण अर्थ है। गौण की अपेक्षा मुख्य उत्तम होता है। यदि मुख्य अर्थ का लाभ हो सके तो गौण अर्थ क्यों ग्रहण करे। गौण अर्थ मानने से प्रकरण विच्छेद है और अन्य मंत्रों का अपकर्ष भी स्वीकार करना पड़ता है। स्तुति रूप मुख्य अर्थ के मानने में दोनों दोष नहीं आते।

सं०—स्तोत्र शस्त्र के प्रधान कर्म होने में हेतु भी है।

शब्दपृथकत्वाच्च ॥ २५ ॥

प० क्र०—(च) तथा (शब्द पृथकत्वात्) स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द का अन्तर पाये जाने से भी वह प्रधान कर्म है

भा०—स्तोत्र तथा शस्त्र का शब्दार्थ भेद पाये जाने से भी एक मुख्य और दूसरा गौण है। और यदि स्तोत्र शस्त्र को प्रधान कर्म मानेंगे स्तोत्र जन्य तथा शस्त्र जन्य दो फल होने से उनकी भेद पूर्वक विधि भी सफल हो जाती है और गुण मानने से देवता स्वरूप का अनुस्मरण रूप एक ही फल दिखलाई देता है। और भेद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि देवता स्मरण लक्षण फल एक से ही हो सकता था दोनों के विधान की आवश्यकता न थी। परन्तु भेद होने से वह किसी विजातीय फल के उद्देश्य से हैं न कि देवता स्मरण लक्षण दृष्ट फल निमित्त। अतः स्तोत्र शस्त्र प्रधान कर्म है न कि गौण।

सं०—स्तोत्र शस्त्र का देवता स्मरण लक्षण एक ही दृष्ट फल हो तो हानि ही क्या है।

अनर्थकं च तद्वचनम् ॥ २६ ॥

प० क्र०—(च) तथा स्तोत्र शस्त्र उभय का एक फल स्वीकार करने से (तद्वचनं) दोनों की विधि निरूपण (अनर्थकं) असफल हो जायगी।

भा०—यदि एक ही विधि-विधान से उभयफल मिल सकें तो दोनों का विधान वृथा हो जायगा।

सं०—प्रधान कर्म मानने में दोष का परिहार दर्शन।

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥ २७ ॥

प० क्र०—(च) तथा प्रधान कर्म मानने से (अन्यः) स्तोत्र जन्य कर्म से अतिरिक्त (अर्थः) शस्त्र से उद्भूत फल (प्रतीयते) उपलब्ध होता है।

भा०—प्रधान कर्म मानने से स्तोत्र उद्भूत एवं शस्त्र उद्भूत पृथक्-पृथक् अदृष्ट फलों की उपलब्ध होती है जिनसे उभय का विधि विधान प्रयोजनीय होता है और गुण कर्म मानने से विरुद्ध फल होता है। अतः गुण कर्म के समान प्रधान कर्म स्वीकार करने में वह दोष नहीं रहता।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र के प्रधानं कर्म होने में हेतु और भी है।

अभिधानं च कर्मवत् ॥ २८ ॥

प० क्र०—(च) तथा एवं (कर्मवत्) प्रधान कार्य सदृश अभिधानं स्तोत्र शस्त्र का विधान है।

भा०—'दर्श पूर्ण मासाभ्यां यजेत्' और अग्नि होत्रं जुहोति दोनों में अग्नि होत्रादि प्रधान कर्मों का ही अभिधान पाया जाता है उसी भाँति स्तोत्र शस्त्र कर्म जैसे

कि—'आज्यैः स्तुवते' 'पृष्ठैः स्तुवते' 'पुडगं शंसति' निष्केवल्यं शंसति में भी कर्म की विधि पाई जाती है इससे प्रतीत होता है कि दर्श पौर्ण मास भी अग्नि होत्रादि कर्म के समान प्रधान कर्म है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

फलनिर्वृत्तिश्च ॥ २९ ॥

प० क्र०—(च) तथा स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों के (फल निर्वृत्तिः) फल-सिद्धि सुनी गई है।

भा०—इन वाक्यों में कि जहाँ यह आता है कि एष वै स्तोत्र शस्त्रयोर्दोहः अर्थात् यह स्तोत्र शस्त्र कर्म का फल है। इस भाँति दोनों के भिन्न-भिन्न फल हैं और दोनों प्रधान कर्म हैं यदि गौण होते तो फल भी न सुनने में आता क्योंकि। प्रधान कर्म के फल से ही गौण कर्मों के फल होते हैं वह स्वतन्त्र फलदायक नहीं होते। अतः प्रधान कर्म का ही फल होता है न कि गौण का। न उस देवता के कि जिसके वह गुण भूत हैं। इन स्तोत्र शस्त्र के फल ही सुने गये हैं कि 'शंसद्धि' और स्तुत्य देवता का अमुक फल है परन्तु स्तोत्र शस्त्र का फल है अतः प्रधान कर्म गौण नहीं होता।

सं०—विधान करने तथा न करने भेद से वेद दो प्रकार का है अब यह निरूपण करते हैं।

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥

प० क्र०—(विधिमन्त्रयोः) विधि (विधान वाले) तथा मन्त्र (अविधान वाले) मन्त्रों का (एकार्थ्यम) विधि

रूप से एक ही अर्थ होता है क्योंकि (एक शब्दयात्) वह दोनों एक ही वेद शब्द के वाच्य हैं।

भा०—विधि और मन्त्र दो प्रकार का वेद है विधि उसे कहते हैं कि जहाँ वेद के वाक्य कर्म विशेष के विधान कर्त्ता अग्नि होत्रादि कर्मों का अभिधान करते हैं। मन्त्र वह है कि जो किसी कर्म विशिष्ट के विधि विधान को नहीं करते किन्तु ईश्वरादि पदार्थों के गुण, कर्म स्वभाव तथा अभ्युदय निःश्रेयस के साधन ईश्वर स्तुति; प्रार्थना, ज्ञान आदि सृष्टि के विभिन्न अनेक पदार्थों के सिद्ध पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं। अतः वेद सर्व कल्याणार्थ सृष्टि के आदि में हुये वह कल्याण कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य-मात्र को उपलब्ध है न कि सिद्ध पदार्थ के ज्ञान द्वारा और वेदों का प्रयोजन भी मनुष्य को कल्याण प्रदान करना है अतः वेद के मंत्र और ब्राह्मण दोनों प्रकार के वाक्य के प्रति पादक हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

प० क्र०—(अपि वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये प्रयोगहै। (मंत्रः) मंत्र * (अभिधान वाची) प्रति पादक

*'मन्त्र गुप्त भाषणे, सूत्र में पाणिन आचार्य ने भी यही भाव बतलाया है कि मन्त्र अविधायक है अर्थात् उनमें गुप्त भाषण से अभिधान है न कि विधान।

(स्यात्) है क्योंकि (प्रयोग सामर्थ्यत्) शब्द प्रयोग शक्ति से उक्तार्थ उपलब्ध होता है।

भा०—विधि और मंत्र एक ही वेद शब्द के वाचक हैं तथापि दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। शब्द सामर्थ्य से विधि का अर्थ विधान कहाता है और मंत्र का अर्थ अभिधान है। जो शब्दार्थ सामर्थ्य से मिलता है उसके विरुद्ध कल्पना करनी समीचीन नहीं। इसके अतिरिक्त प्रेय से लेकर श्रेय अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयष्ट फल तक की आकांक्षा वाले पुरुष को अनेक पदार्थों का ज्ञान चाहिये उन्हीं के यथावत ज्ञान से ऐहिक और पारलौकिक उत्थान उपाय जुटा सकता है। यदि वेद उनका अभिधान न करते तो वह मनुष्य के लिये कल्याण कर न होता*अतः वेदों में वेदवाक्य कर्मों के विधान समान ही सिद्ध पदार्थों के गुण कर्म और स्वाभावादि काभी अभिधान है जो विधि वाले हैं वह विधि और अभिधानवाली मंत्र संज्ञक ऋचायें हैं अतः अर्थ भेद से ही यह सब है।

सं०—अब विधि शब्द से मंत्रों के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण वाक्य का ग्रहण न हो सके उसःविधि वाक्या का भी यत्रंत्व निरूपण करते हैं।

* "यथेमां वाचं कल्याणी या वदानिजनेभ्याः" इस मंत्र में चारों वर्णों तथा पांचवें वर्ण "चरणाय" के लिये भी वेदों के ध्यान पूर्वक स्वाध्याय की आज्ञा है।

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥

प०क्र०—(तच्चोदकेषु) अग्नि होत्रादि के विधान करने वाले तथा सिद्धार्थ के प्रति वादक वेद वाक्यों की (मंत्राख्या) मंत्र संज्ञा माननी चाहिये।

भा०—वेदों के वाक्यों में कर्मों का विधान तथा सिद्धार्थ का अभिधान है। इन दोनो को ही मंत्र कहते हैं। पहले भी विधि और मंत्र दोनों मंत्र के ही प्रकार बतलाते थे। मंत्रातिरिक्त किसी अन्य विधायक वाक्य को विधि नहीं बतलाया है अतः जो ब्राह्मणों को मंत्र बतलाते हैं उनका पक्ष इस से कट जाता है। यदि ऐसा न होता तो सूत्र इस प्रकार का बनता कि "तदभिधायकेषु मंत्राख्या" न कि "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" ऐसा पढ़ते अतः मंत्र ग्रहण में संहिता का ग्रहण है न कि ब्राह्मण ग्रन्थों का।

सं०—अग्नि होत्र के प्रतिपादक तथा सिद्धार्थ अभिधायक वेद वाक्यों की मन्त्र संज्ञा कह कर अब उनके व्याख्यानादि रूप ऐतरेयादि ग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा पर विचार करते हैं।

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥३३॥

प० क्र०—(शेषे) मन्त्रों की व्याख्या रूप ऐतरेयादि ब्राह्मणों के ग्रन्थ भी (ब्राह्मण शब्दः) ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं।

भा०—जो अन्य के उपकारार्थ ही पदार्थ अथवा शेष कहलाता है जैसे स्वामी के लिये सेवक आदि हैं। व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है अतः ऐतरेयादि व्याख्यान होने से वेदों के शेष हैं, अर्थात्

मन्त्रों के शेष ऐतरेयादि ग्रन्थ ही ब्राह्मण संज्ञक हैं और इन्हें शेषी भी इसी कारण कहते हैं कि यह उपकार्य्य हैं। इनके पर्याय शेष, अङ्ग, गौण तीनों शेषी, अङ्गी, तथा प्रधान के पर्याय के समान हैं।*

सं०—वेद की मन्त्रसंज्ञा और उसके ब्राह्मणों की व्याख्या संज्ञा कह कर अब ब्राह्मण ग्रन्थों को अवेदत्व (वेद नहीं) सिद्ध करके। वेदों के विभाग की स्थापना करते हैं।

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः ॥३४॥

प० क्र०—(अनाम्नातेषु) ऋषि प्रोक्त होने से ऐतरेयादि ब्राह्मण को (अमंत्रत्वं) वेदत्व नहीं (हि) अतः उन्हें छोड़ कर (आम्नातेषु) ईश्वर प्रदत्त मन्त्रों का (विभागः) विभाग करते हैं।

भा०—ऊह, प्रवर तथा नामधेय यह तीनों मन्त्र नहीं इसलिये इन्हें छोड़ कर जो मंत्र हैं उनका विभाग किया गया है†

---

* चारों वेदों के व्याख्यान अथवा शेष (न कि अव शेष) रूप ब्राह्मण ग्रन्थ यह हैं। अव शेष कहने से वेद के खण्ड भाग का भ्रम हो सकता है। ऋग्वेद का "ऐतरेय" व्याख्यान अर्थात् ब्राह्मण है। सामवेद का "तांड्य" शेष अर्थात् व्याख्यान है। यजुर्वेद का अङ्ग अर्थात् व्याख्यान "शतपथ" और अथर्ववेद का गौण अर्थात् व्याख्यान "गोपथ" ब्राह्मण कहलाता है।

† सौर्य्य याग में द्रव्य परित्याग कर 'गया अग्नये' के स्थान में 'सूर्य्याय' पद लेते हैं उसे ऊहं कहते हैं। संकल्प के साथ मंत्रोच्चारण में जो गोत्र तथा अपना नामोच्चारण है वह 'प्रवर' तथा नामधेय है। इन तीनों का मन्त्रों से सम्बन्ध है।

सं०—वह विभाग इस प्रकार है।

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥

प० क्र० (यत्र) जहाँ जिन मंत्रों में (अर्थवशेन) छन्द शास्त्रानुकूल (पाद व्यवस्था) पादों का प्रवन्ध है (तेषां) उन मंत्रों की (ऋक्) ऋग्वेद संज्ञा है।

भा०—छन्दः शास्त्र में पिंगलाचार्य वैदिक तथा लौकिक भेद से दो प्रकार के छन्द वतलाते हैं। गायत्री आदि वैदिक तथा आर्या आदि लौकिक छन्द संज्ञक निरूपण किये हैं। एक एक छन्द तीन तथा चार पद तक होता है जो छन्दोवद्ध अर्थात् पाद व्यवस्था युक्त हैं वह ऋग्वेद के मंत्र हैं अर्थात् मंत्रों के याग आदि विभाग उपाय छन्द शास्त्र ने छन्दोवद्ध मंत्रों की ऋग्वेद मंत्र संज्ञा ही है।*

सं०—पाद व्यवस्था के पश्चात् गान व्यवस्थानुकूल वेद के विभाग को कहते हैं।

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥

प० क्र०—(गीतिषु) जो मंत्र गान किये जासकें उन्हें (सामाख्या) साम संज्ञक कहा गया है।

भा०—भगवान् की उपासना के जिन मंत्रों का ज्ञान हमें दिया गया। वह गान करने योग्य होने से सामवेद कहलाये।

सं०—शेष मंत्र क्या कहलाये।

* वेदों के पीछे छन्दः शास्त्र बने यह जानना चाहिये।

शेषे यजुःशब्दः ॥३७॥

प० क्र०—(शेषे) जो पाद बद्ध नहीं न गान किये जा सकें वह सब मंत्र (यजुर्वेद शब्द) यजुर्वेद हैं ।

भा०—अवशिष्ट मंत्र यजुर्वेद कहलाते हैं अर्थात् पादबद्ध ऋग्वेद, गीतबद्ध, स्तम और अवशिष्ट काम्य कर्मबद्ध मंत्र यजुर्वेद हुए, यही वेदत्रयी कहलाती है ।

सं०—चौथा अथर्ववेद का यजुर्वेद में अन्तर्भाव किये जाने से पूर्वपक्ष करते हैं ।

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष बोधक है(निगदः) जो छन्दोबद्ध और गीति युक्त मन्त्रों के सिवाय स्पष्ट अर्थ वाले हैं उनकी यजुर्वेद संज्ञा नहीं किन्तु (चतुर्थं) अथर्ववेद संज्ञा (स्यात्) है क्योंकि (धर्म विशेषात्) यजुः के धर्म से उसका भिन्न धर्म है ।

भा०—स्पष्ट मंत्रों को निगद कहते हैं । इनकी ही 'यजु' संज्ञा है अथवा यजु संज्ञा ही भिन्न है । इसका निरूपण यह है कि यद्यपि छन्दोबद्ध (पाद) तथा गीति युक्त मंत्रों से निगद भिन्न ही हैं तब भी वह यजु नहीं कहे जा सकते क्योंकि यज्ञों में स्वर, पाठ, क्रम भिन्न २ हैं जैसे 'उच्चै' ऋचा क्रियते, उच्चै साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चै निगदेन' जैसे ऋग्वेद तथा सामवेद उच्चोच्चारण यजु का* उपांशु और फिर निगद का उच्च पाठ बोला

*उपध्मानीय अर्थात् जिनका पाठ ओंठों में हो वह 'पांशु' कहे जाते हैं । और यजुर्वेद के 'उपांशु' कहलाते हैं क्योंकि उनके साथ वह बन्धन नहीं है ।

जाता है अतः यजु से निगद भिन्न है। यदि उसके अन्तर्गत माना जावेगा तो यजु का उपांशुत्व और निगद का उच्चैस्त्व धर्म परस्पर विलक्षण होने से अनुमान होता है कि यजु में निगद का अन्तर्भाव नहीं किन्तु अतिरिक्त होने 'अथर्व' संज्ञा है

सं०—और भी हेतु दिया जाता है।

व्यपदेशाच्च ॥३९॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशात्) यह यजु है यह निगद है इस प्रकार व्यवहार भेद से भी निगद यजु नहीं।

भा०—शब्दात्मक व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि ऋग तथा साम मन्त्रों के सिवाय मंत्रों में भी यजु है यह बिना भेद कल्पना किये कैसे जाने जा सकते थे

सं०—अब इस का समाधान करते हैं।

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥ ४० ॥

प० क्र० (वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (यजूंषि) निगदयजुः हैं क्यों कि (तद्रूपत्वात्) उस में यजु का लक्षण मिलता है।

भा०—जिन की पाद व्यवस्था नहीं और जो न गान किये जा सकें छन्द शास्त्र के अनुसार वह यजु संज्ञक मंत्र हैं। और उस का लक्षण ऋग तथा साम मंत्रों को छोड़ कर निगद और अनिगद जितने मंत्र हैं समान हैं और समान होने से वह भिन्न नहीं। अतः निगद यजु से भिन्न नहीं किन्तु यजु के भीतर होने से वह भी यजुः ही है।

सं०—धर्म भेद होने का यह समाधान है।

वचनाद्धर्मविशेषः ॥ ४१ ॥

प० क्र०—(धर्मविशेषः) जो भेद अर्थात् उन का उपांशुत्व और उच्चैस्त्वरूप है वह (वचनात्) पूर्व कथित वाक्य के अनुसार है।

भा०—एक होते हुये भी बीच के भेद से धर्मभेद सम्भव है अतः पूर्व कथित वचन से जो उपांशुत्व तथा उच्चैस्त्वरूप धर्म भेद से यजु मंत्र निगद से अलग नहीं किये जा सकते।

सं०—निगद के उच्चैस्त्व धर्म का प्रयोजन कहते हैं।

अर्थाच्च ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(च) निगद के यजुः होने पर भी जो धर्म विशेष कहा गया है वह (अर्थात्) प्रयोजन के कारण है।

भा०—दूसरे के बोध के लिये निगद का ऊंचे स्वर में पाठ होता है यदि उस का उपांशु पाठ किया जावे तो अन्य को बोध नहीं हो सकता कि अध्वर्यु ने क्या कहा अतः निगद का ऊंचा पाठ किया जाता है अतः वह यजुः से भिन्न नहीं।

सं०—इसे यजुः और इसे निगद कहते हैं इस व्यवहार भेद का यह समाधान किया जाता है।

गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(व्यपदेशः) यह यजुः है और यह है निगद जो यह व्यवहार है वह (गुणार्थः) गौण है।

भा०—बीच के भेद को लेकर यह व्यवहार होता है इसलिये वह निगद और यजुः के पारस्परिक भेद का समर्थक नहीं।

सर्वेषामिति चेत् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(सर्वेषाम्) ऋग् के बीच के मन्त्र भेद को निगद बतलाया है (चेत्) (इति) ऐसा कथन किया जावे तो समीचीन नहीं।

भा०—निगद मन्त्रों का यजुः में अन्तर्भाव नहीं किन्तु वह अन्तर्भाव ऋग्वेद में है क्योंकि ऋग्वेद मंत्र और निगद उच्च-स्वर से पढ़े जाते हैं। इनका समान धर्म है।

सं०—अब आशंका की जाती है कि—

न ऋग्व्यपदेशात् ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(न ऋग) उच्चैस्त्व धर्म के समान होते हुए भी ऋग मंत्रों में निगद का अन्तर्भाव नहीं, क्योंकि उनमें (व्यपदेशात्) ऋग के भिन्न का उपदेश मिलता है।

भा०—जैसे कहा गया कि 'अयाज्या वै निगदः ऋचैव यजन्ति। अर्थात् निगद याग के योग्य नहीं किन्तु ऋचा से यज्ञ करे। अतः ऋग् और निगद भिन्न हैं और इसी लिये उच्च स्वर पाठ की समानता होते हुए भी ऋग्वेद में निगद का अन्तर्भाव नहीं हो सकता

प्रत्युत लक्षण के समान होने से निगद यजुः के ही अन्तर्गत है।*

सं०—अब एक वाक्य का लक्षण करते हैं।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात् ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(अर्थैकत्वात्) जिन क्रिया और कारक पदों के मेल से एक अर्थ मिलता है (चेत्) यदि (विभागे) उनमें से किसी भी एक पद को अलग करदें तो (सकांक्षं) अन्य अपेक्षा वाले होते हैं (एकं वाक्यं ऐसे पद समूह एक वाक्य कहे जाते हैं।

भा०—जब एक पद दूसरे पद के बिना वाक्यार्थ बोध न करा सके उसे 'आकांक्षा' कहते हैं जैसे विष्णु दत्तः पद्भ्यां ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में विष्णु दत्त को 'गच्छति' क्रिया के बिना और गच्छति को विष्णुदत्त के बिना

* मंत्र संहिता को वेद कहा है वह ऋग, यजु और सामवेद से तीन प्रकार के मंत्रों में विभक्त है और कोई चौथा प्रकार नहीं मिलता। इतना होते हुये भी मंत्र दोही प्रकार के, अर्थात् गद्य, पद्यात्मक हैं। ऋग्वेद में 'पद्य' मंत्र और यजुर्वेद में 'गद्य' मंत्र हैं। यही मंत्र जो गान किये जा सकें सामवेद है, और जो स्पष्ट अर्थ के द्योतक हैं उसे अथर्ववेद कहा गया है। वर्तमान काल में जो मंत्र संहिता मिलती हैं उनमें मंत्र सब परस्पर मिले हुये हैं इसलिए ऋग मंत्र यजुः में और यजुः मंत्र ऋग में पाये जाते हैं अतः वैदिक लोग प्रथम ऋग् यजु भेद से दो प्रकार का और पुनः हरएक के दो दो प्रकार का मानकर चार प्रकार का वेद मानते हैं। इसी कारण साम-ऋग्-का और अथर्व यजुः का अवान्तर भेद हो गया है।

उसका पांव से गांव जाना असम्भव है और इसे ही वाक्यार्थ बोधकी असम्भवता मानते हैं अब साकांक्ष है अर्थात् क्रिया, कर्त्ता, कर्म और करणादि कारक पद समूह क्रिया कर्त्ता अथवा कर्मादि किसी एक पद से अतिरिक्त हो जाने पर वाक्यार्थ बोधक नहीं रहते प्रत्युत बोध के लिये विभक्त पद की अकांक्षा होने से साकांक्ष (इच्छा वाले रहते हैं) और उसकी उपलब्धि पर निराकांक्ष वाक्यार्थ बोध होता है। वह क्रिया कारक पद समूह "एक वाक्य" कहलाता है*।

सं०—अब अनेक वाक्य का लक्षण करते हैं।

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥ ४७ ॥

.० क्र०—(समेषु) जो निराकांक्ष पद समुदाय हैं उनमें (वाक्य भेदः) प्रति समूह वाक्य भेद (स्यात्) है।

भा०—अनेक वाक्य लक्षण इसलिये करना पड़ा कि यजुर्वेद अ० ४ । ४ के मंत्र 'चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु' आदि मन्त्र में पद समूह वाक्य सम्पूर्ण एक है किन्तु नाना वाक्य हैं इसलिये यह समाधान है कि जो पद समूह दूसरे पद समूह की इच्छा नहीं रखता ऐसे वाक्य भिन्न मानने चाहिये न कि एक। 'चित्पतिर्मा' आदि मन्त्रों में अपना अर्थ ज्ञान कराने में परस्पर निराकांक्षत्व होने से समानता है। अतः

*इषेत्वोर्जेत्वा वायस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु आदि मन्त्र में निराकांक्ष समुदाय का एकार्थ है यदि इसमें से एक भी पद निकाल लिया जावे तो वह साकांक्ष हो जावेगा।

प्रथम समूह एक वाक्य और दूसरे समूह का दूसरा वाक्य समुदाय इसी क्रम से उत्तरोत्तर है और इसी क्रम से यजु मन्त्रों में सर्वत्र एक वाक्य तथा नाना वाक्य कल्पना कर लेना उचित है।

सं०—अध्याहार करलेने के लिए भी कहते हैं।

अनुषंगो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥

प० क्र०—(वाक्य समाप्तिः) वाक्य अन्त का प्रयोजक, (अनुषङ्गः) पदान्तर का योग (सर्वेषु) जिन वाक्यों में आपेक्षित हो अध्याहार कर लेना चाहिये क्योंकि (तुल्य योगित्वात्) उसका सबसे सम्बन्ध है।

भा०—पहिले बतलाया जा चुका है "चित्पतिर्मापुनातु" मंत्र में "अछिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" इस अन्त वाक्य का शेष है इसका 'चित्पतिर्मा पुनातु' में अनुषंग है अथवा नहीं इस सन्देह को दूर करने के लिये कहते हैं, कि 'देवो मांसविता पुनातु' वाक्य में जिस प्रकार पुनातु क्रिया को करण आपेक्षित है उसी प्रकार पूर्व के उभय वाक्यों में आया हुआ 'पुनातु' क्रिया पद भी 'करण' की इच्छा रखता है अतः यह सिद्ध हुआ कि अन्तिम वाक्य के समान पूर्व के दोनों वाक्यों में भी उक्त वाक्य शेष का अनुषङ्ग कर लेना ठीक है अध्याहार न करे*।

सं०—अनुषंग के अपवाद का निरूपण करते हैं।

* एक वाक्य में श्रुत पद के वाक्यान्तर सम्बन्ध को अनुषङ्ग कहते हैं।

व्यवायान्नानुषज्येत ॥ ४९ ॥

प० क्र०—(व्यवायात्) मध्य में व्यवधान अन्तर से (न अनुषज्येत) अनुषङ्ग नहीं होता।

भा०—इस मंत्र में कि "सन्ते वायुर्वातेन गच्छतां समङ्गानि यजजैः सं "यज्ञपति राशिषा" इसमें 'गच्छतां' क्रिया का अनुषंङ्ग 'से यज्ञपति राशिषा में है या नहीं' इस की संगति के लिये कहा जाता है कि अनुषङ्ग न बतलाये गये वाक्यों में ही होता है बतलाये हुओं में नहीं। 'सन्ते' तथा 'संयज्ञ' के बीच में समङ्गानि वाक्य का अन्तर है इस लिये उक्त क्रिया का अन्तिम वाक्य में अनुषङ्ग नहीं हो सकता अब यह कि 'समङ्गानि में गच्छतां का अनुषङ्ग क्यों नहीं तो 'गच्छंता' इस प्रकार के वचन का परिणाम करने से श्रुत पद के योग का नाम अनुषङ्ग माने जाने से परिणित का सम्बन्ध नहीं अतः समङ्गानि वाक्य में सम्बन्ध न होने से अन्तिम वाक्य में भी अनुषङ्ग नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि एक वचन तथा बहुवचन लौकिक क्रिया का अध्याहार करके वाक्यार्थ करना ठीक है न कि अनुषङ्ग से करना समीचीन होगा।

इति श्री० पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा भाषा भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः।

ॐ

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

सं०—आख्यात पद का वाच्य, एवं गौण तथा प्रधान दो भाँति से धर्म का स्पष्टीकरण पिछले पाद में किया अवयाग होम, दान इत्यादि रूप से वह कथित कर्म रूप धर्म के अनेक भेद निपरूण करने के निमित्त आख्यात भेद से भेद का स्पष्टीकरण करते हैं।

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥

प० क्र०—(शब्दान्तरे) आख्यात भेद होने से (कर्म भेदः) कर्म का भेद है इसलिये कि (कृतानुबन्धत्वात्) आख्यात भेद से कर्म भेद का सम्बन्ध नियत है।

भा०—यजेत् से जुहोति ददाति आदि तथा जुहोति से यजेत् ददाति इत्यादि एवं ददाति से यजेति जुहोति आदि शब्दान्तर हैं। तथा शब्दान्तर का कर्म भेद के साथ नियत सम्बन्ध है यथा 'कटं करोति' पुरोडाशं पचति ग्रामं गच्छति इत्यादि में 'करोति' का कर्त्ता पचति का पाक, तथा गच्छेति का जाने के साथ योग है अब यदि इन आख्यात पदों का एक ही कर्म अर्थ

करे तो शब्दान्तर प्रयोग सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है अतः उन्हें एक ही कर्म वाचक कहना ठीक नहीं किन्तु यथा क्रम याग, होम,*दान धन इत्यादि लक्षण भिन्न भिन्न कर्म वाचक हैं†।

सं०—अभ्यास से किये कर्म को स्पष्ट करते हैं।

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

प० क्र०—(एकस्य) एक आख्यात पद का (पुनः श्रुतः) फिर सुनना (एवं) भी अख्यात भेद समान कर्म का भेदक है (हि) निश्चय पूर्वक (अवि शेशात्) कर्म भेद न मानने से (अनर्थकम्) वह व्यर्थ (स्यात्) होता है।

भा०—'समिधो यजति' तनून पातं यजति, इडोयजति, वर्हिय जति, स्वाहाकारं यजति' इन वाक्यों में पाँच वार 'यजति' शब्द सुने जाने से यह शब्द एक ही कर्म का प्रतिपादक है अथवा प्रति श्राव (सुनने से) विभिन्न कर्मों का विधान करने वाला है। यद्यपि इन में पिछले अधिकरणों के समान आख्यात भेद नहीं केवल एक ही 'यजति' शब्द का फिर श्रुतिलक्षण के श्रवण प्रयोग वश किया गया है तब भी यहाँ एक ही

*परमात्म उद्देश्य से द्रव्योत्सर्ग-कृत का नाम याग। त्याग पूर्वक अग्नि में द्रव्य डालने को 'होम' और अपने अधिकार से दूसरे को उत्सर्ग का अधिकारी बनाना 'दान' कहलाता है।

†यथा—सोमेन यजेत, अग्नि होत्रं जुहोति 'हिरण्यमात्रे' याम ददाति।

कर्म नहीं बतलाया क्योंकि ऐसा मानने से 'यजति' शब्द का बार २ सुनना वृथा था और जो श्रवण अथवा अभ्यास की सिद्धि के लिये इस 'संमितयरण' में जहाँ पाँच बार 'यजति' कहा है वह आख्यात क्रिया भेद न होने से भी लक्षण की यथा अनुपपत्ति से 'समिधो यजति' आदि वाक्य भिन्न २ कर्म के विधायक हैं न कि एक ही कर्म के।

सं०—विद्वद्वाक्य को 'आग्नेय' आदि याग का अनुवादक निरूपण करते हैं।

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ ३ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द कर्मान्तर विधान शङ्का का परिहारक है (पौर्णमास्यां) इसमें पोर्णमांसी शब्द सहित 'य एवं विद्वान्' शब्द युक्त विद्वद्वाक्य प्राप्त प्रकरण में 'आग्नेय' ! आदि याग का अनुवादक है न कि विधायक, क्योंकि (रूपवचनात्) उससे याग के रूप का भान नहीं होता।

भा०—(१) जो प्रकाशमय परमात्मा देव के उद्देश्य से अमावस्या तथा पोर्णमांसी में प्रदत्त "अष्टकपाल" है वह अच्युत होता है (२) प्रकाश तथा सौम्य स्वभाव परमात्मदेव के उद्देश्य से पौर्णमांसी में घृत से 'उपांशु' करे (३) दधि तथा घृत से, अमावस्या में सर्वैश्वर्य युक्त परमात्मा के अर्थ याग करे इत्यादि में आग्नेय, ऐन्द्र, यह तीन तो दर्श नाम वाली और आग्नेय, उपांशु याज, अग्निषोमीय यह तीन पूर्णमास संज्ञक अर्थात् दर्श और पूर्णमास संज्ञा वाली

'आग्नेय' आदि षट्-याग को विधान करके य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते एवं विद्वान् अमावस्यां "यजेते" वह ऐहिक और पार लौकिक सुख को प्राप्त होता है। यहां विद्वद्वाक्य पढ़ा है वह पौर्णमासी संज्ञा वाले 'आग्नेय' षट्-याग का अनुवादक है अथवा पौर्णमास और अमावस्या संज्ञक कर्मान्तर का प्रतिपादक है अतः यह जानना चाहिये कि 'द्रव्य तथा देवता' याग दोनों यागस्वरूप हैं। वह प्रतीति द्रव्य तथा देवता के तृतीयान्त तथा चतुर्थ्यन्त पद अथवा तद्धित प्रत्यय से होती है क्योंकि विद्वद्वाक्य में पौर्णमासी और अमावस्या पद द्वितीयान्त है उस में द्रव्य और देवता की प्रतीत नहीं अतः वह किसी अपूर्व कर्म के प्रतिवादक नहीं। अतः पौर्णमासी तथा अमावस्या में वह विद्वद्वाक्य किसी कर्मान्तर का बतलाने वाला नहीं वरन् 'अमावस्या' पद से 'दर्श' नाम वाले 'आग्नेय' आदि तीन और पौर्णमासी पद से 'पूर्णमास' संज्ञा वाले 'आग्नेय' आदि दूसरे 'तीन' का अनुवादक हैं अर्थात् द्रव्य देवता रूप याग के स्वरूप भाव न होने से वह विद्वद्वाक्य पौर्णमासी तथा अमावस्या में कर्मान्तर संख्या प्रतिपादक होने से दर्श पूर्णमास नाम वाले आग्नेय आदि प्रकृत-षट्-याग का अनुवादक है।

सं०—यदि विद्वद्वाक्य अनुवादक है तो प्रयाज का भी अनुवादक क्यों नहीं क्योंकि 'आग्नेय' आदि के सदृश वह भी तो प्रकृत याग है।

विशेष दर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

प० क्र० (समेषु) समान भाव से प्रकृत होते हुये भी—(सर्वेषां) 'आग्नेय' तथा 'प्रयाज' सब के अनुवाद को (अप्रवृत्तिःस्यात्) विद्वद्वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती (हि) निश्चय पूर्वक (विशेष दर्शनात्) आग्नेय आदि में काल-सम्बन्ध रूप अधिक पाया जाता है (च) और प्रयाजादि में नहीं मिलता।

भा०—विद्वद्वाक्य में आया पौर्णमासी तथा अमावस्या पद, पौर्णमासी तथा अमावस्या काल में होने वाले कर्म विशेष वाची है न कि काल मात्र अथवा कर्म मात्र का। एवं आग्नेय आदि तथा प्रयाज आदि के के बीच में आग्नेय आदि षट् याग ही पौर्णमासी और अमावस्या काल सहित बतलाये गये हैं अतः समान भाव से साधारण होने पर भी उस विद्वद्वाक्य में 'आग्नेय' आदि षट् याग का ही अनुवादक है न कि प्रयाजादि का। *

सं०—इस में पूर्व पक्ष उठाते हैं।

* समिधो यजति, तनूनपातं यजति आदि वाक्य में बतलाये गये घृताहुति रूप पांच याग की 'प्रयाज' संज्ञा है। उपर्युक्त पाचों प्रयाज, घृताहुत रूप तीन अनुयाज, चार अथवा आठ पत्नी संयाज, यह सब आग्नेय आदि षट् प्रधान याग का अंग याग है। प्रयाज पूर्वाङ्ग और अनुजयादिक उत्तराङ्ग कहे जाते हैं।

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष को लक्षित करता है (गुणः उस विद्धद्वाक्य में बतलाये कर्म में द्रव्य देवता रूप गुण (श्रुति संयोगात्) श्रुति संयोग से प्राप्ति है।

भा०—यादाग्नेयोऽष्ट कपालः 'आदि वाक्य दर्श पौर्णमास नामक' आग्नेय, आदि यज्ञ का विधान नहीं करते किन्तु वाक्य में बतलाये कर्म में द्रव्य देवता रूप गुण का विधान करते हैं। भाव यह है कि 'यदाग्नेय' आदि वाक्य गुण विधि हैं न कि 'कर्म विधि' अतः रूपा वचन हेतु मात्र से विद्धाक्य को अपूर्व कर्म का विधान करने वाला न मान कर अनुवादक मानना ही उचित है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत् ॥ ६ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है (चोदना) कर्म विधि वाक्य जैसे "यदाग्नेयोऽष्ट कपालः" गुण विधि नहीं क्योंकि (गुणानां) द्रव्य देवता गुणों का (युगपत् शासनात्) एक काल में ही उनका शासन होने से उनको (चोदिते) वाक्यान्तर विधान कृत कर्म में गुण का विधान कर्त्ता माना जावे तो (तस्य-उपदिश्यते) प्रथक प्रथक उपदेश होने से (हि)

निश्चय पूर्वक है क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह बतलाये हुए कर्म के निमित्त है।

भा०—यदि विद्वद्वाक्य को अपूर्व कर्म का विधान करने वाला मान कर उसमें आपेक्षित द्रव्य देवता रूप गुणों के निमित्त 'यदाग्नेयोऽष्टा कपालः' आदि को गुण का विधान करने वाला मान लें तो जिस प्रकार 'आघा-रमाघारयति' वाक्य में बतलाये 'आधार' नाम वाले कर्म को आवश्यक 'ऋतुत्व' और 'सन्तत' रूप गुणों का ऋजु माघारयति सन्तत माघारयति के द्वारा पृथक पृथक् बतलाया गया है उसी प्रकार 'यदाग्नेय' आदि से भी उक्तगुणों का पृथक् विधान होता परन्तु उन वाक्यों में द्रव्य देवता रूप गुणों का एक विधान मिलने से यह अनुमान होता है कि उस वाक्य में द्रव्य देवता रूप गुण विशेष अपूर्व कर्म के विधान करने वाले हैं न कि गुण विधायक है।

सं०—वाक्यों के गुण विधि होने में और भी हेतु हैं।

व्यपदेशश्चतद्वत् ॥ ७ ॥

प० क्र०—'च' और 'तद्वत्' उसी प्रकार द्रव्य देवता रूप गुणों का एक साथ शासन गुण विधि का समर्थक नहीं उसी प्रकार (व्यप देशः) समुच्चय व्यपदेश भी असमर्थक है।

भा०—अमावस्या में यह आहुतियाँ जैसे त्रयाणि हवा एतानि हर्तींपि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते आग्नेयं प्रथमम् ऐन्द्रे उत्तरे प्रधान' हवि हैं इनमें पूर्व अग्नि परमात्मा और शेष दोनों इन्द्र परमात्मा के निमित्त दी जाती है

यहाँ अमावस्या में जो तीन समुदाय रूप हवि का उपदेश है वह "यदाग्नेय" आदि वाक्यों के गुण विधि में नहीं आता क्योंकि उस से 'अमावास्या' याग में अग्नि और इन्द्र नाम वाले अनेक देवताओं का विधान मिलता है परन्तु विद्वद्वाक्य में कहे गये 'अमावस्या' याग एक है और एक याग में अनेक देवताओं का एक साथ होना असम्भव है। अतः विद्वद्वाक्य अनुवादक ही माना गया है।

सं०—इस अर्थ में और हेतु देते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥ ८ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिंगदर्शनात्) इस प्रकार संकेत पाये जाने से कि "चतुर्दश पौर्णमास्याम्" कि 'यदाग्नेयः' आदि वाक्य गुण विधि नहीं किन्तु कर्म विधि ही है।

भा०—चौदह पौर्णमास कर्म में, और तेरह आहुति अमावस्या में दी जाती हैं। इस वाक्य में तेरह और चौदह आहुतियों का कथन है। 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों में कर्म विधि उसका लिंग है। क्योंकि विद्वद् वाक्य को विधि कर्त्ता मानेंगे तो उस पूर्वोक्त संख्या की अपूर्णता रहती है अर्थात् पाँच 'प्रयाज' तीन 'अनुयाज' दो चक्षुः' 'जिसमें' आज्य भाग और 'स्विष्टकृत' नामक हविर्दान, यह १० अथवा ११ हवि अंग है इन तीन प्रधान हवियों के मिलाने से वह संख्या पूर्व हो जाती है उस तीन हवि का विधान 'यदाग्नेयः' वाक्यों से ही मिलता है न कि विद्वद् वाक्य से अतः वह वाक्य गुण विधायक नहीं किन्तु कर्म

विधान कर्त्ता का डर हैं इसी संख्या से उसमें वतलाये पौर्णमास तथा अमावस्या नामक तीन २ प्रधान आहुति रूप कर्म का विद्वद्वाक्य अनुवादक है।

सं०—अब पूर्व पक्ष करते हैं कि:—

पौर्णमासीवदुपांशुयाजःस्यात् ॥ ६ ॥

स० क्र०—(पौर्णमासीवत्) जैसे 'पौर्णमासी पद जिस प्रकार विद्वद्वाक्य का अनुवादक है उसी प्रकार (उपांशु-याजः) उपांसुयाजः पद भी उपांशुयाज मन्तरा यजति वाक्य का होने से अनुवादक हैं।

भा०—"उपांशु याज मन्तरा यजति" इस वाक्य से द्रव्य देवता रूप याग नहीं सिद्धि होता और विधि प्रत्यान्त न होने से 'यजति' पद से याग का विधान भी नहीं मिलता अतएव वह वाक्य 'अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता नहीं किन्तु विद्वद्वाक्य के समान 'विष्ठावादि' वाक्य में वतलाये यागत्रय का अनुवादक है। सार यह है कि विष्णवादि में वतलाये यागत्रय अपूर्व कर्म के विधान करने वाले हैं और उपांशु याज मन्तरा उसका अनुवादक है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥ १० ॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के खण्डन के लिये आया है। (चोदना) यह कर्म विधि है अनुवादक नहीं क्योंकि 'उपांशु याज मन्तरा यजति' में ऐसा ही मिलता है (अप्रकृतत्वात्) प्रकृत याग का अभाव होने से।

भा०—'उपांशु याज मन्तरा' में उपांशु याज नामक अपूर्व कर्म का विधान कर्त्ता है और विष्णु रूपांशु यष्टव्य, आदि वाक्य उसे स्तुति करने वाले अर्थवाद हैं।

सं—इसे 'उपांशु याज' क्यों कहते हैं।

गुणोपबन्धात् ॥ ११ ॥

प० क्र० (गुणोपबन्धात्) उपांशुत्व गुण सम्बधने उस कर्म की संज्ञा 'उपांशु है।

भा०—इस समस्त कर्म में 'उपांशु मन्त्रोच्चारण है। अतः इसको 'उपांशु याज कहते हैं*।

सं०—कर्म के प्रधान होने में हेतु देते हैं।

प्राये वचनाच्च ॥ १२ ॥

प० क्र०—(च) तथा वह (प्राये) प्रधान कर्मों के भीतर (वचनात्) पाठ पाये जाने से प्रधान है।

भा०—†पौर्णमासी कर्म का 'आग्नेययाग' मस्तक है उपांशुयाज हृदय तथा अग्नीषोमीय चरण हैं ऐसा पाठ मिलता है यदि वह प्रधान न होता तो प्रधान यागों में में उसका पाठ न पाया जाता परन्तु उस पाठ से यह अनुवादक होता है कि वह भी प्रधान याग ही है क्योंकि प्रधान याग में प्रधान का ही पाठ हो सकता है न कि किसी और का। अतएव 'उपांशु याज

*ओठों के भीतर ही कहलेने को उपांशु कहते हैं।

† तस्य वा एतस्याग्नेय एवशिरः हृदय मुपांशुयाजः—पादावग्नीषोमीयः।

मन्तरा यजति' वाक्य, उपांशु याजु, नामक प्रधान भूत याग का विधान कर्त्ता है न कि अनुवादक।

सं०—'आघार वाक्य और 'अग्नि होत्र' वाक्य को अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता होने का निरूपण करते हैं।

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात्॥ १३॥

प० क्र० (आघाराग्नि होत्रम्) आघार और अग्नि होत्र वाक्य अनुवादक है इसलिये कि (अरूपत्वात्) उन से याग स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

भा०—'आघार संज्ञक कर्म करे, ऊँची तथा सीधी धारा से आदि वाक्य में अग्निहोत्र वाक्य दधि आदि बतलाये हुये कर्म का आघार वाक्य ऊंचे आदि विधान किये वाक्य का अनुवादक है अथवा अग्निहोत्र वाक्य तथा अघार वाक्य का अपूर्व कर्म एवं दधि आदि और ऊंचे वाक्य उस के अपेक्षित गुणों का विधान कर्त्ता है अतः यह अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य से याग के स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती अतः दोनों वाक्य अपूर्व के विधान कर्त्ता नहीं किन्तु अनुवादक ही है।*

सं०—इस में हेतु भी है।

संज्ञोपबन्धात्॥ १४॥

प० क्र०—(संज्ञापे बन्धनात्) वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है अतः वह बिधायक नहीं कहे जा सकते।

* अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति आघार माघारयेति, ऊर्ध्वं माघार यति ऋजुमाघार येति, यह अधिकरण का विषय है।

भा०—"अग्निहोत्रं जुहोति" "आघार माघार येति" में जो द्वितियान्त शब्द से अग्निहोत्र और आघार की ओर संकेत किया है अतः वह कर्म प्रतीत होते हैं परन्तु नाम निर्देश पूर्वक ही सिद्ध कहा जाता है न कि असिद्ध का। इस नियम से प्रतीत होता है कि 'अग्निहोत्र तथा 'आघार, नामक कर्म सिद्ध है और अग्निहोत्र वाक्य एवं आघार वाक्य उसके अनुवादक हैं न कि विधायक।

सं०—उस अर्थ में हेतु देते हैं

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

प० क्र०—(च) तथा (अप्रकृतत्वात्) प्रकरण में आये वाक्य से भी द्रव्य देवता की उपलब्धि नहीं होती

भा०—अग्नि होत्र वाक्य और आघार वाक्य द्रव्य देवता के द्योतक नहीं उसी प्रकार वाक्यान्तर से भी कुछ प्रतीत नहीं होता और अपूर्व कर्म का स्वरूप द्रव्य तथा देवता माना गया है वह यदि प्रतीत न हो तो ऐसे वाक्यों को अपूर्व कर्मों का विधायक नहीं कह सकते अतः वह विधायक के स्थान में अनुवादक ही माने जावेगे।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है। (चोदना) अग्नि होत्र तथा आघार वाक्यों के कर्म

विधान कर्त्ता होने से अनुवादक नहीं क्योंकि (शब्दार्थस्य) उनका अग्नि होत्र तथा आघार रूप जो (तत्सन्निधेः) उनके समीप (श्रुतिः) दधि आदि वाक्य हैं (वह गुणार्थेन) गुण विधि है।

भा०—यद्यपि अग्नि होत्रं जुहोति आघारमाघारयति वाक्यों से द्रव्य तथा देवता रूप का द्योतन नहीं पाया जाता तब भी उनमें अग्नि होत्र तथा आघार कर्म की कर्त्तव्यता प्रतीत होती है कि पुरुष को अग्नि होत्र तथा आघार कर्म करना चाहिये और जो उसमें दधि आदि वाक्य पढ़े हैं वह उस वाक्य में बतलाये कर्म को आवश्यक द्रव्य रूप गुण मात्र के विधान करने वाले हैं न कि गुण विशेष अपूर्व कर्म के। क्योंकि दही आदि गुण वाची हैं उनका लक्षण वृत्ति से ही अर्थ हो सकता था और विशेष अर्थ न होने से 'जुहोति' पद से सम्बन्ध न होना सम्भव न था। भाव यह है कि दधि पद का अर्थ दधि और द्रव्य और जुहोति पद का अर्थ होम है। द्रव्य और क्रिया समानाधिकरण सम्बन्ध में नहीं आ सकती। अतः उस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये द्रव्य पद की द्रव्य वाले में लक्षणा की जाती है। यह लक्षणा उसी समय होनी चाहिये कि जब कोई अन्य पद न मिलता हो। अग्नि होत्र कर्म में वाक्य की अपूर्वता कर्म एवं दधि आदि वाक्य को दधि रूप गुण का विधान कर्त्ता मानने से उभय वाक्य चरितार्थ होते हैं तब फिर मत्वर्थ लक्षण के मानने की आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार आघार कर्म में

भी परमात्म उद्देश्य से किया कर्म बड़े फल का देने वाला होने से आघार कर्म कर्त्तव्य है अतः वह वाक्य अनुवादक नहीं किन्तु अग्नि होत्र तथा आघार संज्ञक अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता हैं यही मानना ठीक है।*

सं०—अब वाक्यों को अपूर्व कर्म का विधान कर्त्ता कहते हैं।

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥

प० क्र०—(पशु शोमयोः) दोवाक्य सोमने यजेत, तथा अग्नी षोमीयं (चोदना) अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता हैं उनमें (द्रव्यसंयोगात) द्रव्य का योग पाया जाता है (हि) यदि (प्रकरणे) प्रकरण में पढ़ा इत्यादि "और ऐन्द्र वाय वादि" वाक्यों का विधान कर्त्ता माने तब (द्रव्य संयोगः) सुने हुये द्रव्य का योग (अनर्थकः) व्यर्थ हो जाता है। अतः (तस्य) उसका श्रवण (गुणार्थेन) गुणरूप से भी (नहि) नहीं हो सकता है।

भा० —† "अग्नी षोमियं पशुमालभेत्" और "हृदय स्याग्रेऽवद्य त्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः" अर्थात प्रकाश एवं

* इन्द्र उर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्र वान स्वाहा त्या घार माघार येति यह मंत्रोद्देश्य है।

† यज्ञ में पशु बलि समर्थक आलभते क्रिया का अर्थ हनन अर्थात् मारना कहते हैं। यह अर्थ दूषित होने से त्याज्य है आलभेत का अर्थ स्पर्श, लाभ करना आदि उत्तम अर्थ हैं पशु बलि समर्थक महीधर ने भी यजुर्वेद भाष्य में कात्यायन-सूत्र का प्रमाण देकर 'यजमान मालभते यज मान का स्पर्श है।' 'आलभते' पद से क्रिया है न कि यजमान को मार डालना।

सौम्य स्वभाव परमात्मा के निमित्त पशु का उत्सर्ग त्याग करे अथवा पशु हृदय जीभ और छातीसम्बन्धी आगे के भाग में किसी रंग विशेष से चित्राङ्कित करे। इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' सोम याग करे और ऐन्द्र वायवं ग्रहणाति आश्विनं ग्रहणाति' ऐन्द्र वायव (इन्द्र वायु) तथा आश्विनाम वाले पात्र का ग्रहण करे। इनमें अवद्यति और ग्रहणाति वाक्य अपूर्व कर्म के विधान करने वाले हैं तथा आल भति, यजति, वाक्य उसके आनुवादक अथवा अपूर्व कर्म के विधान कर्ता एवं अवद्यति गृहणाति वाक्य में आपेक्षित पशु और सोम रूप द्रव्य के संस्कार को बतलाते हैं या क्या ? इसमें परमात्मा के निमित्त द्रव्य विशेष का उत्सर्ग को याग कहते हैं और अवद्यति तथा गृहणाति वाक्यों से परमात्मा के निमित्त द्रव्य विशेष का उत्सर्ग नहीं मिलता किन्तु अवद्यति का अर्थ चित्री करण और ग्रहणाति का अर्थ ग्रहण है नकि त्याग। और यदि हृद-यादि द्रव्य मात्र के सुनने से ही वह वाक्य द्रव्य विशेष अपूर्व कर्म के विधायक मानकर आलभति और यजति वाक्य को उसका अनुवादक माने तो पशु तथा सोम रूप द्रव्य का सुना जाना व्यर्थ सा होता है और केवल कर्म-विधायक मानकर आलभति और यजति वाक्य को पशु एवं सोम रूप गुण का ही विधान कर्त्ता कहे तो हृदयादि द्रव्य का उपदेश सार्थक नहीं रहता। अतएव साक्षात् द्रव्य का सम्बन्ध मिलने से आलभति और यजति वाक्य अपूर्व कर्म के बतलाने वाले हैं अवद्यति आदि नहीं हैं।

सं०—अब घांति आदि को संस्कार कर्म का विधान कर्त्ता होने का निरूपण करते हैं।

अचोदकाश्चसंस्काराः ॥ १८ ॥

प० क्र०—(च) तथा (अचोद काः) अपूर्व कर्म के विधान कर्त्ता नहीं किन्तु (संस्काराः) पशु तथा सोम रूप द्रव्य का संस्कार बतलाते हैं।

भा०—*जिस से वस्तु अर्थ सिद्ध योग्य बन सके उसे संस्कार कहा गया है। लिलाट पीठ आदि अंगों की चित्र कारी करना पशु विशेष का यजमान ने स्वयं हाथों से पकड़ या लेना सोम का संस्कार है अर्थात् प्रकाश और सौम्य गुण विशिष्ट परमात्मा के निमित्त दान के लिये नहला धुलाकर माथा, पीठ उदर आदि अंग को किसी रंग विशेष से चित्रण कर उस परमात्मा के निमित्त ऐन्द्र 'वायव' आदि सोम नामक भरे हुये

* मीमांसा में यह वह स्थल है कि जिस का अर्थ अवैदिक कालीन टीकाकारों ने पशु के अंगों को काट कर उस की जिह्वा आदि अंगों से होम 'अवद्यति' पद का अर्थ करके किया है जो महर्षि जैमिनि ने सिद्धान्त के सर्वथा प्रति कूल है। यहाँ अवदान पशु का संस्कार कहा गया है और विद्यमान वस्तु में ही अतिशया धान का किया जाना संस्कार हैं काटना आदि अतिशया धान के विपरीत अर्थ है। काटने से पशु अंग भंग होगा न कि अतिशयता को पहुँचेगा क्योंकि पूर्व से कुछ और अच्छा बनजाना 'अतिशयँ है। वर्त्तमान काल में गाय, घोड़े, गधे आदि पशु का पर्व विशेष पर चित्रण करते हैं वह अतिशयता का द्योतक है वही यहाँ भाव है अर्थात् दान देने वाले पशु का 'अतिशय' करना न कि काटकाट के विकृत करना।

पात्रों को अध्वर्यु अपने हाथ में लेता है और हविर्दान करता है उस दशा में पशु एवं सोम, अपूर्व अर्थ के प्रति पादक होते हैं उस संस्कार की प्राप्ति 'अवद्यति' और 'गृह्णाति' वाक्यों द्वारा ही हो सकती है तथा वह संस्कार के विधान कर्त्ता हो सकते हैं न कि अपूर्व कर्म के निरूपक दूसरा 'आलभेत' पद पर कि जिसका अर्थ मारना करके नये टीकाकारों ने मीमांसा को दूषित किया है बुद्धि से काम नहीं लिया। क्योंकि 'लभ धात्वर्थ लाभ' और आङ् का भाव विशेष है जिस क्रिया के करने से कर्त्ता को लाभ विशेष मिले उस क्रिया का बाचक आलभेत पद है । यज्ञ में धन धान की वृद्धि के लिये पशु दान आया है न कि हिंसा के लिये । श्री सवर स्वामी ने भी 'चोदना' लक्षणोऽर्थो धर्मः 'इस सूत्र का भाष्य करते हुये लिखा है कि (हिंसा हि सा हिंसा च प्रतिषिद्धा अर्थात् जिस क्रिया से प्राणी के प्राणों का विच्छेद हो उसे हिंसा कहा है वह वेद में निषिद्ध है अतः आलभेत का अर्थ हिंसा पर का करना ठीक नहीं । श्री शवर स्वामी ने तमालभ्यः=तमुपयुञ्ज मी०-१।२। १० के सूत्र में 'आलभ्य' पद का अर्थ किया है अतः आलभेति का विवरण उपयुञ्जीत अर्थात् जिस क्रिया से सुख मिले उस क्रिया को करे अतः आलभेत किया पद का अर्थ विधि पूर्वक त्याग करना, छोड़ना आदि ही उत्तम अर्थ करना समीचीन है न कि हिंसा परक करके पशु कटवाना ।

सं०—'सोमेन यजेत' से एक ही सोम याग की विधि पाई जाती है परन्तु ऐन्द्र वायव गृह्णाति 'में दश सोम पात्रों की विधि मिलती है अतः एक यागः और दश पात्रों' का ग्रहण कैसा !

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१६॥

पं० क्र०—(तद्भेदात्) पात्र भेद से (कर्मणः) सोमयाग की (अभ्यासः) आवृति समझनी क्योंकि (द्रव्य पृथक त्वात्) पात्र भेद से, तत्स्थ सोम द्रव्य का भी भेद मिलता है (हि) यदि कर्मावृति न हो तो (भेदः) वह भेद (अनर्थक) वृथा (स्यात्) हो जाता है और (द्रव्य गुणी भावात्) सोम रूप द्रव्य का अंग से ही ग्रहण की आवृति है ।

भा०—जिस एक कर्म को बारम्बार किया जाता है उसे अनुष्ठान कहते है अभ्यास और आवृति पर्याय वाची हैं अतः आवृति के कारण दश पात्रों का ग्रहण प्रयोजन के अनुकूल हो जाता है क्योंकि अग्निहोत्र कर्म की प्रातः तथा सायं आवृत्ति होने से और द्रव्य तथा देवता भेद होने से याग की आवृति होती है उसी प्रकार ग्रहण की आवृत्ति भी आवश्यक है क्योंकि ग्रहण संस्कार कर्म के कारण गौण तथासोमरूपद्रव्य संस्कार्य होने से प्रधान है और इसकी आवृति आवश्यक है अतएव दशों पात्रों का एक साथ ग्रहण कर पीछे बिभाग पूर्वक याग न करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक पात्र याग भेद के समान उसका ग्रहण भेद भी समीचीन है ।

सं०—'खदिरे पशु बध्नाति' खैर के खंभे से पशु को बांधे 'पालाशे पशु बध्नाति' ढाक के खंभे से पशु को बांधें इत्यादि वाक्यों की भी क्या ऐन्द्र वायवं गृह्णाति आदि वाक्य में विधान किये समान द्रव्य भेद से याग का अभ्यास (आवृति) करना है क्योंकि स्तंभ रूप द्रव्य यहाँ पर भी तो है।

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ २० ॥

प० क्र०—'तु' शब्द आशंका दूरी करण के लिये है (संस्कारः) पशु बन्ध रूप संस्कार की (न भिद्यते) यूप भेद होने से भी आवृत्ति नहीं क्योंकि (परार्थत्वात्) यूप पशु बांधने के निमित्त होने से (गुण भूत त्वात्) गौण है।

भा०—प्रधान से गुण की आवृति है न कि गुण से प्रधान की और जो अन्य के निमित्त होता है वह गुण होता है जिसके गौण, शेष, अंग आदि पर्याय वाची शब्द हैं। परमात्मा के निमित्त दान में दिये जाने के लिये पशु बन्ध के अर्थ एक स्तंभ (खम्भा) गाड़ा जाता है वह खैर की लकड़ी का होता है अथवा ढाक का होता है उक्त खंभे से पशु बन्धन नाम संस्कार को पशु संस्कार कहते हैं यह क्रिया प्रधान और स्तंभ गौण है क्योंकि वह केवल पशु बन्धन के लिये गाड़ा गया है अतः स्तंभ रूप द्रव्य के कारण पशु बन्धन रूप संस्कार की आवृति नहीं हो सकती।

सं०—अब सख्या कृत कर्म भेद को कहते हैं ।

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदःस्यात् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(संख्यया) भेदेन (कर्म भेदः) कर्म का भेद (स्यात) है क्योंकि उसका (पृथकत्व निवेपात्) संख्येय भेद से नियत सम्बन्ध है ।

भा०—परम पिता परमात्मा प्रजा पालक के लिये 'सप्तदश प्राजा पत्यान् पशून् लभते' वाजपेय याग में इस पाठ से सत्रह पशुओं का उत्सर्ग (त्याग) करे अब यहां सत्रह पशु त्याग एक ही याग की विधि है अथवा दिये हुये पशु द्रव्य का भेद होने से सत्रह याग का विधान है यतः याग का प्रधान साधन द्रव्य है उस के भेद से याग भेद होना सम्भव है विशेष कर संख्या भेद से उसका भेद स्पष्ट है अतः द्रव्य साधन द्वारा होने वाला सप्त दश याग एक नहीं हो सकता ।

सं०—संज्ञा कृत कर्म भेद को बतलाते हैं ।

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ २२ ॥

प० क्र०—(च) और (संज्ञा) नाम भी कर्म में भेद करने वाला है क्योंकि उस का (उत्पत्ति संयोगात्) कर्म के विधान कर्त्ता वाक्य के साथ योग हैं ।

भा०—अथैप ज्योतिः, अथैप विश्व ज्योतिः, अथैप सर्व ज्योतिः, येतेन सहस्र दीक्षणेन यजेत वाक्य ज्योतिष्टोम याग में पढ़े गये हैं यहाँ तीनो पदों में आये ज्योतिः शब्द का अनुवाद करके उस वाक्य से उस में एक सहस्र दक्षिणा रूप गुण की विधि बतलाई है अथवा

एक सहस्र दक्षिणा वाले इस नाम से तीन यागों की विधि वर्णन है यतः ज्योतिष्टोम का प्रकरण होने से यह है तब भी 'अथ' प्रकरण का विभाग विच्छेपक है अतः तीनों संज्ञा उस की नहीं हो सकती । साथ ही इस के ज्योतिष्टोम की 'द्वादश शत दक्षिणा' (१२००) दक्षिणा होने से एक सहस्त्र दक्षिणा (१०००) नहीं हो सकती अतः वे वाक्य ज्योतिः नामों से एक सहस्र दक्षिणा रूप गुण के विधायक नहीं किन्तु एक सहस्र दक्षिणा वाले तीन यागों की विधि बतलाते हैं अतएव ज्योतिः, विश्व ज्योति, सर्व ज्योतिः तीनों याग ज्योतिष्टोम याग से भिन्न हैं इन की एक सहस्र और ज्योतिष्टोम की बारहसौ दक्षिणा है ।

सं०—गुण भेद से कर्म भेद कहते हैं ।

गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥ २३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (अपूर्व संयोगे) प्रकृत देवता के साथ न योग होने से (गुणः) गुण एवं कर्म का भेद करने वाला है (वाक्ययोः) पूर्व और उत्तर उभय वाक्य (समत्वात्) एक से हो जाते हैं ।

भा०—'सा वैश्य देव्या मिक्षा' इस वाक्य के पश्चात् वाजिभ्यो वाजिनम ऐसा पढ़ा जाता है यहाँ अग्नि आदिनाम विश्वेदेव के स्थानीक हैं इस वाक्य में 'वैश्व देव याग' के विश्वे देव देवता का वाजिभ्यः पद से अनुवाद होकर उसमें वाजिन गुण का विधायक है अथवा कर्मान्तर का विधान करने वाला है इस का समाधान

यह है कि आमित्ता रूप द्रव्य से अवरुद्ध होने से वैश्वे देव याग पूर्व से ही निराकांदा है और इस लिये द्रव्य का सम्बन्ध असंभव है इसके अतिरिक्त 'वाजि-भ्य' पद से विश्वे देव का अनुवाद भी नहीं हो सकता क्योंकि वह उनका पर्याय वाचक भी नहीं है अतः 'वाजिभ्यो वाजिनः' वाक्य वैश्व देव याग में गुण विधायक नहीं किन्तु कर्मान्तर का विधान कर्त्ता है। भाव यह है कि देवता के साथ, द्रव्य का सम्बन्ध नियामक तद्धित प्रत्यय अथवा चतुर्थी विभक्ति पूर्वक होता है।

सं०—'वैश्व देव्यांमित्ता' वाक्य में वतलाये 'वैश्य देव' कर्म में 'वाजिभ्यो वाजिनम्' वाजिन रूप कर्म का विधान कर्त्ता नहीं उसी प्रकार फिर 'अग्नि होत्रं जुहोति' में अग्नि होत्र कर्म में 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य का दधि रूप गुण का विधायक क्यों माना गया ?

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥ २४ ॥

प० क्र०—(तु) शब्द शंका परिहार्थ है (कर्मशब्दे) अपूर्व कर्म का विधायक वाक्य (अगुणे) गुण रहित कर्म का विधायक है (तत्र) उस वाक्य से वतलाये कर्म में (गुणः) वाक्यान्तर से कर्म का (प्रतीयेत) विधान होता है।

भा०—'वैश्व देव्या मित्ता' गुण विशेष कर्म का विधान करने वाला है अतः उस में वतलाये कर्म में वाक्यान्तर द्वारा गुण का विधान नहीं हो सकता परन्तु 'अग्नि-होत्रं जुहोति' वाक्य कर्म मात्र का विधायक है न कि

गुण विशेष का। अतः उस वाक्य में बतलाया 'अग्निहोत्र' कर्म में वाक्यान्तर गुण का विधान कर्त्ता होने में कोई दोष नहीं।

सं०—अब दधि आदि गुण का फल कहते हैं।

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगि त्वात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्षार्थ है (कर्म) दधि वाक्या अपूर्व कर्म का (स्यात्) विधान कर्त्ता है क्योंकि (फल श्रुतेः) उसका फल सुना गया है एवं (फलस्य) फल से (कर्म योगि त्वात्) कर्म से नियत सम्वन्ध है।

भा०—'दध्ना इन्द्रिय कामस्य जु हुयात' अर्थात् चक्षुः आदि इन्द्रियों की कामना वाला दही से होम करे इस में इन्द्रिय फल रूप उपदेश फल पाये जाने से यह कर्म के विना केवल एक दधि रूप द्रव्य से नहीं मिल सकता क्योंकि फल कर्म जन्य होता है अतः इन्द्रिय फल के लिये दधि आदि रूप गुण मात्र का विधायक नहीं किन्तु 'अग्निहोत्र' वाक्य के तुल्य गुण साध्य अपूर्व कर्म का विधान करता है।

सं०—अब इसका समाधान किया जाता है।

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥ २६ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष के परिहार्थ है (वाक्य योः) 'अग्निहोत्र' तथा 'दध्नेन्द्रिय इन दोनो वाक्य में

(अतुल्य त्वात्) एक नहीं अतः (तस्य) अग्निहोत्र कर्म में (गुणः) फल विशेष के लिये गुण का (प्रतीयेत) विधान है।

भा०—'अग्नि होत्रं जुहुयात स्वर्ग कामः' इस लोक और परलोक की इच्छा वाला पुरुष नित्य: दोनों समय अग्नि होत्र करे यहाँ इस वाक्य में फल का जन्य जनक सम्बन्ध है परन्तु उस भाँति का "दध्नेन्द्रिय' वाक्य से नहीं। वरन उस वाक्य से दधि रूप गुण और इन्द्रिय रूप फल का जन्य जनक भाव प्रतीत होता है अंतः केवल दधि रूप गुण कर्म से वह फल नहीं मिल सकता क्योंकि फल मात्र कर्म से उत्पन्न होते हैं और गुण विशिष्ट कर्म का विधान स्वीकार करने से गौरव दोष आता है इसलिये अग्नि होत्र वाक्य से तुल्य उसके सदृश उस वाक्य में इन्द्रिय रूप फल की सिद्धि के निमित्त किसी अपूर्व कर्म का विधायक है।

सं०—'वारवन्तीय' आदि के कर्मान्तर को कहते हैं।

समेषु कर्म युक्तं स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(समेषु) सदृश वाक्यों में (कर्म युक्तं) अपूर्व कर्म के साथ फल सम्बन्ध (स्यात्) है

भा०—जिस प्रकार प्रकृत याग के विधान कर्त्ता वाक्य से याग एवं फल का जन्य जनक भाव सम्बन्ध है उसी प्रकार उस वाक्य में गुण विशिष्ट याग के साथ पशु रूप फल का जन्य जनक भाव नहीं और 'दध्ना इन्द्रिय' के समान गुण की प्रतीति नहीं और यदि पशु रूप फल

सिद्धि के लिये उस याग में गुण विधान कर्त्ता माने तो गुण में याग साधनता के तुल्ल याग में फल साधनता विधान करने वाली माननी होगी परन्तु ऐसा मानना दोष है अतः 'एत स्यैव रेवतीषु वारवन्तीय मग्निष्टोम साम कृत्वा पशु कामो ह्येतेन यजेत' अर्थात् पशु कामना वाला रवेतीर्नः सधमादः ऋग्वेद । १ । २ । ३० । १३ से 'रेवती' नाम वाली ऋचाओं का वारवन्तीय नामक साम गान करके याग करे 'इस अग्निष्टुत' यज्ञ में पशु रूप फल सिद्धि के लिये गुण विधान कर्त्ता नहीं किन्तु उससे भिन्न पशु फल वाले गुण विशेष अपूर्व फल को कहता है ।

सं०—सौभर और निधन का समान फल निरूपण करते हैं

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः ॥ २८ ॥

प० क्र०—(सौभरे) सौभर सम्बन्धी निधन में (पुरुषश्रुतेः) पुरुष प्रयत्न का उपदेश है अतः (निधनं) वह निधन (काम संयोगः) फल वाला है ।

भा०—*जिस पुरुष को वर्षा, अन्न, तथा सुख विशेष की इच्छा हो वह सौभर नामक साम विशेष से परमात्मा की स्तुति करे क्योंकि इस से समस्त फल प्राप्त होते हैं यह विधि बतलाकर साम के पाँच अथवा सात भाग होते हैं और अन्तिम को निधन कहते हैं यहाँ पर वृष्टि कामना वाला 'हीष' अन्न

*हीषित वृष्टि कामाय निधनं कुर्यात्, उर्गित्यन्नाद्य कामाय, ऊ इति स्वर्ग कामाय । साम के पांच अथवा सात भाग कहलाते हैं ।

कामना वाला 'ऊर्ग' सुख विशेष कामना वाला 'ऊ' इसका निधन करे इन वाक्यों में 'कुर्यात' पद से पुरुष प्रयत्न का उपदेश मिलता है। प्रयत्न का फल से एक नियत योग है यदि वह वाक्य स्वतन्त्र फल के निमित्त निधन विशेष का विधान कर्त्ता न माने तो पुरुष प्रयत्न का श्रवण असिद्ध होगा एतातिरिक्त निधन वाक्य में 'वृष्टि कामाय' चतुर्थी पद है उस से हीपादि वृष्टि काम पुरुष अवशेष विदित होता है क्योंकि वह तादर्थ्य चतुर्थी पद है परन्तु वह उसी दशा में हो सकते हैं कि जब पुरुषेच्छानुसार वृष्टि आदि फल का साधन मान लिया जावे अतः वह वाक्य सौभर के फल वृष्टि आदि से अतिरिक्त पुरुप को इच्छित वृष्टि फल के निमित्त हीषाद निधन विशेष का विधान कर्त्ता है न कि व्यवस्था करने वाला।

सं०—अब इसका समाधान किया जाता है।

सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधनार्थापुनः श्रुतिः ॥ २६ ॥

प० क्र० (वा) पूर्व पक्षपरिहारार्थ है (सर्वस्य) सब साम को (उक्त कामत्वात्) वृष्टि आदि फल का हेतुक है याय का नहीं अतः (तस्मिन्) सौभर में (काम श्रुतिः) फल श्रवण (स्यात) है (पुनः) तथा (श्रुतिः) निधन वाक्य में फल श्रवण (निधनार्था) व्यवस्था हेतुक है।

भा०—सम्पूर्ण साम से फल सिद्धि होती है अथवा उसके किसी अंश से भी होती है क्योंकि निधन सौभर साम का एक भाग है उसका फल वृष्टि आदि नहीं हो सकता अतः उस वाक्य में सौभर साम के वृष्टि आदि फल का 'वृष्टि कामाय' आदि पदों से अनुवाद करके निधन की व्यवस्था की है कि यदि वृष्टि का कामना पुरुष हो तो सौभर साम का 'हीष' अन्न की कामना वाला साम का 'ऊर्ग' और स्वर्ग कामना वाला साम का 'ऊ' निधन होना चाहिए। सारांश यह कि सौभर के फल से निधन का भिन्न नहीं किम्बा दोनों का एक ही फल है अतः तादर्थ्य चतुर्थी तथा पुरुष प्रयत्न भी पाया जाता है अतः दोष रहित है।

सं०—जोतिष्टोम यज्ञ का अंग 'ग्रह' ग्रहण उसके गुण निरूपण करते हैं।*

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा भाषा भाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

---

*सोम याग को ही ज्योतिष्टोम कहते हैं इस याग में प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल में जो सोमलता कूटी जाती है उस सोम के कूटने का नाम 'सवन' है। प्रातः सवन में ऐन्द्र वायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र आग्रमण, उक्थ्य, ध्रुव आदि दश पलाश की लकड़ी के पात्र "कठौती" जिनमें सोमरस भरते हैं उनको ग्रहण किया जाता है। इसी ग्रहण करने के कारण इन्हें 'ग्रह' कहते हैं।

ॐ

अथ द्वितीयाध्याय तृतीयः पादः प्रारम्भ्यते ॥

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष का द्योतक है (गुणः) रथन्तरादि सामरूप गुण के श्रवण से (कर्मान्तरं) दूसरे कर्म का (प्रयोजयेत) प्रेरक है क्योंकि (क्रतुसंयोगात्) उसका अन्य कर्म से योग है और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध (अशेपभूतत्वात्) मुख्य कर्म से प्रथक करता है।

भा०—इन दो पक्षों में कि 'रथन्तर' आदि साम गुण है और रथन्तर साम जिस कर्म में है इस प्रकार कर्म विशेष से सम्बन्ध पाये जाने से वह कर्म को इस ज्योतिष्टोम कर्म से पृथक करता है इसलिए कि प्रकृत याग में 'जगत्' नामक कोई साम नहीं और विषय वाक्य में जगत् साम वाला कर्म विशेप बतलाया है अतः वह वाक्य रथन्तर साम आदि पदों से प्रकृत

ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उसमें ग्रह ग्रहण रूप गुण विशेष का कोई विधान नहीं करता केवल वह गुण विशेष 'रथन्तर साम' आदि कर्मान्तर का विधान कर्त्ता है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

एकस्य तु लिंगभेदात् प्रयोजनार्थ मुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात्।

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष निराकरणार्थ है (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम याग का (लिंगभेदात्) विशेषण भेद से (प्रयोजनार्थम्) ग्रह ग्रहण रूप अर्थ के निमित्त (उच्येत) वह वाक्य कहे जाते हैं अतः (गुणवाक्यात्) उन्हें ग्रह ग्रहण रूप गुण विशिष्ट का विधान-कर्त्ता होने से (एकत्वं) कर्म की एकतावश भेद नहीं।

भा०—ज्योतिष्टोम याग में जो स्तोत्र गान होता है उसमें साम का विकल्प विधान किया गया है उसी विकल्प के अनुसार ग्रह ग्रहण रूप गुण की व्यवस्था के निमित्त वह वाक्य कहे गये हैं अतः ग्रह ग्रहण ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने से कर्मान्तर नहीं कहा जा सकता*

* अभित्वाशूरनोनुमः ऋ० ५।३।२१।२२ इस ऋचा में जो साम गान हैवह 'रथन्तर' और 'त्वा मिद्ध हवा महे ऋ०४।७।२७।१ इस ऋचा के साम गान को 'बृहत्' और जगती छन्द वाली ऋचा का सामगान 'जगत्' कहलाती है। इसी प्रकार ढाक की कठौती में जो सोमरस भरा जाता है वह 'ग्रह' और मध्यान्ह सब में 'पृष्ट' नामक स्तोत्र गान इसी में उपयुक्त 'रथन्तर' 'बृहत्' तथा 'जगत्' इन तीन साम का

किन्तु ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें रथन्तर साम आदि विशेषणों के दबाव से ग्रह ग्रहण रूप गुण विशेष का विधान करता है।

सं०—ब्राह्मणादि कृत्य अवेष्टि के कर्मान्तर होने का निरूपण करते हैं।

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥

प० क्र०—(अवेष्टौ) अवेष्टि नामक याग सन्निधि में पठित (क्रतु प्रधानम्) अपूर्व कर्म विधायक (उच्यते) है क्योंकि (यज्ञ संयोगात्) क्षत्रिय सम्बन्ध होने से *।

भा०—राजसूय यज्ञ के विधान कर्त्ता 'राजा राज सूयेन यजेत' इस वाक्य में याग कर्त्ता राजा कहा है परन्तु ब्राह्मण और वैश्य भी राज्य कर्त्ता हो सकते हैं क्योंकि 'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्य मध्ये निधामा हुति या हुतिं हुत्वाऽभि घारयेत † यदि राजन्य ऐन्द्रं परिवैश्यो

विकल्प से विधान है और यदि 'सामयाग' रथन्तर साम वाला हो तो 'ऐन्द्रवायव' ग्रह का। बृहत्साम वाला हो तो 'शुक्र, ग्रह का। और जगत्साम वाला हो तो 'आग्रयण' ग्रहण का पूर्व ग्रहण होता है।

* राज सूय याग जिसे क्षत्रिय लोग करते थे उस याग के अन्तर्गत 'अवेष्टि' नामक याग होता है उसमें आठ कपालों में पकाये पुरोडाश का प्रदान किया जाता है। 'अवेष्टि' में यह पाठ है। 'आग्नेय मष्टा .लं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा। ऐन्द्र मेकादश कपाल मष्टमो दक्षिणा। वैश्व देवं चरूं पिशङ्गी अष्टौ ही दक्षिणा। मैत्रावरुणी यामिक्षां वशा दक्षिणा। बार्हस्पत्य, चरूं शिति पृष्टो दक्षिणा।

† 'अभिधारण' ऊपर से घी के डालने को कहा जाता है।

वैश्व देवम् "अतएव इन वाक्यों में प्राप्त ब्राह्मणादि का अनुवाद करके संस्कार रूप गुण का विधान किया है इस पर कहते है कि राज्य सम्पत्ति का क्षात्र धर्म से नियत सम्बन्ध है न कि ब्राह्मण अथवा वैश्य के साथ। यद्यपि ब्राह्मण और वैश्य को राजा कहा जा सकता है परन्तु गौण ही है अतएव अवेष्टि कर्म में ब्राह्मणादि का अनुवाद करके गुण विधान नहीं किन्तु राज सूय याग के बाहर ब्राह्मण द्वारा किया अवेष्टि याग अपूर्व कर्म विधायक है।

सं०—अग्न्याधान् तथा उपनयन को कर्मान्तर निरूपण करते हैं।

आधाने सर्वशेषत्वात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—(आधाने अग्न्याधान, और यज्ञोपवीत में विधि है क्योंकि वह (असर्व शेपत्वात्) सव मनुष्यों को पूर्व प्राप्त नहीं होता।

भा०—वैदिक कर्मानुष्ठान अग्न्याधान और विद्या प्राप्ति के बिना नहीं हो सकता और विद्या प्राप्ति उपनयन के बिना नहीं। अतः बिना कर्म के अनुष्ठान के ब्राह्मणादि द्वारा किये गये आधान तथा उपनयन यह दोनों कर्म पूर्व प्राप्त हैं न कि वसन्तादि काल विशेष प्रथम प्राप्त है। * अतएव वह वाक्य प्रथम ब्राह्मणादि से प्राप्त अनुवाद करके अप्राप्त वसन्तादि काल विशेष

* वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीना दधति, ग्रीष्मे राजन्यः। शरदि वैश्यः तथा वसन्ते ब्राह्मण मुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम् इस क्रम से अग्न्याधान और उपनयन होता है।

का विधान करता है इस शंका पर कहा है कि वैदिक कर्म के अनुष्ठान की अन्य था प्राप्ति से ब्राह्मणादि कृत आधान और उपनयन की प्राप्ति नहीं। क्योंकि विना उपनयन के भी पुस्तक द्वारा अनुष्ठान ज्ञान प्राप्त हो सकता है अतः पहिले ब्राह्मणादि कर्तृक आधान और उपनयन को प्राप्ति न होने से वह ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके वसन्तादि काल का विधायक नहीं किन्तु वसन्तादि, काल विशेष ब्रह्मणादि द्वारा किये गये अग्न्याधान तथा उपनयन रूप कर्मान्तर का विधान करता है।

सं०—'दाक्षायण' आदि को गुण कथन के लिये कहते हैं।

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपवन्धात् ॥ ५ ॥

प० क्र०—(अयनेषु) दाक्षायणादि वाक्य में (चोदनान्तरं) कर्मान्तर विधि होने से उनमें (संज्ञोप वन्धात्) कर्म संज्ञा का सम्बन्ध है।

भा०— * दाक्षायण तथा साकं प्रस्थाप्य आदि पदों का वाचक कोई गुण विशेष लोक में नहीं और 'उद्भिदा यजेत' के समान याग के साथ एक सा सम्बन्ध होने से वह याग नाम प्रतीत होते हैं अतः उक्त वाक्य 'दाक्षायण' तथा साकं प्रस्थाप्य आदि नामक अपूर्व कर्म के विधान करने वाले हैं किसी गुण विशेष के विधान कर्त्ता नहीं।

* दर्श पूर्ण मास यज्ञ में पाठ है कि दाक्षायण यज्ञेन स्वर्ग कामो यजेत, साकंप्रस्थाप्येन पशु कामो यजेत अर्थात् स्वर्ग कामना वाला दाक्षायण याग और पुत्र कामना वाला साकं प्रस्थाप्य यज्ञ करे।

सं०—इस में हेतु देते हैं।

अगुणाच्च कर्मचोदना ॥ ६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (अगुणात्) अन्य गुण योग न होने से वह (कर्म चोदना) कर्म मात्र का विधान है।

भा०—उन वाक्यों की पड़ताल करने से वह किसी अन्य गुण के विधान भी प्रतीत नहीं होते अतएव वह कर्म मात्र की ही विधि है न कि गुण की।

सं०—अन्य हेतु और भी है।

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(च) और (वाक्यं) वह वाक्य (फले) मोक्षादि फलमें (समाप्तं) कर्म मात्र का उद्भूत-उत्पादक भावयोग बतलाने मात्र से ही आकांक्षा रहित है।

भा०—गुण का विधान करने वाला यदि वह वाक्य होता तो फल के साथ कर्म का सम्बन्ध कह कर निराकांक्ष न होता किन्तु गुण का विधान करने से साकांक्ष बना रहता परन्तु इतने मात्र से ही निराकांक्ष प्रतीत होता है अतः वह कर्म विधि है न कि गुण।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

विकारो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के परिहारार्थ आया है (विकारः) दर्श पूर्ण मास में गुण विशेष का विधान करने वाला होने से वह वाक्य (प्रकरणात्) उसके प्रकरण में पढ़े जाने से भी।

भा०—जिस यज्ञ में * दाक्ष कर्तृक आवृति होती है वह दाक्षायण यज्ञ कहलाता है इस आवृत्ति में कर्म का गुण सर्व संसार को विदित है यह आवृति कृषि विद्या, आदि कर्म में सर्वत्र मिलती है। इसी भाँति साकं प्रस्थाप्य याग में भी दही और दूध के चार घड़ों की एक साथ स्थापना रूप गुण वाची है। और दर्शपूर्ण मास नामक याग प्रथम प्राप्त है अतः वह वाक्य 'दर्शपूर्ण मासाभ्यां स्वर्ग कामोयजेत्' दर्शपूर्णमास याग में आवृत्ति तथा साकं प्रस्थाप्य रूप गुण विशेष का विधान करने वाला है न कि कर्मान्तर का वह विधान करने वाला है अर्थात् सायं प्रातः अग्नि होत्र के समान इस स्वर्ग कामना वाले दर्शपूर्ण मास की भी आवृति सायं प्रातः करें, और पशु कामना वाले दही तथा दूध की कुम्भी चतुष्टय (चार कलशों) से सर प्रस्थाप करें।

सं०—और भी हेतु है।

लिंगदर्शनाच्च ॥९॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिन्ह प्रतीत होने से वह वाक्य गुण विधायक है न कि उसे कर्मान्तर विधायक कह सकते हैं।

भा०—तीस वर्ष तक दर्शपूर्णमास याग को। यदि दाक्षायण यजन करने वाला हो तो पन्द्रह वर्ष तक याग को अर्थात् प्रति दिन सायं प्रातः दो दर्श याग तथा दो

*उत्साही यजमान को 'दक्ष' और जिन ऋत्विजों से यज्ञानुष्ठान हो वह 'दाक्ष' और अयन आवृत्ति को कहते हैं।

पूर्णमास याग करने वाले को वही सम्पत्ति मिलती है कि जो तीस वर्ष के करने से होती है। वही दाक्षायण आजी पन्द्रह वर्ष में प्राप्त करता है। इससे तो दोनों एक से ही विदित होते हैं। वह वाक्य सामर्थ्यता से स्पष्ट है "दाक्षायण यज्ञेन यजेत्" यहाँ पर दाक्षायण रूप गुण विशिष्ट विधान के निमित्त याग का ही अनुवाद करता है न कि कर्मान्तर का, और दाक्षायण की आवृत्ति से ही यह सिद्ध है कि यदि दाक्षायण प्रकृत याग से भिन्न होता तो तीस वर्ष तक पूर्ण दर्शयाग का अनुष्ठान कह कर उसी फल को दाक्षायण यजनकर्त्ता को पन्द्रह वर्ष की आज्ञा न दी जाती।

सं०—अब 'संज्ञोपवन्धात्' इस पक्ष में कठिन का समाधान करते हैं।

गुणात्संज्ञोपवन्धः ॥१०॥

प० क्र०—(गुणात्) वारम्वार रूप गुण कथन से (संज्ञोपवन्ध) याग की दाक्षायण संज्ञा कही गई है।

भा०—दाक्षायण शब्द वारम्बार रूप गुण का वाचक है उसी गुण योग से प्रकृत याग को दाक्षायण याग कहा है। किसी अपूर्व कर्म से प्रयोजन नहीं।

सं०—अब सातवें सूत्र के पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

समाप्तिरविशिष्टा ॥ ११ ॥

प० क्र०—(समाप्तिः) उस वाक्य का आकांक्षा रहित होना। (अविशिष्टा) कर्म फल सम्बन्ध कथन के समान गुण फल सम्बन्ध कथन में समानता है।

भा०—फल के साथ कर्म सम्बन्ध कथन किये जाने से जिस प्रकार वह वाक्य निराकांक्ष है उसी प्रकार फल के साथउसं गुण का सम्बन्ध कहने से भी निराकांक्ष ही होता है अतः वाक्य का निराकांक्ष होना कर्मान्तर विधि का बताने वाला नहीं हो सकता। अतएव वह गुण विधायक है न कि कर्मान्तर का।

सं०—'वायव्यं श्वेतम्' ऐसे वाक्यों में अपूर्व कर्म का विधान पाये * जाने से पूर्व पक्ष करते हैं।

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—यहाँ 'च' शब्द पूर्व पक्ष की सूचना-निमित्त है (अप्रकरणे) प्रकरण में न होने पर भी पढ़ा हुआ 'वायव्य श्वेतम् आदि वाक्य (संस्कारः) स्पर्श रूप संस्कार-गुण के विधान कर्त्ता हैं न कि अपूर्व कर्म विधान कर्त्ता हैं, उनमें (अकर्म शब्दात्) उसका वाचक कोई शब्द नहीं।

भा०—पूर्व पक्षी कहता है कि दर्श पूर्णमास याग में 'ईषा * स्पर्श तथा 'चरु' † का निर्वाप पहिले करना चाहिये और 'भूति' तथा ब्रह्मवर्चसि फल भी उस याग को सब फल का दाता होना पहिले ही विद्यमान है और विधान का पुनः २ विदित कहना ठीक नहीं 'आल-

* 'ईषा' छकड़े की आगे की लम्बी लकड़ी इसे 'बम्ब' कहते हैं, होती है।

† 'चरु' शब्द का शक्ति वृत्ति अर्थ 'भात' और लक्षणा वृत्ति अर्थ थाली हांडी, बटलोई कहते हैं।

भेत' पद के बिना कोई प्रधान कर्म का वाचक नहीं। अतएव वाक्य दर्श पूर्णमास याग के सिवाय किसी भागान्तर का विधान नहीं करते किन्तु पहिले विधान किये हुये स्पर्श आदि का आलभेत पद से अनुवाद करके छूने योग्य ईषा (वम्ब) में श्वेत गुण आदि का विधान करते हैं अर्थात् ईषा श्वेत और वायु स्पर्श वान होनी चाहिये और चरु सिद्धि के लिये चार मुट्ठी चावलों का निर्वाप सूर्य पद से कहे अग्नि सम्बन्धी हँडिया में होना चाहिये यह दोनों वाक्य * बतलाते हैं अतः इसमें अपूर्व कर्म विधान नहीं है।

सं०—द्वितीय पक्ष को कहते हैं।

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के निमित्त आया है (यावदुक्त') उस वाक्य में स्पर्श तथा निर्वाण मात्र कर्म के विधान कर्त्ता है इसलिये कि (कर्मणः) कर्म का (श्रुति मूलत्वात्) जैसा सुना वैसा ही विधान मानना ठीक है।

भा०—यदि ये दोनों वाक्य दर्श पूर्ण मास में नहीं पढ़े गये तब तो वह स्पर्श आदि का अनुवाद करके श्वेत

* वायव्यं श्वेतमालमते भूति कामः"। सौर्य्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्म वर्चसि कामः यह दोनों वाक्य हैं जो अप्रकरण पठित कहे गये हैं अर्थात् किसी याग विशेष के प्रकरण में न पढ़े गये हुये हैं। पहिले वाक्य का अर्थ यह है कि ऐश्वर्य कामना वाला श्वेत रंग की गाय का परमात्मा निमित्त त्याग करे। दूसरे का यह अर्थ है कि ब्रह्म तेज कामना वाला परमात्मा निमित्त 'चरु' प्रदान करे।

आदि गुण का भी विधान नहीं करते क्योंकि अप्रकरण पठित होने से उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं और विना सम्बन्ध गुण विधान कैसा! अतः उक्त वाक्य, पूर्ति, आदि फल के लिये स्पर्श और निर्वाप भाव मात्र कर्म का विधान करते हैं। प्रयोजन यह कि वहाँ स्पर्श और निर्वाप का श्रवण है और उसी के अनु कर्म विधान भी माना गया है अतएव स्पर्श और चरु निर्वाप व गुण-कर्म के द्योतक हैं किसी प्रधान कर्म के नहीं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्म सम्बन्धात् ॥१४॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष परिहारार्थ है। (यजतिः) यह वाक्य प्रधान कर्म के विधान करने वाले हैं। उनसे (द्रव्य फल भोक्तृ संयोगात्) द्रव्य, फल तथा देवता तीनों का योग मिलता है और (एतेषां) तीनों का (कर्म सम्बन्धात्)प्रधान कर्म के साथ नियत सम्बन्ध है।

भा०—द्रव्य और देवता ही याग हैं और प्रयोजन उसका फल है और जिस वाक्य से इन तीनों का सम्बन्ध सुना जावे वह प्रधान कर्म विधायक होता है इस नियम से उस वाक्य से भी पशु आदि द्रव्य वायु आदि देवता तथा भूति आदि फल सम्बन्ध का श्रवण होता है अतएव वह गुण अथवा जहाँ तक कहा गया है कर्म के विधायक नहीं किन्तु प्रधना

कर्म के विधान कर्त्ता है ।· भाव यह है कि गुण विधि मानने से फल श्रवण व्यर्थ होता है और जो कहा हुआ निर्णय रूप कर्म अति देश से पाया जाता है उसे विधान मानना समीचीन नहीं, अतः वह वाक्य अपूर्व कर्म विधायक है यही मानना ठीक है ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं ।

लिंगदर्शनाच्च ॥१५॥

प० क्र०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से उस कार्य की सिद्धि है ।

भा०—जैसे इस वाक्य में कि सौमा रौद्रं चरुं निर्वयेत् अर्थात् सौम्य और रौद्र स्वभाव परमात्मा के निमित्त चरु से* निर्णयकरे यहाँ चरु विधान का परिश्रिते याजयेत् समाज में याग करावे । उस निर्वाप का याग वाचक 'यजि' पद से अनुवाद करके भी श्रयण गुणविधान किया गया है उन वाक्यों में याग विधान कर्त्ता होने में लिङ्ग है । जैसे कि सौमारौद्र वाक्य में निर्वाप मात्र कथन भाव नहीं किन्तु याग भी अभिप्रेत है उसी भाँति उन वाक्यों में याग विधान से ही तात्पर्य है न कि वहाँ गुण विधान अथवा निर्वाप मात्र विधान से प्रयोजन है ।

सं०—'वत्सया लभते' में संस्कार कर्म का विधान है इसका निरूपण करते हैं ।

* निर्णय का अर्थ शान्त करना अथवा प्रदान करना है ।

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

प० क्र०—(विषये) याग विधि है अथवा संस्कार विधि है इस संशय के उपस्थित होने पर (प्राय दर्शनात्) प्रकरण बलादेश से निश्चय करे।

भा०—अग्निहोत्र के प्रकरण में 'वत्सयालभेत' में यह वाक्य प्रधान अथवा स्पर्श रूप संस्कार मात्र का विधायक है इसको स्पष्ट करने के लिए यह समाधान है कि गो दोहन=गौ का दुहना आदि विधि कर्त्ता वाक्यों में वह पाठ है। दुहना संस्कार कर्म है उनके बीच में होने से वत्सालम्भन भी संस्कार कर्म ही है क्योंकि लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है कि प्रधान पुरुषों की कक्षा में प्रधान का ही लिखा नाम प्रधान होता है विना फल सुने जाने के विधान का मानना ठीक नहीं। अतः वह वाक्य वत्स (बछड़े) के छूने रूप संस्कार मात्र का विधानकर्त्ता है न कि याग का।

सं०—इस अर्थ में अब हेतु देते हैं।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

प० क्र०—(च) तथा (अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद से भी उस अर्थ की सिद्धि है।

भा०—जैसे इस वाक्य शेष रूप अर्थ वाद उस वाक्य की समीपता में पढ़ा है कि 'वत्स निकान्ता हि पशवः' पशु अपने बछड़े से प्यार करने वाले होते हैं* दोनों वाक्यों के योग से यह कह सकते हैं कि जिस लिए

* यस्मात् वत्स प्रियाः पशवः तस्माद्वत्स आलब्धव्यः

पशुओं को अपने बच्चे प्यारे हैं इसलिये वत्स (बछड़े) का आलम्भ् करना ठीक है। जब गौ दुहने के समय उसका बछड़ा गौ के सम्मुख खड़ा किया जाता है तो वह गौ प्रसन्न हो कर दूध की धारायें छोड़ने को उद्यत होती है अतः उस समय बछड़े की पीठ पर हाथ फेरना चाहिये, यह अर्थ वाद करने का भाव है। यदि 'आलम्भ' क्रिया का अर्थ स्पर्श करना हाथ फेरना आदि न किया जाकर परित्याग ही किया जावे तो अर्थ वाद नहीं बन सकेगा क्योंकि पास परित्याग से गौ का प्रसन्न होना अस्वाभाविक है। अतः उस वाक्य में प्रधान कर्म का विधान नहीं किन्तु गौ वत्स लालन पालन लक्षण स्पर्श रूप संस्कार का ही विधान है।

सं०—'चरुमुपध्यति' यह वाक्य संस्कार कर्म का विधान करने वाला है इसे कहते हैं।

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥

प० क्र०—(अर्थ शब्देन) उपधान रूप कर्म वाची उपदधाति क्रिया के साथ (संयुक्तः) नियोजित जो चरु वह (तदर्थ) उपधान के निमित्त है (तु) न कि याग के लिये क्योंकि (श्रुति संयोगात्) इससे सुने हुए अर्थ का लाभ है।

भा०—'चरुमुपदधाति' अग्नि चयन प्रकरण में पाठ है यह वाक्य नीवार (साठी के चावल) का चरु द्रव्य साधन रूप प्रधान कर्म का विधान करने वाला है अथवा चरु के उपधान रूप संस्कार मात्र का विधान

करता है तो इस का उत्तर यह है कि* चरु का योग "उपदधाति" के साथ है न कि 'यजति' के साथ, यदि 'यजति' के साथ कल्पना पूर्ण सम्बन्ध माना जावे तो कल्पना गौरव दोष आता है और सुने हुए 'चरु' और उपधान के सम्बन्ध की हानि होती है यह ठीक नहीं। चरु के उपधान मानने से सुने हुए अर्थ का लाभ है क्योंकि उपधान चरु का संस्कार ही तो है, अतएव वह वाक्य प्रधान कर्म का विधान कर्त्ता नहीं, किन्तु उपधान रूप संस्कार का है।

सं०—पर्य्यग्निकृत वाक्य भी संस्कार का विधान कर्त्ता है।

पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥१६॥

प० क्र०—† (पात्नीवते) वाक्य विशेप में (अविच्छेदः) सामान्य याग में अभिलाषित द्रव्य संस्कार का विधान है न कि अपूर्व याग का, क्योंकि (पूर्वत्वात्) याग पद पूर्व ही आ चुका है।

भा०—'त्वाष्ट्र पात्नीवत' नामक याग में त्वाष्ट्रं पात्नीवत् आलभते' अर्थात् परमात्मा विश्वकर्मा के जो सर्व शक्ति युक्त है उसके उद्देश्य से पशु उत्सर्ग करे इसमें आलभते पद का उत्सृजन्ति पद से अनुवाद हुआ है और 'पात्नीवत्' पद से प्रकृत 'त्वाष्ट्र पात्नीवत' पशु का विचार भी है कारण कि एक देश का ग्रहण भी समूह का परामर्शक है अतएव उक्त वाक्य में

* 'चरु' चार मुट्ठी साठी के चांवल के भात को 'चरु' और उसके स्थान विशेष में रखने को 'उपधान' कहते हैं।

† पर्य्यग्निकृतं पात्नीवत मुत्सृजन्ति' वाक्य है।

अपूर्व कर्म का विधान नहीं किन्तु प्रकृत याग का अनुवाद करके उसके साधन पशु में पर्य्यग्नि करण रूप संस्कार का विधान करता है और जो प्रकृत याग में पशु दिया जाता है उसका पर्य्यग्नि करण पर्य्यन्त ही संस्कार करके पान होता है न कि उसमें अग्नि सम्वन्धी संस्कार आपेक्षित होता है। सारांश यह है कि 'दर्भमुष्टि' अथवा कुशामुष्टि के आगे के भाग में अग्नि लगाकर पशु के चारों ओर घुमाने रूप संस्कार जिसे पर्य्यग्नि करण संस्कार कहते हैं करना मात्र विधान है ।

सं०—'अदाभ्य' पात्र विशेप का निरूपण करते हैं।

अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ॥ २० ॥

प० क्र०—(अद्रव्यत्वात्) द्रव्य और विना देवता के (केवले) केवल 'अदाभ्य' और 'अंशु' ग्रहण सुने जाने से याग विधान की कल्पना नहीं क्योंकि (कर्मशेपः) ज्योतिष्टोम कर्म का अंग (स्यात्) है न कि प्रधान कर्म का ।

भा०—द्रव्य और देवता दोनों याग के स्वरूप हैं जहाँ इन दोनों की प्राप्ति हो वह याग का विधान करने वाला है। इस वाक्य में 'एप ह वै हविषा हवि र्यजते योऽदाभ्यं ग्रहीत्वा सोमाय यजते' अर्थात् वही पुरुप हवि से हवन करता है कि जो 'अदाभ्य' लेकर सोम्यगुरु रूप परमात्मा के निमित्त हविर्दान करता है क्योंकि वह 'परा वा एतस्या युः प्राण इति योऽशु' गृह्णाति अर्थात् उस पुरुप का प्राण आयुका लाभ करता

है इन वाक्यों में द्रव्य तथा देवता वाची कोई शब्द नहीं और प्रथम वाक्य में याग वाची 'यजते' पद है उस से उपदिष्ट होने से 'अदाभ्य' का सम्बन्ध नहीं किन्तु वह 'गृहीत्वा' पद से मिला हुआ है और 'अंशु' वाक्य में तो याग वाची कोई भी पद नहीं अतः वे वाक्य याग के विधान करने वाले नहीं प्रत्युत ज्योतिष्टोम यज्ञ में दोनों ग्रहों के पकड़ने का विधान करते हैं* न कि किसी याग विशेष का।

सं०—अब अग्नि चयन संस्कार कर्म का निरूपण किया जाता है।

अग्निस्तु लिंगदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयते ॥२१॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष परिहार कर्त्ता है। (अग्निः) अग्नि वाक्य (क्रतुशब्दः) याग का नाम (प्रतीयेत) प्रतीत होता है क्योंकि (लिङ्ग दर्शनात्) उसके बतलाने वाले स्तोत्र तथा शस्त्र रूप चिन्ह मिलते हैं।

भा०—जिसका जिससे सम्बन्ध नियत है उसके देखने से उसका ज्ञान उस नियम से होता है उसी प्रकार स्तोत्र और शस्त्र का भी याग से एक नियत सम्बन्ध है जैसे अग्ने=स्तोत्र यग्ने=शस्त्रम् 'इसमें अग्नि सम्बन्धी स्तोत्र और शस्त्र है इस वाक्य से पाया जाता है कि अग्नि याग का नाम है और य एवं विद्वानग्निं चिनुते† इस वाक्य में 'चिनुते' पद

* 'अदाभ्य' और 'अंशु' नामक दो 'ग्रह' अर्थात् पात्र विशेष का नाम है जो ज्योतिष्टोम याग में काम में आते हैं।

† उत्तर वेदि (स्थण्डिल) में संस्कृत अग्नि का 'चयन' नाम स्थापन क्रिया को 'चयन' कहते हैं।

लक्षण वृत्ति से याग वाची है अतः वाक्य अग्नि चयन रूप संस्कार कर्म का विधान् कर्त्ता नहीं किन्तु 'अग्नि' संज्ञक अपूर्व कर्म का बतलाने वाला है।

सं०—इसका समाधान यह है।

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥ २२ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (द्रव्यं)* अग्नि के (चोदनायाः) प्रेरणा से (तदर्थत्वात्) उसके स्थापन अर्थ से है।

भा०—वैदिक कर्म काण्डी गार्हपत्यादि रूप से स्थापित अग्नि को वेदि (स्थण्डिल) में स्थापन करने 'चयन' संस्कार कहते हैं जैसे कोई एक चौकी पर रक्खी संहिता को अन्यत्र रख देवे तो वह स्थान संस्कार मात्र होता है उसी प्रकार उस 'चयन' जो आधान की हुई अग्नि है उसका संस्कार है यह चिनुते पद का अर्थ हैं यहाँ लक्षण करने से यह अर्थ अमुख्य हो गया अतः 'चयन' का याग विशेष में लक्षण करने से 'याग कर्तव्य' होते है चिनुते पद अमुख्य पद है अमुख्य होने से मुख्य पद ग्रहण का चिन्तवन करने से अग्निपद का 'ज्वलन' द्रव्य विशेष में प्रसिद्धि होने से लिङ्गाभास करना पड़ने से प्रसिद्धि की हानि होती है अतः समीचीन नहीं अतएव यही ठीक है कि अग्नि संज्ञक अपूर्व याग का विधायक वह पद

* यहां अग्नि शब्द का अर्थ है आधान और ज्वलन नामक अपर द्रव्य का नाम है।

नहीं किन्तु केवल अग्निचयन रूप संस्कार कर्म का ही बतलाने वाला मानना चाहिये ।

सं०—'अग्निः स्तोत्रम्' में अग्नि पद याग वाची है इस लिङ्ग का समाधान कियाजाता है ।

तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥ २३ ॥

प० क्र०—(क्रतु संयोगात) यज्ञ के साथ अग्नि का अङ्गाङ्गि भाव रूप सम्बन्ध है (तदाख्यं) लिङ्ग वाक्य में अग्नि पद (क्रतुः) ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक (स्यातः) है अतः (तेन) वह वाक्य (धर्म विधानानि) याग में स्तोत्र एवं शस्त्र रूप गुण का विधान करता है नकि संज्ञा का बोधक है ।

भा०—'अग्ने स्तोत्र थंग्नेः शस्त्रम्' इस वाक्य में अग्नि पद का प्रयोग ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रयोजन से हैं नकि 'अग्नि' नामक किसी यज्ञ का प्रयोजन है। अग्नि पद का उस यज्ञ से अङ्गाङ्गि सम्बन्ध है अतः वह वाक्य ज्योतिष्टोम यज्ञ में स्तोत्र शास्त्र रूप गुण विशेप का विधायक है नकि 'अग्नि' को किसी अपूर्व याग का सिद्ध कर ने वाला है ।

सं०—'मासाग्नि होत्र' पद में कर्मान्तर का विधान करते हैं ।

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥ २४ ॥

प० क्र०—(प्रयोजनान्यत्वं) नित्य अग्नि होत्र कर्म से 'मासाग्नि होत्र' कर्म भिन्न है क्योंकि (प्रकरणान्तरे) वह अन्य प्रकरण से विदित है ।

भा०—जो वाक्य जिस कर्म के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया है वह उस में गुण विधायक नहीं क्योंकि उस का वाक्य का सम्बन्ध नहीं हैं और 'कुण्डपायि नामयन' नामक सूत्र के प्रकरण में पढ़ा हुआ* अग्नि होत्र तथा नियत दर्शपूर्ण मास के प्रकरण में नहीं पढ़ा जाता है अतएव उस में 'मास' रूप गुण विशेष का वह विधान नहीं करने से वह नित्य कर्म से भिन्न मासाग्नि होत्र† आदि कर्म विशेष का ही विधान करनेवाला कहा जा सकता है।

सं०—'आग्नेय' आदि वाक्य को कर्मान्तर में विहित सिद्ध करते हैं।

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥ २५ ॥

प० क्र०—(च) तथा (अकर्म सन्निधौ) अनारभ्याधीत आदि वाक्य में (फलं) सुने हुये फल प्रकरणान्तर से कर्म भेद करने वाले हैं।

भा०—यद्यपि 'आग्न्येय' पद प्रकरण में नहीं पढ़ा गया है परन्तु कर्म फलान्तर से वह निराकांक्ष पद है और विना आकांक्षा के फल नहीं होता। परन्तु जिसका फल सुना जाता है इसलिये उसका कर्म संयोग अवश्य है। ऐसी दशा में दर्श पूर्ण मास में आया

* कुण्डपायि नाम यन नामक सत्र में 'मास मग्नि होत्रं जुहोति' दर्श पूर्णमासाभ्यां यजते' आदि वाक्य हैं।

† जिस यज्ञ में अनेक यजमान तथा स्वयं ऋत्विक होते हैं वह 'सत्र' कहलाता है।

'आग्नेय' याग में तेज फल प्राप्ति का विधान नहीं किन्तु उस कर्म से पृथक फल सहित 'आग्नेय' नामक कार्य कर्म का ही वह विधायक है ऐसा मानना चाहिये।

सं०—अवेष्टि याग में 'एतया' आदि वाक्य फल विधायक हैं इसे कहते हैं।

सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥

प० क्र०—(सन्निधौ) अवेष्टि यज्ञ की समीपता में पढ़ा हुआ 'एतया' वाक्य (फलार्थेन) फल सम्बन्ध के लिये (पुनः श्रुतिः) अवेष्टि याग का फिर फिर करने का विधायक है (तु) नकि कर्मान्तर का (अविभागात्) अविभाग होने से।

भा०—'एतयाऽन्नाद्य कामं याजयेत्' इस वाक्य में (एतया) अर्थात् 'एतत्' शब्द है वह भी प्रकृत याग का ही परामर्शक है और 'अवेष्टि'* नामक याग में उसकी फलाकांक्षा है अतः वह वाक्य प्रकृत अवेष्टि याग में फल विधायक होने से कर्मान्तर नहीं कहा जा सकता।

सं०—अब 'आग्नेय' वाक्य को अर्थवाद कहते हैं।

आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥ २७ ॥

प० क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। (आग्नेयः) आग्ने आदि वाक्य में बारम्बार आग्नेय याग सुने जाने से (अभ्यासेन) भिन्न अनुष्ठान के निमित्त है क्योंकि

* इसका वर्णन आगे आवेगा।

(उक्त हेतु त्वात्) बारम्बार श्रुति कर्म भेद का साधक है।

भा०—बारम्बार श्रवण किया जाने से आग्नेय द्विरुक्ति वाक्य अर्थवाद नहीं हो सकता किन्तु वह पूर्व वाक्य में बतलाये आग्नेय याग से पृथक् अनुष्ठान के निमित्त 'आग्नेय' नामक यागान्तर का ही विधान करता है*।

सं०—इस का समाधान करते हैं।

अविभागात्तु कर्मणां द्विरुक्तेन विधीयते ॥ २८ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है (द्विरुक्ते) पुनः पुनः कथन होने से भी (न विधीयते) कर्मान्तर का उक्त वाक्य में विधान ही क्योंकि (कर्मण) पूर्व वाक्य विहित कर्म में (अविभागात्) इस वाक्य विधान कर्म का सामृञ्जस्य अर्थात् एकता है।

भा०—'आग्ने' याग की दो बार श्रुक्त मिलती है तथापि वहां कर्म भेद का तात्पर्य नहीं क्योंकि प्रकरण तो एक ही है अतएव वह वाक्य पूर्व वाक्य में बतलाये कर्म से भिन्न आग्नेय कर्म को नहीं बतलाता किन्तु पूर्व बतलाये कर्म का ही विकल्प से विधान करता है।

सं०—पुनः पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

अन्यार्थो वा पुनः श्रुतिः ॥२६॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष का परिहार करता है और एक देशी के समाधान को 'समाधाना भास' मात्र बतलाता है।

* बारम्बार विधान का समर्थक मीमांसा० २।२। में पूर्व ही कहा गया है।

(पुनः श्रुतिः) आग्नेय याग का वारम्बार श्रवण (अन्यार्था) ऐन्द्र याग स्तावक होने से है।

भा०—जब प्रकरण की एकता और पूर्व कथित याग की समानता से अभेद है तो वह वाक्य विकल्प से भी विधायक नहीं कहे जा सकते किन्तु वह अनुवाद ही रहेंगे। प्रयोजन हीन अनुवाद वृथा ही हैं क्योंकि अनुवाद केवल विधेय की स्तुति के लिये होता है यहाँ विधेय 'आग्नेय याग' है। अतएव वह वाक्य उस याग से पृथक् यागान्तर को नहीं कहता किन्तु उस याग का स्तावक अर्थवाद है अर्थात् प्रकृत याग का देवता अग्नि परमात्मा होने से परम तेजस्वी है।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः समाप्तः।

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः प्रारभ्यते

सं०—"जब तक जिये अग्निहोत्र कर्म करे" इसमें पूर्व पक्ष करते हैं।

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥ १ ॥

प० क्र०—(यावज्जीविकः) जीवन पर्यन्त होने वाला। (अभ्यासः) फिर-फिर अनुष्ठान। (कर्म धर्मः) अग्निहोत्र कर्म का कर्म है कारण कि (प्रकरणात्) कर्म का प्रकरण होने से।

भा०—"यावज्जीव अग्नि होत्रं जुहोति" और यावज्जीवं दर्श पूर्ण मासाभ्यां यजेत 'यह काम्य कर्मों में पठित वाक्यों में 'यावज्जीव' शब्द का अर्थ जीवनकाल पर्यन्त है वह कर्म का धर्म है न कि पुरुष का कर्म जो वहाँ प्रकरण से ही प्राप्त है अतः उक्त वाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि कर्म में यावज्जीव रूप धर्म के विधान कर्त्ता हैं न कि पुरुष गत धर्म के विधायक हैं।

सं०—इस पक्ष का समाधान किया जाता है।

क्रतुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥ २ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष परिहार के निमित्त प्रयोग है (क्रतुः) यावज्जीव पुरुष का धर्म है क्योंकि (श्रुति संयोगात्) मुख्यार्थ लाभ होने से।

भा०—यहाँ यावज्जीव शब्द जीवन काल का लक्ष्यार्थ है वाच्यार्थ नहीं उसका वाच्य अर्थ कृत्स्न जीवन है जो पुरुष धर्म होने योग्य है न कि कर्म का धर्म होने से क्योंकि वह तो जड़ है अतः ऐसे वाक्य पुरुष धर्म करने योग्य जीवन रूपनिमित्त के होते प्रकृति अग्निहोत्र आदि काम्य कर्म मे प्रथक् नैमित्तिक अग्नि होत्र कर्म का विधान करते हैं न कि प्रकृत कर्म के धर्म भूत जब तक जिये उस अभ्यास का विधान करते हैं।*

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात् ॥ ३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिन्ह मिलने से कि जब तक जिये तब तक कर्म करे यह पुरुष धर्म है न कि कर्म का (हि) इस लिये कि (कर्म धर्म) कर्म का धर्म होने से (प्रक्रमेण) आरब्ध कर्म का (नियम्येत) मरण पर्यन्त समाप्ति का नियम हो तो (तत्र) ऐसा नहीं (अन्यत्) फल क्षय श्रवण से (अनर्थक) वृथा (स्यात्) है।

* कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः आदि प्रमाण है।

भा०—जरामर्य्यं वा एतत्सत्रं यदग्नि होत्रं दर्श पूर्ण मासौ जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्यु नाच अर्थात् जरा मरण पर्य्यन्त प्रति पर्व समाप्ति पर अग्नि होत्र और दर्श पौर्ण मास यज्ञ करता रहे तो मृत्यु होजाने पर समाप्त होना चाहिये बीच में नहीं परन्तु ऐसा होने से "अपि हवा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्श पूर्णमासयाजी पौर्ण मासीम मावस्यो वा अति पात येत् "इस वाक्य में किजो दर्श पूर्ण याग को आरंभ कर उसी बीच में छोड़ दे उसके दोनों लोक ऐहिक और पारलौकिक) सुख क्षीण होते हैं इसमें फल क्षयकथन किया गया है वहनष्ट होता है क्योंकि वह अभी तक अपूर्ण है वह तो आयु पर्यन्त ही होना चाहिये था बीच में नहीं छोड़ना था) अतः सिद्ध हुआ कि यावज्जीव कर्म का धर्म नहीं किन्तु पुरुष धर्म है और वह प्रति दिन समाप्त हो जाने से बीच में छूट सकते हैं अतएव उन्हीं अग्निहोत्रादि कार्य कर्म से प्रथक् जीवन नैमित्तिक अग्नि होत्रादि नित्य कर्म के विधायक मानना चाहिये नकि यावज्जीव रूप गुण के विधायक समझना ठीक है।

सं०—इसमें यह हेतु भी है।

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

प० क्र०—(व्यपवर्गं) दर्श आदि कर्म की समाप्ति (च) तथा कर्मान्तर विधि (दर्शयति) वाक्यान्तर में मिलती है (चेत) यदि (कालः) दर्श कर्म की समाप्ति के पश्चात् काल का शेष है तो (कर्मभेदः) तब ही कर्म विशेष का विधान (स्यात्) है।

भा०—'दर्शपूर्ण मासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत्' दर्श पूर्ण मास यज्ञ करके ज्योतिष्टोम याग करे इस वाक्य में दर्श पूर्ण मास कर्म की समाप्ति और तदनन्तर ज्योतिष्टोम याग की विधि कही गई है यदि यावज्जीव ही कर्म धर्म मानें तो कर्म समाप्ति और पुनः समाप्ति के कर्मान्तर की विधि न बतलाई जाती। क्योंकि जीवन भर में पूर्ण होने वाले कर्म बीच में पूर्ण और तदनन्तर पुनः कर्मान्तर की विधि नहीं हो सकती परन्तु उस वाक्य से दोनों विधियाँ मिलती हैं अतः यही ठीक है कि 'यावज्जीव' पुरुप धर्म है नकि कर्म का धर्म है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं कि:—

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ५॥

प० क्र०—(तु) तथा सामान्य अग्निहोत्रादि काम्र्य कर्म (एवं) इसी प्रकार जरा, मृत्यु अवधि वाला (नस्यात) नहीं होता (अनित्यत्वात्) क्योंकि वह अनित्य है।

भा०—वृद्धावस्था और मरण पर्यन्त अग्निहोत्र कर्त्तव्य हैं क्योंकि 'जरामर्य्यं वा एतत्' इस वाक्य से ऐसा ही सिद्ध है कि वैदिक कर्म न छोड़े। परन्तु यह काम्य कर्म की नित्यता बतलाता है नकि काम्य पक्ष की। काम्य कर्म स्वेच्छा पर करने अथवा न करने योग्य होते हैं परन्तु प्रत्यवाय तभी होगा कि जब कर्त्तव्य कर्म न होगा, अतएव सामान्य अग्निहोत्रादि कामना

वाले कर्मों से नित्य अग्निहोत्र कर्म पृथक है और पूर्वोक्त वाक्य उसी का विधान करता है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं:—

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (पूर्ववत्). पूर्व कहे दोषों के समान (विरोधःअपि) अनुष्ठान न करने से रूप लक्षण दोष भी आता है।

भा०—यज्ञ के दो रूप प्रकृति तथा विकृति नामक हैं। जो अन्न साध्य याग हैं उनकी संज्ञा प्रकृति याग दर्श पूर्ण मास है और 'सौर्य' याग को विकृति याग कहा है इन दोनों यागों के धर्म में भेद नहीं क्योंकि प्रकृति याग समान ही विकृति भाग भी होता है बस यदि जब तक जिये यज्ञ करे इसे दर्श पूर्ण मासादि कर्म-धर्म माना जावे तो सौर्य याग का भी धर्म स्वीकार करना होगा। परन्तु इसमें अनुष्ठान का अभाव रूप दोष आता है। अनुष्ठान यावत आयुष नहीं हो सकते, केवल दो या एक दिन के ही अनुष्ठान हो सकते हैं क्योंकि बीच में समाप्ति न हो सकने से वह पुरुष धर्म ही है न कि कर्म का माना जावेगा।

सं०—इसका उपसंहार करते है।

क्रतुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(काल शास्त्रे) समय शास्त्र के समान वाक्य। (निमित्ते) जीवन रूप निमित्त। (क्रतुःधर्म निय-

मात) जब तक जिये कर्ता का धर्म नियम है। (तु) नकि कर्म के धर्म का।

भा०—जब तक जीता रहे यही अर्थ 'यावज्जीव' का है क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' में यह पद आया है। इसका भाव पुरुष धर्म ही है न कि कर्म का। अर्थात् जीवन रूप निमित्त के होने से अग्निहोत्र कर्मों के नियम का विधान है अर्थात् वह सायं प्रातः किया जावे यह रहस्य है।

सं०—सब शाखाओं में वैदिक कर्मों को समन्वय करते हैं।

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥ ८ ॥

प० क्र०—(शाखान्तरेषु) शाखाओं में*। (कर्मभेदः) कर्मों का परस्पर भेद। (स्यात्) है कारण कि। (नाम रूप धर्म विशेष पुनरुक्ति निन्दा शक्ति समाप्ति वचन प्रायश्चित्ताऽन्यार्थ दर्शनात्) नाम भेद, स्वरूप भेद, धर्म भेद और पुनरुक्ति आदि पाई जाती हैं।

भा०—ब्राह्मणों और काठादिक शाखाओं में अग्निहोत्र का विशद वर्णन पाया जाता है वह प्रति शाखा भेद से पृथक-पृथक है अथवा एक ही है क्योंकि कर्म भेद

* शतपथ, गोपथ, साम, और ऐतरेय ब्राह्मण, काठक, कालापक काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तरीयादि शाखायें हैं। यह सब मिलकर ११२७ शाखायें हैं।

के कारण नाम भेद से वह नौ कारण वाले हैं* अतः
वह भेद ही है न कि एक ही है।

---

१ नाम भेद—जैसे काठक शाखा में पढ़े गये कर्म काठ कहे जाते हैं और कालापक में पठित कालापक हैं।

२ रूप भेद—जैसे-द्रव्य और देवता याग रूप कहे गये हैं परन्तु कहीं ग्यारह कपाल और कहीं बारह कपाल रूप भेद से प्रति शाखा कर्म भेद पाया जाता है।

३ धर्म भेद—जैसे तैत्तरीय शाखा में 'कारीरी' वाक्यों के अध्ययन समय भूमि पर भोजन करते हैं परन्तु अन्य नहीं करते कोई कोई अग्न्याधान प्रकरण में अध्यापन काल में अध्यापक को जल कुम्भ देते हैं अन्य नहीं। अश्व मेध प्रकरण में अध्ययन काल में अध्यापक के घोड़े को घास का देते हैं सब नहीं करते अतः अपने अपने आचरण भेद से कर्म भेद हैं।

४ पुनरुक्ति—जैसे एक ब्राह्मण अथवा शाखा में बतलाये कर्म के ब्राह्मणान्तर अथवा शाखान्तर में फिर बतलाये जाने का नाम फिर कथन है जब कर्म एक ही है तो पुनरुक्ति वृथा है परन्तु यह पुनर्कथन मिलता है अतः कर्मभेद अवश्य है।

५ निंदा—जैसे कुछ शाखावाले कहते हैं सूर्योदय से पूर्व हवन मिथ्या बोलने के समान है क्योंकि सूर्योदय समय के पाठ तथा क्रिया उसके उदय पर ही सार्थक है इसी भाँति जब उदय न हो होम करे। कई कर्म जैसे भागे हुये अतिथि के पीछे अन्न ले जाना वैसे ही सूर्योदय पर होम है अतः उदित और अनुदित होम की निन्दा पाई जाती हैं जैसेः—

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात जुह्वति "तथा यथाऽतिथ ये प्रद्रुता याल माहरे युस्ता हगे तद् तद् उदित जुह्वति" दोनों प्रकार निन्दा है।

सं०—इसका समाधान किया जाता है।

एवं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥६॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग है। (एवं) प्रति ब्राह्मण तथा शाखा में अग्निहोत्र एक ही है भेद नहीं कारण कि (संयोग रूपचोदना ऽऽख्याऽविशे-

६ अशक्ति भेद—जैसे बहुत से ऐसे कर्म हैं कि जिन्हें करना अति दुस्तर है जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित अग्नि होत्र का सांगोपांग करना अतः ब्राह्मण और शाखा कर्म भेद हैं।

७ समाप्तिवचन—शाखा वाले कहते हैं कि "अत्रास्माक मग्निःपरि समाप्यते" और दूसरे "अन्यत्र परि समाप्यते" यहां पर केवल शब्द और अन्यत्र समाप्ति के भेद से कर्म भेद पाया जाता है।

८ प्रायश्चित—कुछ शाखावाले न उदय हुये सूर्य काल में होम के निकल जाने पर प्रायश्चित करते हैं दूसरे उदित होम के निकल जाने पर प्रायश्चित करते हैं अतः प्रति ब्राह्मण और शाखा कर्म भेद हैं।

९ अन्यार्थ दर्शन—जैसे किसी ने याग दीक्षा ली तो वह प्रथम 'दीक्षित' हुआ और वही 'ज्योतिष्टोम' (बृहत्सामा) कर सकता है वही 'रथन्तर सामा' करे यह दोनों याग १२ दिन में हो सकने से 'द्वादशाह' और ज्योतिष्टोम के अवान्तर भेद से है यहाँ दीक्षित और अदीक्षित दोनों प्रकार का अधिकार मिलता है परन्तु ब्राह्मणान्तर में कहा गया है ज्योतिष्टोम प्रथम याग है इसे छोड़कर अन्य याग कर्त्ता अवनति को प्राप्त होता है इसमें 'अदीक्षित' का अधिकार मिलता है अतः कर्मभेद है वह वाक्य यह हैं "एष वाक् प्रथमोयज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः य एतेना विष्टवाऽथान्येन यजेत गर्त्त पत्य मेवतज्जायेत युवामीयेत"।

षात्) फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम का सर्वत्र समन्वय है।

भा०—जैसा एक ब्राह्मण ग्रन्थ तथा एक शाखा में अग्निहोत्र का फल स्वरूप विधान है उसी भाँति ब्राह्मणान्तर और शाखान्तर में भी है। यदि उनका भेद होता तो फलादि भेद भी अवश्य होता। परन्तु ऐसा नहीं है फल सर्वत्र एक ही है। अतः ब्राह्मण और शाखा के भेद से कर्मभेद नहीं किन्तु कर्म सर्वत्र एक ही है।

सं०—नाम भेद रूप हेतु का निराकरण करते हैं।

न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥१०॥

प० क्र०—(नाम्ना) नामभेद से। (नस्यात्) अग्निहोत्र कर्मों का भेद नहीं क्योंकि (अचोदनाभिधानत्वात्) उनकी विधि वाक्यों में प्रेरणा नहीं है।

भा०—"अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य में जो कर्म कथन किया गया है उसी भेद से कर्म का भेद सम्भव है अन्यथा नहीं। जो काठ आदि कालापक ग्रन्थों से संयोग से है नकि विधि वाक्य कहे जाने से वह कर्मभेद के प्रेरक नहीं हैं।

सं०—इसमें युक्ति देते हैं।

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

प० क्र०—(च) और। (सर्वेषां) अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि सब यज्ञ। (एक कर्म्यं) एक ही कर्म। (स्यात्) हैं।

भा०—तैत्तरीय ब्राह्मण में सम्पूर्ण कर्म, अग्निहोत्र विषयक पढ़े गये हैं परन्तु वह ग्रन्थ संयोग से होतव्य कर्म कर्मभेद का कारण है तो सब को एक ही कर्म होना चाहिये क्योंकि यह 'तैत्तरीय' इस नाम करके हैं।

सं०—इसमें युक्ति यह भी है।

कृतकंचाभिधानम् ।१२।

प० क्र०—(च) तथा (अभिधानं) काठक, कालापक, नाम (भेद कृतकं) न रहने वाले हैं।

भा०—जब से कठ, कालापक आदि आदि प्रवचन हुए तभी से काठक, कालापक नाम पड़े परन्तु इससे पूर्व यह नाम न थे अतः वह अनित्य हैं और इसी कारण कर्मभेद के के भाव वाले नहीं कहे जा सकते।

सं०—रूप भेद का निराकरण किया जाता है।

एकत्वेऽपि परम् ।१३।

० क्र०—(एकत्वे अपि) प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा कर्म के एक होने पर भी (परं) एकादश कपाल और द्वादश कपाल का प्रवचन विकल्प के आधार पर हो सकता है।

भा०—एकादश कपाल और द्वादश कपाल कथन विकल्प अभिप्राय से है न कि कर्म भेद अभिप्राय से अतः उसे कर्म भेद का प्रेरक नहीं कह सकते।

सं०—धर्म भेद के हेतु देते हैं।

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥

प० क्र०—(विद्यायां) कारीरी आदि अध्ययन वाक्य (धर्मशास्त्रे) शास्त्र में बतलाये भूमि भोजन अंग हैं न कि कर्म में।

भा०—'कारीरी वाक्यों के अध्ययन पर भूमि पर भोजन करना अथवा अध्यापक को जल-कुम्भ लाना किम्वा थोड़े को घास लाना वह कर्माङ्ग नहीं है किन्तु वह अध्ययनाङ्ग है अतः वह कर्म भेदक नहीं।

सं०—पुनरुक्ति हेतुक समाधान करते हैं।

आग्नेयव पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥

प० क्र०—(आग्नेयवत्) आग्नेय यज्ञ के समान (पुनवर्चनम्) पुनरुक्ति अनुवाद है।

भा०—जिस प्रकार 'अमावस्या' 'अग्नेय याग' की प्राप्ति पर वाक्यान्तर द्वारा 'यदाग्ने योऽष्टा कपालः" से उसका अनुवाद किया जाता है उसी भांति एक ब्राह्मण से शाखा से उस कर्म का ब्राह्मण में तथा शाखा में अनुवाद किया गया है अतः वह कर्म भेद का प्रेरक नहीं।

सं०—इसी को पुनः पुष्ट करते हैं।

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् १६

प० क्र०—(वा) सूचनार्थ है (वा) अथवा (अद्विर्वचनं) ब्राह्मण तथा शाखा में पुनर्वचन नहीं (श्रुति संयोगा विशेषात्) वेद सम्बन्ध सर्वत्र समान है।

भा०—एक व्यक्ति के कथन में पुनर्वचन हो सकता है परन्तु ब्राह्मण एवं शाखाओं के अनेक बनाने वाले हैं और वह एक वेदोक्त अग्नि होत्र कर्म का प्रवचन करते है उनका एक ही कर्म के प्रति उपदेश हो सकता है अतएव प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा उस कर्म का प्रवचन करने पर भी वह पुनरुक्ति नहीं।

सं०—पुनः युक्ति देते हैं।

अर्थासन्निधेश्च १७

प० क्र०—(च) पुनः (अर्थासन्निधेः) एक शाखायें उस अग्निहोत्र रूप अर्थ का शाखान्तर में कहे हुये सम्बन्ध से वह पुनरुक्ति नहीं मानी जाती।

भा०—जहाँ ब्राह्मण में तथा शाखा में अग्निहोत्र का वर्णन है उसी ब्राह्मण तथा शाखा में उस कर्म के पास उस अग्निहोत्र कर्म का कथन किया गया होता तो पुनरुक्ति कथन संभव था परन्तु ऐसा न होने से पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती।

सं०—इसमें हेतु और भी है।

न चैकं प्रति शिष्यते १८

प० क्र०—(च) पुनः (एकं प्रति) ब्राह्मण तथा शाखा में विपयक पुरुष के प्रति अग्निहोत्र करणोपदेश है (न शिष्यते) न होने से।

भा०—सर्व मनुष्यों के कल्याण—निमित्त अग्निहोत्र प्रवचन है किसी व्यक्ति विशेष के निमित्त नहीं अतः मही दासादि ऋषियों ने ऐतरेय आदि ग्रन्थों में अग्निहोत्र बतलाया है इससे वह पुनरुक्ति नहीं क्योंकि उस प्रवचन का उद्देश्य प्राणी-मात्र का कल्याण है। यदि वह किसी स्त्री-पुरुष विशेष के निमित्त होता तो कुछ पुनर्वचन कहा जा सकता था परन्तु ऐसा न होने से कर्म सर्वत्र एक ही है। ब्राह्मण तथा शाखा भेद से अग्निहोत्र कर्म में भेद नहीं।

सं०—'समाप्ति वचन' रूप का हेतु का समाधान करते है।

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा १९

प० क्र०—(च) (तथा समाप्तिवत्) कर्म समाप्ति का बतलाने वाला वचन होने से उससे (सम्प्रेक्षा) प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा कर्म का भेद ही है।

भा०—इस वाक्य में कि "अत्रास्माक मग्नि परि समाप्यते" जो 'अस्माकं पद है उससे विदित होता है कि अग्नि कर्म सर्वत्र एक ही है केवल समाप्ति भेद हैं परन्तु यदि कर्म भेद होता तो 'अस्माकं पद प्रयोग न होता इससे भी कर्म का भेद न होकर कर्म एक ही माने हैं।

सं०—निन्दा, अशक्ति तथा समाप्ति वचन तीनों को कर्म भेद में अहेतुक कथन करते हैं।

एकत्वेऽपिपराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥

प० क्र०—(एकत्वेअपि) प्रति ब्राह्मण तथा शाखा में एक ही अग्नि होत्र का प्रवचन होने से (निन्दाऽशक्ति समाप्ति वचनानि) निन्दा, अशक्ति तथा समाप्ति वचन (पराणि) तीनों होते हैं।

भा०—जिन वाक्यों में 'उदिते जुहोति तथा अनुदिते जुहोति' विधि वाक्य पढ़े गये हैं उनका अर्थ दोनों प्रकार के विधान कर्म से हैं निषेध से नहीं परन्तु विषय विधान होने से विकल्प विधान किया गया है अर्थात् यथावकाश होम कर ले बन्धन नहीं यह 'निन्दा' का अर्थ है। अतएव एक ही वेदोक्त अग्नि होत्र कर्म के विकल्प विधान में प्रयोजन पाये जाने से वह निन्दा

कर्म भेद का अर्थ नहीं रखती। उसी प्रकार समाप्ति भी कर्म भेद का प्रयोजन नहीं किन्तु उसी प्रकार कहा गया है जिन अशक्त पुरुषों में कर्म करने की क्षमता नहीं परन्तु शक्त के लिये सब उचित है अतः निन्दा और समाप्ति के सदृश अशक्ति भी प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म भेद वाला नहीं अतः वह सर्वत्र एक ही माना जावेगा।

सं०—पुनः आशंका करते हैं।

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

प० क्र०—(निमित्तेन) होम की उदित अथवा अनुदित वेला पर। (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त विधान किया हुआ कर्म पक्ष का साधक नहीं।

भा०—सूर्योदय के समय होम न करके सूर्यास्त पर तथा सूर्यास्त का हवन सूर्योदय पर करने को उदय तथा अनुदय का लोप माना गया है। यदि प्रत्येक ब्राह्मण और शाखा का अग्निहोत्र कर्म एक ही है और उदय तथा अनुदय का विधान केवल विकल्प मात्र है तो फिर प्रायश्चित्त का विधान क्यों पाया जाता है अतः सिद्ध हुआ कि प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा अग्निहोत्र कर्म एक न होकर नाना प्रकार के हैं।

सं०—इन शब्दों का परिहार किया जाता है।

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

प० क्र०—(वा) शब्द उस शङ्का के परिहारार्थ हैं। (नियोगेन) उदित होम अथवा अनुदित होम की प्रतिज्ञा का

नियम करके। (अकमात) आरम्भ करने अथवा विपरीत होने पर प्रायश्चित्त कहा गया है।

भा०—उदित समय तथा अनुदित समय करने की प्रतिज्ञा का आरम्भ करके जब एक नियम बना लिया और उसके भंग होने पर प्रायश्चित्त का विधान मिलता है अतः वह कर्म भेद से नहीं किन्तु प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा अग्निहोत्र कर्म एक ही है न कि भिन्न भिन्न।

सं०—समाप्ति वचन से बीच के कर्म की क्यों पाई जाती है।

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥

प० क्र०—(समाप्तिः) समाप्ति (यथा ज्ञाते) प्रतिज्ञानुकूल (प्रतीयते) समझनी चाहिये (पूर्ववत्त्वात्) वह निश्चय पूर्वक आरंभ की गई है।

भा०—जो आरम्भ किया जायगा वह समाप्त होना और आरंभ के समय 'अस्माकं' का प्रयोग मिलता है अतः अग्निहोत्र की समाप्ति नहीं परन्तु समाप्ति होने पर आरम्भ अवश्य होना चाहिये। अग्निहोत्र के आरंभ के समान अवान्तर कर्म का भी आरम्भ है अतः वह बीच के कर्म की समाप्ति है ऐसा जानना चाहिये।

सं०—अन्यार्थ दर्शन के हेतुक प्रथम हेतु को कहते हैं।

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तन्त्र कर्मचोदना तस्माद्द्वादशाहस्याहारव्यपदेश स्यात् ॥२४॥

प० क्र०—(लिङ्गं) चिन्ह (अविशिष्टं प्रति ब्राह्मण और प्राप्ति शाखा कर्म भेद का अर्थ वाला नहीं (सर्वशेषत्वात्) उससे तो ज्योतिष्टोम सर्व प्रथम माना गया है (तत्रं) तब (कर्म चोदना) कर्म प्रेरणा-विधि (नहि) नहीं मानी जा सकती (तस्मात्) अतएव (द्वादशाहस्य) वृहत्सामा के (आहार व्यपदेशः) दिदीक्षाणाः तथा अदिदीक्षाणः शंकानुष्ठान कथन (स्यात्) है वह कर्म भेद का नहीं।

भा०—"यदि पुरादिदीक्षाणा" वाक्य में दिदीक्षणाः और 'आदिदीक्षाणाः' पदार्थ किसी भिन्न याग की दीक्षा से प्रथम दीक्षित अथवा अदीक्षित नहीं किन्तु वृहत्साम की दीक्षा प्रथम दीक्षित तथा अदीक्षित है अर्थात् "वृहत्सामा" का अदीक्षित "रथन्तर" याग कर सकता है और जो द्वादशाह ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा है वह ज्योतिष्टोम यज्ञ कर सकता है। और सब यज्ञों में ज्योतिष्टोम मुख्य यज्ञ है अतः अदीक्षित का ही अधिकार है भेद इतना ही है कि पहिला वाक्य 'ज्योतिष्टोम याज्ञिक को वृहत्सामा' का और अयजन कर्ता को रथन्तरयाग का विधान करता है अतः कर्म भेद सिद्ध नहीं होता।

सं०—अन्यार्थ का दूसरा हेतु देते हैं।

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादःस्यात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(च) और (द्रव्ये) अग्नि रूप द्रव्य के चयन करने में (अचो दित्वात्) एकादशिनी याग का

उपदेश (प्रेरणा) न होने से (विधीनां) पक्ष तुल्य निन्दा और वेद सदृश यज्ञ भूमि और यूपों के बीच रथाश्व परिमित अन्तराल के विधि वाक्य की (अव्यवस्था) व्यतिक्रम (स्यात्) अवश्य है तथापि (निर्देशात्) 'वाचःस्तोम' याग में एकादश यूप की विधि होने से (व्यवतिष्ठत) उक्त विधियों की व्यवस्था हो सकने से (तस्मात्) अतः वह अग्नि चयन विभाग (नित्यानुवादः) पूर्वोक्त विधि वाक्यों का अनुवाद (स्यात) है न कि विधान।

भा०—अग्नि चयन प्रकरण में दोनों भांति के वाक्य पढ़े गये हैं तब भी अग्नि चयन प्रकरण में पक्ष समान भूमि की निन्दा करके वेदि समान भूमि और ग्यारह यूपों के बीच में रथाश्व परिमित अन्तराल का विधान नहीं किया जाता इसलिये कि अग्नि चयन प्रकरण में केवल एक ही यूप होता है न कि ग्यारह जो कि वाचः स्तोम में विदित है इसी प्रकार वे यज्ञ स्थल में रथ चक्र की धुरी पर खड़े किये जाते है उन की भूमि यदि पक्ष समान हों तो वह दोप हो सकता था परन्तु वेदि समान होने में नहीं अतः अनुवाद मात्र करते है पक्ष समान भूमि की निन्दा करके वेदि समान भूमि की विधि नही वतलाते।

सं०—अन्यार्थ दर्शन में तृतीय हेतु दिया जाता है।

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥ २६ ॥

प० क्र—(विहितप्रतिपेधात्) अतिरात्र याग में 'पोड़शी' पात्र के ग्रहण तथा निपेध की विधि के (पक्षे)

विधान तथा निषेध पक्ष (अतिरेकः) दो और तीन का अनुपात (स्यात्) हो सक्ता है ।

भा०—'द्विसंस्तुतानां' आदि वाक्यों से ज्योतिष्टोम याग में दो या तीन ऋचाओं का विराट् की अपेक्षा अतिरेक कथन है वह अतिरात्र नामक ज्योतिष्टोम याग के विशेष अभिप्राय से है। उस यज्ञ में 'अतिरात्रे षोडशि न गृह्णाति और नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस ग्रहण करने और न करने के विधि निषेधात्मक से विकल्प कथन किया गया है। इसलिये विकल्प होने से ऋचाओं के अतिरेक का भी विकल्प पाया गया इसमें विरोध भी नहीं, अतः वह कर्म पक्ष में आ सकता है, अतएव प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्मभेद नहीं मानना चाहिये* ।

सं०—अन्यार्थ दर्शन में चौथा हेतु देते हैं ।

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(सारस्वते) सारस्वत सत्र में । (विप्रतिषेधात्) पुरोडाशी और सान्नायी का अधिकार कहने से जो शाखान्तर में "एषवाव प्रथमो यज्ञः" आदि वाक्य से विरोध आने पर उसका परिहार (यदा, इति) 'यदा' इस पद के अध्याहार से (स्यात्) होता है ।

भा०—सारस्वत यज्ञ में असोमयाजी तथा सोमयाजी दोनों का अधिकार वर्णन किया गया है और अधिकार कथन

* शावर भाष्य में इसको बड़े विस्तार पूर्वक समझाया गया है, यहाँ अधिक विस्तार भय से नहीं लिखा गया, तत्व बात लिखदी है ।

में 'एषवाव प्रथमो यज्ञः' जो शाखान्तर वाक्य से कर्मभेद का विरोध निरूपित है वह "यदा" पद के अध्याहार से टूट जाता है और वह जब सोमयाजी हो तो सत्र के भीतर 'वत्स वारणादि' क्रिया करें, अतः यहाँ सोमयाजी के ही अधिकार का वर्णन है न कि असोमयाजी का। क्योंकि असोमयाजी का यज्ञभूमि से बाहर बैठने से ही प्रत्यक्ष है तब उन शाखान्तरीय वाक्य से विरोध नहीं आता और अविरोध होने से प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्मभेद भी प्रमाणित नहीं होता, अतः वह सर्वत्र एक है भिन्न भिन्न नहीं।

सं०—अन्यार्थ दर्शन में पाँचवाँ हेतु देते हैं।

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

प० क्र०:—(उपहव्ये) उपहव्य याग में बृहत् तथा रथन्तर साम विधान वृथा है क्योंकि (अप्रति प्रसवः) वह स्वभाव से विदित है।

भा०—यदि प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म का अभेद माना जावे तो 'उपहव्य' संज्ञक ज्योतिष्टोम की विकृति याग में बृहत तथा रथन्तर का विधान कुछ नहीं रहता वह तो ज्योतिष्टोम रूप प्रकृति याग से ही उपलब्ध है और प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा नाम भेद ही माना जावे तो प्रकृति से उपलब्ध उभय का नियम पूर्वक ग्रहण प्रयोजन के अनुसार है। कारण कि प्रकृति याग से दोनों साम विकल्प से प्राप्त हैं और पूर्वोक्त उपहव्यो निरुक्त आदि वाक्य उस

विकल्प का निषेध करके प्रति शाखा कर्म में उसका नियम करने से प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म का भेद ही है एकता नहीं।

सं०—इन पूर्वपक्षों का समाधान किया जाता है।

गुणार्था वा पुन श्रुतः ॥ २९ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निराकारणार्थ प्रयोग किया गया है (पुनःश्रुति) प्रकृति याग से प्राप्त होने पर वृहत्साम और रथन्तर साम का पुनः विधान (गुणार्था) दक्षिणा रूप गुण विशेष के नियम के निमित्त है।

भा०—ज्योतिष्टोम प्रकृति याग से 'उपहव्य' नामक विकृति याग में उभय साम प्राप्त हैं तब भी "उपहव्यो निरुक्तः" आदि वाक्य से उनका पुनर्विधान दक्षिणा रूप गुण विशेष के नियम तात्पर्य्य से किया गया है वृथा प्रयोग नहीं। अतः प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्मभेद का उसके दक्षिणा फल नियम के होने और साम नियम न होने से समर्थक भी नहीं कहा जा सकता।

सं०—प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म भेद से साधक लिङ्गों निराकारण किये जाने पर अब कर्म अभेद का साधक लिङ्गों को कहते हैं।

प्रत्ययंचापि दर्शयति ॥३०॥

प० क्र०—(च) तथा। (प्रत्ययं) एक शाखा में याग का और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान मिलने से।

(अपि) भी। (दर्शयति) प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा अग्निहोत्र कर्म का अभेद बतलाता है।

भा०—एक शाखा में विधान कृत कर्म का दूसरी शाखा में अनुवाद करके गुण विधान सङ्गत हो सकता है। यदि प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा कर्म का अभेद माना जावे तो अन्यथा एक शाखा के कर्म का दूसरी शाखा में अनुवाद करके गुण का विधान करना सर्वथा असङ्गत और वृथा होता है परन्तु असङ्गत और व्यर्थ होना उचित नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म एक हैं और जब तक जिये करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

सं०—पुनः आशंका करते हैं।

अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३१॥

प० क्र०—(अपि वा) शब्द शंका द्योतनार्थ है। (एकस्या) प्रत्येक शाखा में। (विधिपृथकत्वं) अङ्गों के अनुष्ठान भेद से। (व्यवतिष्ठेत) ही होने चाहिये कारण कि। (क्रम संयोगात्) अनुष्ठान के पाठक्रम से सम्बन्ध है और वह प्रति शाखा अलग अलग हैं।

भा०—प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में कर्म का अभेद मानने से जिन जिन शाखाओं में अङ्गों का विधान किया गया है उन शाखाओं से अन्य शाखाओं में उन्हें एकत्र करना पड़ेगा क्योंकि अङ्गों सहित कर्मानुष्ठान ही विदित फल दाता हो सकता है अन्यथा नहीं।

परन्तु प्रति शाखा में अपने अपने क्रम का पाठ है तब उपसंहार करने पर पाठक्रमानुसार ही उनका अनुष्ठान होगा परन्तु नूतन कल्पना से तो पाठक्रम के अनुकूल ही अनुष्ठान कल्पना श्रेष्ठ होगी क्योंकि पाठक्रम से अनुष्ठान का सम्बन्ध होता है परन्तु पाठक्रम भिन्न होने से अनुष्ठान क्रम अभिन्न नहीं हो सकता भिन्न ही रहेगा। अतः प्रति शाखा और ब्राह्मण के कर्म का अभेद मानना समीचीन नहीं, अतः भेद ही उत्तम पक्ष है।

सं०—इस आशङ्का का परिहार करते हैं।

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—'तु' शंका के परिहारार्थ प्रयोग है (विरोधिना) अनुष्ठान क्रम से विरोध करने वाले पाठ के साथ (असंयोगात) अङ्गानुष्ठान का सम्बन्ध नहीं क्योंकि (एक कर्म्ये) पूर्ण कथित युक्ति वाला देश से प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में कर्म की एकता सिद्ध होने पर (विधीनां) सम्पूर्ण अंश विधानों का (तत्संयोगात्) सब शाखाओं में प्रत्येक बतलाये क्रम के अनुसार अंगों का अनुष्ठान (स्यात्) होता है।

भा०—सम्पूर्ण अंग विधि में कर्म विधि शेष होने से जो अवशेष रहता है वह शेषी केही अनुसार हुआ करता है इस नियम से अंग और शेष के समान प्रकृति भूत अंगी कर्म के विधान कर्त्ता वाक्यों में जो क्रम अंगों के अनुष्ठान

का विधान किया गया है उसी प्रकार शाखान्तर से एकत्र किये हुये अंगों का अनुष्ठान भी उक्त क्रम से ही होना उचित है क्योंकि पाठ क्रम से उनका अनुष्ठान न होने से प्रति शाखा कर्म भेद भी प्रमाणित नहीं होता। भाव यह है वाक्य विहित क्रम ही अङ्गानुष्ठान का क्रम है और पाठ क्रम अथवा नूतन कल्पना का क्रम नहीं अतः प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा अग्नि होत्र कर्म एक ही हैं अनेक अथवा भिन्न नहीं कहे जा सकते।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये द्वितीयोध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

ॐ

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—दूसरे भाग में यज्ञादि कर्मों के भेद, उनके बीच में कौन शेष और शेषी कर्म है निरूपण करके अब प्रथम शेष के लक्षण बतलाते हैं ।

अथातः शेष लक्षणम् ॥ १ ॥

प० क्र०—(अथ) भेदादि कथन के पश्चात् (शेष लक्षणे) शेष का लक्षण निरूपण करते हैं (अतः) इसलिए कि वह लाभप्रद है ।

भा०—शेष और शेषी का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक प्रथम शेष कि जिसकी प्रतिज्ञा है सिद्ध नहीं हो सकता अतः दोनों का सम्बन्ध कहते हैं ।

सं०—शेष के क्या लक्षण हैं ?

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(परार्थत्वात्) दूसरे के लिये होने वाला (शेषः) शेष कहलाता है ।

भा०—क्योंकि वह दूसरे के निमित्त होने से परार्थत्वात् इस पंचमी पद से कथन किया गया है और इसीलिये

वह शेष हैं क्योंकि शेषत्व किसी का स्वाभाविक धर्म नहीं होता वह 'परार्थ' परक ही माना जाता है।*

सं०—'शेष' क्या है निरूपण करते हैं।

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥ ३ ॥

प० क्र०—(द्रव्य गुण संस्कारेषु) द्रव्य गुण तथा संस्कार में शेष शब्द की प्रवृत्ति होती है यह बादरि आचार्य मानते हैं।

भा०—जिस प्रकार बिना सामग्री के यज्ञ कर्म सम्पन्न नहीं होते उसी प्रकार जो २ गुण सामग्री के बतलाये गये हैं उनके तथा प्रोक्षणादि संस्कारों के ज्ञान बिना भी वह कर्म सिद्ध नहीं हो सकते अतः द्रव्य गुण और संस्कार तीनों परार्थ के लिये हैं ऐसा व्यास जी के पिता मानते हैं।

सं०—इसमें जो कमी है उसे कहते हैं।

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

प० क्र०—(कर्माणि, अपि) यज्ञ, दान, होम आदि शेष के ही लक्षण हैं। (फलात्वात्) क्योंकि उनके फल हैं ऐसा। (जैमिनः) जैमिनि आचार्य मानते हैं।

भा०—द्रव्य गुण और संस्कार कर्म के सिद्ध हेतुक होने से कर्म के लिये शेष हैं उसी भाँति कर्म फल भी सिद्ध हेतुक होने से फल के लिये शेष हैं अतः तीनों ही शेष के लक्ष्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि कर्म भी

* "यैस्तुद्रव्यं" मी। २। १। ८ में केवल कर्ममात्र का लक्षण किया गया था। अब यहाँ शेषमात्र का लक्षण किया गया है।

तो परार्थ होने से शेष का लक्ष्य है यह जैमिनि आचार्य का मत है ।*

सं०—शेष का और लक्ष्य कथन करते हैं।

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

प० क्र०—(चा) पुनः । (फलं) द्रव्यगुण और संस्कार एवं कर्म के समान फल भी शेष है क्योंकि (पुरुपार्थत्वात्) वह पुरुपार्थ निमित्त है ।

भा०—यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान का फल पुरुप के लाभ निमित्त होने से वह पुरुप शेष है क्योंकि ऐसे वाक्य कि "स्वर्गादि फलं मे भवतु" मुझे स्वर्ग फल मिले इसमें कामना पाई जाती है । इसी कामना से यज्ञानुष्ठान भी है अतः वह द्रव्य के समान वह भी शेष का ही लक्ष्य है यह जैमिनि आचार्य का मत है ।

सं०—शेष का क्या लक्ष्य है निरूपण करते हैं ।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

प० क्र०—(च) तथा । (पुरुपः) द्रव्य की भाँति पुरुप भी । शेष है कारण कि । (कर्मार्थत्वात्) वह कर्म निमित्त है ।

भा०—द्रव्यादि विना कर्म सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार यजमान के विना धर्म सम्पादन नहीं हो सकता। अतः द्रव्य की भाँति यजमान भी कर्म-शेष है यह

* "शेषे ब्राह्मण शब्द" मी० २ । २३ में ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को भी शेष कहा है ।

जैमिनि आचार्य मानते हैं परन्तु दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है* ।

सं०—अवहननादि धर्मों को आदि का शेष कहते हैं ।

तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥७॥

प० क्र०—(तेषां) अवहननादि धर्मों का । (अर्थेन) वितुथी आवादि इष्ट फल के अनुसार । (सम्बन्धः) व्रीहि आदि के साथ शेष शेषि भाव सम्बन्ध है ।

भा०—दर्श पूर्ण मास यज्ञ में अवहनन, प्रोक्षण, आदि व्रीहि (जौ) के विलापन (गलाने घाट कूटने) अवक्षेपण आदि घृत के तथा दोहन आतञ्चन आदि सन्नाय के धर्म कहे गये हैं । इसमें यह सब उसी के

* वादरि के मत में द्रव्य, गुण और संस्कार तीनों को शेष केवल नियत शेषता के अभिप्राय से माना है और जैमिनि ने उक्त तीनों के अतिरिक्त कर्म, फल और पुरुष को भी शेष कहा वह केवल आपेक्षित शेषता के लिये कहा क्योंकि कर्मों में शेषता सापेक्ष है । नियत नहीं अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा कर्म । शेषी और फल की अपेक्षा शेष । कर्म की अपेक्षा फल शेषी और पुरुष की अपेक्षा शेष तथा फल की अपेक्षा पुरुष शेषी तथा कर्म की अपेक्षा शेष होता है । यह कथन परम वैय्याकरणा-चार्य श्रीपाणिनि मुनि के गुरु महाराज "उपवर्ष" मुनि का कथन है इनकी भी मीमांसा पर वृत्ति पाई जाती थी । इसके कहीं कहीं शवर भाष्य में उद्धरण मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के समय तक यह वृत्ति बनी रही है और इन्हीं के समय "नैष्कर्म सिद्धि" जैसे ग्रन्थ बने, कर्मकाण्ड पर कुठार चले और यह वृत्ति बौधायन वृत्ति के समान या तो दबी पड़ी है अथवा नष्ट हो गई है, क्योंकि

नियम हैं अथवा सब धर्म सब के हैं तो अवहनन (छरना) आदि धर्म 'तुषविमोक' (भूसी हटाने) आदि फल प्रति द्रव्य में पाये जाते हैं। घी और सांनाय्य में नहीं क्योंकि विलोना आदि धर्म कर्म द्रव पदार्थ फल घी दूध में ही चरितार्थ है जो जौ और सान्नाय में नहीं इसी प्रकार दुहना और जमाना आदि धर्म दूध और दही में ही है। अतः इस व्यवस्था से फल ठीक प्राप्त होता है सारांश यह कि जो 'धर्म जिस द्रव्य का कहा गया है वह द्रव्य उसी द्रव्य का शेष होगा दूसरे का नहीं।'

सं०—उक्त पक्ष का पूर्व पक्ष करते हैं।

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष का द्योतक है। (विहितः) शास्त्र में बतलाये अवहनन। (कूटना) आदि। (सर्वधर्मः) सब के धर्म। (स्यात्) हैं क्योंकि। (संयोगतः अविशेषात्) उनका द्रव्य से प्रधान कर्म के साथ

श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र १। ३। २७ के "शब्द इति चेन्नातः" का भाष्य करते हुये उपवर्ष मुनि के सिद्धान्त का सत्कार किया है। कदाचित् बौद्धों के अत्याचार से वृत्ति नष्ट हो गई हो। परन्तु शवर स्वामी विक्रम की शताब्दी में हुये थे और मीमांसा पर उन्होंने भाष्य रचा उस समय उनके देखने में अवश्य यह वृत्ति आई थी अन्यथा वह उद्धरण नहीं देते।

याग है। (च) तथा। (प्रकरण विशेषात्) प्रकरण भी है।

भा०—'व्रीहीन्वहन्ति आज्यं विलापयति' वाक्यों में अवहनन धर्म कहे गये हैं वह दर्शपूर्णमास के द्रव्य मात्र के लिये कहे हैं न कि किसी नियत द्रव्योद्देश्य है उनका प्रयोजन यज्ञ की सिद्धि और मुख्य सम्बन्ध बतलाना है। वह सम्बन्ध द्रव्य समान प्रत्येक धर्म का याग के साथ समतुल्य है।

सं०—पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं।

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥

प० क्र०—(अर्थलोपात्) फल दृष्टिगत न होने से। (अकर्मस्यात्) सब कर्म सब द्रव्यों में नहीं किये जा सकते अतः वह प्रति द्रव्य के लिये हैं।

भा०—अवहनन इत्यादि क्रिया से जो भूसी आदि पृथक् करना रूप फल है वह प्रति द्रव्य में पाया जाता है अतः अविशेष रूप से सब द्रव्यों में अवहनन आदि क्रियायें नहीं की जा सकतीं क्योंकि जिस द्रव्य में जिस क्रिया का फल दिखलाई देता है वह क्रिया उसी द्रव्य का शेष है अन्य का नहीं।

सं०—'आज्य' में और 'तुष विमोक' में फल नहीं दीखता परन्तु प्रकरण बल से अवहनन आदि क्रिया क्यों न की जानी चाहिये।

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

प० क्र०—'तु' आशंका को दूर करने के लिये प्रयोग में लाया गया है (चेष्टया) क्रिया (अवहनन) के (सह) युक्त (फलं) तुप विमोकादि प्रयोजन (शब्दार्थः) शब्द का भाव अर्थ (स्यात्) है (विप्रयोगे) फल न होने पर (अभावात्) अवहननादि 'अवहन्ति' आदिक अर्थ नहीं माने जा सकते।

भा०—इसका यह भाव है कि 'व्रीहीन वहन्ति जौ को कूटे और 'आज्यं विलापयति' घी को जलावे । इस में अव-हन्ति' शब्दों से फल सहित क्रिया का बोध होता है केवल क्रिया का नहीं इसलिये अवहननादि संस्कार क्रिया व्रीहि, विलापन और दोहन आदि संन्नाय का शेष है सब क्रिया में सब द्रव्य का शेष नहीं ।

सं०—'स्फूय' आदि यज्ञों के साधनों की व्यवस्था कहते हैं।

द्रव्यं चोत्पत्ति संयोगात्तदर्थमेवचोद्यते ॥११॥

प० क्र०—(च) और (द्रव्यं) 'स्फूय' इत्यादि द्रव्य का (उत्पत्ति शंयोगात्) उत्पत्ति वाक्य से जिस २ क्रिया के योग्य से (तदर्थम् एव) वह उसी क्रिया निमित्त (चोद्यते) विधान किये जाते हैं ।

भा०—जिस किसी साधन से जिस क्रिया को न किया जा सके परन्तु उत्पत्ति वाक्यों (विधायक वाक्यों) ने जिन साधनों से जिस क्रिया को विहित माना हो उस से वही क्रिया करने योग्य होती है अन्यथा

नहीं अतः वे साधन* उत्पत्ति वाक्य के अनुसारी प्रतिक्रिया के आश्रित हैं।

सं०—अरुणी आदि गुणों का नियम करते हैं।

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(अर्थैकत्वे) एक वाक्यार्थ में (द्रव्य गुणयोः) द्रव्य और गुण के (नियमः) परस्पर योग नियम (स्यात्) हैं इसलिये कि (एक कर्म्याति दोनों का किया सिद्ध कार्य समान है।

भा०—भाव यह है कि जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ के "सोम मोल" लेने के प्रकरण में "अरुण्या एक हायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति" यह वाक्य पढ़ा गया है इसमें तृतीया विभक्ति श्रुति केवल 'क्रम' रूप क्रिया में प्रयोग की गई हैं और 'आरुण्य' गुण क्रिया के साधन 'एक हायनी' गौरूप द्रव्य का ही अन्य द्रव्यों से वियोग मिलता है कि सोम क्रम का साधन पीली आँख वाली और "हायनी" गाय है वह लाल रंग की होनी चाहिये यह वाक्य में विहित क्रम (मोल लेने) के साधन वस्त्र आदि अन्य द्रव्यों को भिन्न नहीं

* स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्र हवनी च सूर्पं च कृष्णाजिनश्च शम्या चोलू खलश्च मुसलञ्च दिषचोपला चैतानि वै दश यज्ञा विधानि 'स्फय' (कुदाली) कपाल (कमोरी) अग्निहोत्र, हवनी, सूप, काले हिरन की छाल शम्या (मूसल) उलूखल (ऊखल) मुसल (बट्टा) दिषत् (सिल) उपला (खरल) आदि यज्ञ साधन का परस्पर" सम्बन्ध है :—

करता वह चाहे जिस रंग के हों अतः वह कथित गुण 'गौ' आदि में मिलता है भिन्न में नहीं। अर्थात् 'आरुण्य' गुण सोमक्रम के साधन गौरूप द्रव्य का शेष है न कि द्रव्य मात्र का कह सकते हैं।

सं०—'सम्मार्जन' आदि को 'ग्रह' आदि द्रव्य मात्र का धर्म निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(एकत्व युक्त) ग्रह आदि द्रव्य का सम्मार्जन होने का (एकस्य) एक बार ही (श्रुति संयोगात्) एक वचन श्रुति से 'सम्मार्जन' से सम्बन्ध मिलता है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मर्ष्टि" वस्त्र खण्ड से पात्र विशेष का मार्जन करे और अर्थात् अग्नि होत्र प्रकरण में 'अग्ने स्तृणान्य पचिनोति' अग्नि से कूड़ा कचरा निकाल फैंके, उसी प्रकार दर्श पूर्णमास प्रकरण में 'पुरोडाशं पर्य्यग्नि करोति' पुरोडाश का पर्य्यग्नि संस्कार कर आदि वाक्य पढ़े गये हैं इनमें शब्द से एकत्व ही ग्रह आदि लिये जाने वाले विदित होते हैं न कि अनेक का ग्रहण है अत-एव एकत्व संख्या सहित ही 'ग्रह' आदि द्रव्यों का सम्मार्जन 'आदि धर्म कहा गया है न कि सब ग्रह आदि का हो सकता है।

सं०—इस का समाधान करते हैं।

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥ १४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहारार्थ आया है (सर्वेषां) सब ग्रह आदि द्रव्यों का सम्मार्जन (लक्षणत्वात्)

एक वचन के लक्षण का उपन्यास जैसे 'ग्रहं सम्मष्टि' इत्यादि में ग्रहत्व जाति के अभिप्राय से। (हि) निश्चय और (लक्षण) उस जाति (अविशिष्ट) सब ग्रह आदि में तुल्य हैं।

भा०—जैसे ग्रहादि प्रातिपदिक के पूर्व में होने वाले एक वचन श्रुति से ग्रह आदि पिछली एकत्व संख्या का श्रवण है उसी प्रकार कर्म वाची द्वितीया विभक्ति श्रुति से उद्देश्य और अभिप्राय का भी श्रवण है क्योंकि उद्देश्य तथा प्रयोजन में ही द्वितीया विभक्ति का विधान होता है अतः इस नियम से ग्रह आदि प्रधान और सम्मार्जन आदि गौण होते हैं अतः जितने ग्रह आदि द्रव्य हैं उन सब में प्रति सम्मार्जन आदि है अतः संख्या की भी आवश्यकता नहीं। यदि आवश्यकता हो तो एक वचन श्रुति के द्वारा ग्रह आदि पिछली एकत्व संख्या का श्रवण होने पर भी उद्देश्य हीन होने से वह अनावश्यक है अतएव सब अग्नियों से तृण अपचेय तथा सब पुरोडाश पर्यग्नि करने चाहिये अर्थात् सम्मार्जन आदि सब ग्रह आदि का धर्म है एक का नहीं।

सं—'पशुमालभेत' यह उदाहरण क्यों है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥ १५ ॥

प० क्र०—(तु) विषय दृष्टान्त का द्योतक है (चोदिते) याग में विधान के अनुसार दिये पशु में (यथाश्रुति) जिस संख्या का श्रवण है उसका (प्रतीयेत) ग्रहण होना ठीक है, कारण कि (परार्थत्वात्) वह पशु आलम्भ हेतु से गौण है।

भा०—जैसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों परस्पर विषम हैं क्योंकि दृष्टान्त में पशु आलम्भ क्रिया के प्रति प्रयोजनीय होने से गौण है और दार्ष्टान्तिक में सम्मार्जन क्रिया के प्रति अभिप्राय होने से प्रधान है इसलिये प्रयोजन में श्रूयमाण संख्या की विवक्षा होते हुये भी प्रयोजन में सुनी संख्या की विवक्षा नहीं अर्थात् ग्रह गत सुनी एकत्व संख्या की अविवक्षा ही होने से सम्मार्जन एक मात्र ग्रह धर्म है यही शास्त्रान्तर में न्याय उदाहित रूप से बहुधा आया है।

सं०—सम्मार्जन 'ग्रहों' का ही धर्म है चमसों का नहीं इसे कहते हैं।

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥ १६ ॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष को बतलाता है (गुणानां) गुण भूत सम्मार्जन आदि का (अव्यवस्था, स्यात्) ग्रह धर्म ही है न कि चमसों का क्योंकि (संस्कारात्) वह संस्कार कर्म हैं।

भा०—लकड़ी के और मिट्टी के दो प्रकार के पात्र सोम याग में हुआ करते हैं। मिट्टी के दो प्रकार के होते हैं जिन्हें स्थाली और कलश कहते हैं यह मिट्टी के होने से सम्मार्जनीय नहीं उसी प्रकार लकड़ी के भी दो ही भांति होते हैं जिनका नाम 'ग्रह' और 'चमस' है यह दोनों सोम रस की आहुति देने में काम आते हैं इनमें 'ग्रह' ईश्वर के निमित्त आहुति में और जिससे सोम रस पान करते हैं वह 'चमस' कहलाता है

यतः सम्मार्जन संस्कार कर्म है वह सर्वत्र अनुष्ठीय है। 'ग्रह' के सदृश 'चमस' भी समान होने से संस्कार्य है अतः दोनों सम्मार्जनीय है।

सं—पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

व्यवस्था वाऽर्थस्यश्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाण-त्वात् ॥ १७ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के निरास के लिये है (व्यवस्था) ग्रह मार्जन ही धर्म है न कि चमस का क्योंकि (अर्थस्य) ग्रहों का (श्रुति संयोगात्) ग्रहं इस द्वितीयान्त पद श्रुति से सम्मार्जन के साथ धर्म धर्म्य भाव योग है तथा (तस्य) उस का (शब्द प्रमाण-त्वात्) शब्द प्रमाण से वर्जनीय नहीं।

भा०—सम्मार्जन संस्कार कर्म होने से संस्कार्यमात्र का धर्म है अतः चमस और ग्रह दोनों संस्कार्य्य ही हैं परन्तु फिर भी ग्रहों का ही धर्म मानना उचित है क्योंकि 'ग्रह' इस द्वितीयान्त पद ने श्रुति से केवल 'ग्रहों के ही सम्मार्जन का साक्षात् श्रवण कराया है चमसों का नहीं। अतः श्रुति सिद्ध अर्थ को त्याग कर लक्षण अर्थ समीचीन नहीं।

सं—'सप्तदशा रत्निता' को 'वाजपेय' यज्ञ में पशु याग सम्बन्धी यूप को निरूपण करते हैं।

आनर्थक्यात्तदंगेषु ॥ १८ ॥

प० क्र०—(तदङ्गेषु) 'सप्तदशा रत्नि' यह वाक्य वाज पेय यज्ञ के अंग भूत पशु याग सम्बन्धी पयू में होने से

(आनर्थक्यात्) वाज पेय याग में यूप के न होने से कारण धर्मी का लाभ न होने से निरर्थक होती है।

भा०—'सप्तदशा रत्नि वाजपेयस्य यूपो भवति' 'एक हाथ बंधी मुट्ठी भर नाप को अरत्नि कहते हैं इसी प्रकार सत्रह बद्ध मुष्टि हस्त परिमाण वाला वाजपेय याग का यूप (खम्भा) होता है इस वाक्य में यह समझना चाहिये कि यह सोम याग की विकृति होने से केवल औषधि साध्य है और पशु दान न होने से यूप की आवश्यकता नहीं और भी अन्य अनेक पशु याग हैं जिन में पशु दान होता है जिन में बांधने को यूप आवश्यक होते हैं। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में यह कथन है कि 'खैर की लकड़ी का एक 'षोडशी नामक लम्बा, पात्र होता है वह लम्बा और खैर का होने से यूप सदृश हो सकता है क्योंकि यूप भी लम्बा और खैर का ही बनता है परन्तु उस की सत्रह मुट्ठी की लम्बाई माननी कि नहीं क्योंकि इतनी लम्बाई का याग के उपयोग का नहीं बन सकता और 'यूप' पद की 'यूप समान' पात्र विशेष में लक्षण करने के स्थान में 'वाज पेय पद' का वाज पेयाङ्ग और औपचारिक प्रयोग मान लेना ही ठीक है अतः उस वाक्य में जो सत्रह मुट्ठी अरत्नि की नाप है वह वाजपेय उस यज्ञ सम्बन्धी किसी पात्र विशेष का धर्म न होकर उसे उस याग के अंग पशु याग के पशु याग सम्बन्धी यूप का ही धर्म मानना ठीक है।

सं०— अब 'अभिक्रमण' आदि 'प्रयाज' मात्र का धर्म कहते हैं अतः यह पूर्वपक्ष है कि:—

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१६॥

प० क्र०—(तु) पद पूर्वपक्ष द्योतक है (वाक्य भेदः) इस वाक्य में कि 'अभिक्रामं जुहोति' वाक्य भेद (स्यात्) होना ठीक है क्योंकि (कर्तृगुणे) कर्त्ता के गुण अभिक्रमण का (कर्मासमवायात्) 'जुहोति' क्रिया से सम्बन्ध नहीं।

भा०—'अभिकामं पद' 'एमुल' प्रत्यान्त होने से अभिक्रमण वाची है उसका जुहोति पद वाची क्रिया रूप हवन से सम्बन्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि अभिक्रमण क्रिया के कारण कारक नहीं और क्रिया तथा कारक का सम्बन्ध होना एक नियम है नकि क्रिया के सम्बन्ध का अतः कर्त्ता द्वारा सम्बन्ध को लिये हुए 'अभिक्रमण' पद केवल प्रयाज का ही धर्म नहीं किन्तु होम मात्र का है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकवाक्यं) अभिक्राम जुहोति यह एक पद वाक्य है (हि) निश्चय पूर्वक (साकांक्ष) विभाग करने से दोनों पद साकांक्ष बन जाते हैं और (पूर्वेण) केवल (अभिक्राम) पद से (असमाप्त) वाक्य पूरा नहीं होता।

भा०—जैसे दूसरे अध्याय के पहिले पाद के ४६ वें सूत्रार्थ में विस्तार पूर्वक कहा जा चुका है अब पुनरुक्ति न करते हुये यह समझना चाहिये कि यदि 'अभिक्राम जुहोति' में अभिक्राम पद से 'जुहोति' को और 'जुहोति' पद से 'अभिक्रामं' को पृथक करदें तो दोनों पद अपेक्षाकृत हो जाते हैं केवल एक 'अभिक्रामं' पद किसी प्रकार वाक्यार्थ का बोधक नहीं रहता अतः एक वाक्यार्थ तो वह पद है परन्तु 'अभिक्रामं' पद के 'वाच्य' अभिक्रमण रूप क्रिया का जुहोति पद के वाच्य जुहोति क्रिया के सम्बन्ध के लिये प्रकरण बल से सब यागों में कल्पना ठीक नहीं हो सकती क्योंकि दर्शपूर्णमास याग प्रकरण में 'समिधोजयति' आदि से 'समिध्' आदि संज्ञक प्रयाज का प्रकरण उठाया जाकर उसके पास ही 'अभिक्रामं जुहोति' पढ़ा गया है। अतः दर्शपूर्णमास के साथ परस्पर सम्बन्ध होने पर भी साक्षात् सम्बन्ध प्रयाज के ही साथ है।

सं०—'उपवीत' को 'प्राकरणिक' सर्व कर्म का अंग बतलाते हैं।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

प० क्र०—(तु) शब्द 'सामधेनी' की अंगता के खण्डनार्थ आया है। (सन्दिग्धे) उपवीत सामधेनी का अंग है अथवा सब कर्मों का (वाक्यभेदः) इस सन्देह को हटाने के लिये उपवीत वाक्य सामधेनी प्रकरण भेद से (स्यात्) जाना जाता है कारण कि। (व्यवायात्) बीच में 'निवित' नामक मन्त्रों का अन्तर है।

भा०—*तात्पर्य इस कथन का यह है कि दर्शपूर्णमास याग में केवल सामधेनी के उच्चारण समय ही उपवीत नहीं पहिनना किन्तु जब तक वह यज्ञ होता रहे सब कर्मों में उसे धारण करना चाहिये क्योंकि वह उन सब का शेष है।

सं०—अब निवित नामक मन्त्र सामधेनी का अंग होने के भीतर प्रकरण के विच्छेदक नहीं इसका समाधान करते हैं।

गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्॥२२।

प० क्र०—(च) तथा। (गुणानां) सामधेनी एवं निविद् मंत्र। (परार्थत्वात्) यज्ञ-अग्नि एवं ईश्वर स्तुति पदक हैं। (समत्वात्) क्योंकि वे समभाव हैं। (असम्बन्धः स्यात्) उनका अंगागी भाव नहीं है।

---

* दर्शपूर्णमास प्रकरण में "विश्वरूपोवैत्वाष्ट्र" के सातवें तथा आठवें अनुवाद में 'प्रवो पाजा अभिद्य वोह विष्मन्तः। ३। १। २८। ऋग्वेदीय सामधेनी नामक ऋचाओं के नवें अनुवाद में 'अग्ने यहाँ असि' 'निवित्त' नामक मन्त्र और दसवें अनुवाद में अमुक कामना वाले अमुक सामधेनी मन्त्र बोलें इत्यादि इसी प्रकार ग्यारहवें अनुवाद में "निवीतं मनुष्यत्वां प्राचीनावीतं पितृणां मुपनीतं देवानाम उपव्ययते देवलचय मेव कुरुते" अर्थात् मनुष्य कर्म में निवीत् (गले में लम्बा सूत्र) पितृकर्म में प्राचीनावीति (दाहिने कन्धे में बायां हाथ बाहर निकला हुआ अपसव्य होकर) और देवकर्म में उपवीत (दायां हाथ बाहर बाँये कन्धे में सूत्र जैसे यज्ञोपवीत होता है) होना चाहिये। यह मन्त्र खड़े होकर बोले जाते थे।

भा०—सामधेनी मन्त्र ईश्वर तथा यज्ञ की अग्नि की स्तुति-वाची होने से परार्थ माने गये हैं। उसी प्रकार निविद् मन्त्र भी परमात्मा तथा यज्ञाग्नि के गुण प्रकाशक होने से परार्थ हैं। परार्थ धर्म से उभय समान हैं अतः उनका अंगागी भाव नहीं हो सकता।

सं०—वार्त्रघ्नी तथा वृधन्वती नामक चार मंत्रों को आज्य भाग का अंग होना कहते हैं।

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

प० क्र०—(च) और। (मिथः) "वार्त्रघ्नी" और "वृधन्वती" का दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ से सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (अनर्थ सम्बन्धात्) वह व्यर्थ है।

भा०—"वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" का देवता अग्नि और 'सोम' (परमात्मा) है और 'दर्शपूर्णमास' में अग्नि देवता परक 'आग्नेय' याग तो अवश्य है परन्तु सोमदेवता परक 'सौम्य' याग नहीं। यदि उस वाक्य के बल से वार्त्रघ्नी तथा 'वृधन्वती' का 'दर्शपूर्णमास' से सम्बन्ध मान लिया जावे तो वह 'आग्नेय' याग में ठीक होता हुआ भी अन्य यज्ञों में निष्फल होगा अतः वार्त्रघ्नी और 'वृधन्वती' नामक चारों मन्त्र आज्य भाग के अंग हैं दर्शपूर्ण-मास के नहीं*।

* "अग्नि वृत्राणि जङ्घनत" । ऋ० ४ । ५ । २७ । ६४ यह आग्नेयी वार्त्रघ्नी । और "त्व सोमासि सत्पतिः" ऋ० १ । ६ । १६ । ५ इस ऋचा को सौमी वार्त्रघ्नी । तथा "अग्नि प्रत्नेन यन्मना

सं०—'हस्त अवनेजन' अर्थात् हाथ धोने आदि को प्रकरण में होने वाले समस्त कर्म का अंग कहते हैं।

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥

प० क्र०—(आनन्तर्यम्) विना उपदेश पाठ। (अचोदना) अगांगी भाव सम्बन्ध का समर्थक नहीं।

भा०—हाथों का धोना केवल उलपराजिस्तरण के लिये ही नहीं किन्तु प्रकरण भर के समस्त कर्मों के निमित्त है जैसे दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में विहित 'हस्ता-वनेजन' कर्ममात्र का अंग है, न केवल उलपराजि-स्तरण का। उसी प्रकार 'मुष्टीकरण' अर्थात् मुट्ठी बाँधना एवं 'वांग्मयः' मौन रहना सर्व प्रकरण का कर्माङ्ग है न कि केवल 'दीक्षितावदेन" अर्थात् दीक्षित की सूचना देने का ही अंग नहीं यह सब ज्योतिष्टोम में होता है और ज्योतिष्टोम याग में यावत्कर्म का अंग है न केवल 'दीक्षितावदेन' का ही। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि संकल्प पूर्वक सोम याग के करने की विधि प्रतिज्ञा विशेष 'दीक्षा' और उक्त दीक्षा प्राप्त को 'दीक्षित' तथा दीक्षा निमित्तक 'दीक्षणीयेष्टि' को जब समाप्त कर लिया जाता है तो अध्वर्यु खड़ा होकर 'दीक्षित' यजमान का आवे-

ऋ० ६। २। ३८। १२ इसे आग्नेयी वृधन्वती एवं "सोमगीर्भिष्ट्वा वयम्" ऋ० १। ६। २१। ११ इसे सौमी वृधन्वती कहते हैं यही चार ऋचायें हैं यह दर्शपूर्णमास याग में आग्नेय तथा सौम्य नामक दो आज्य भागों को विधान करके पीछे पात्रकी तथा वृधन्वती का विधान किया गया है इत्यादि प्रकरण है।

दन करता है और यों कहता है कि "अदीक्षिष्टाय ब्राह्मण इति त्रिरुपांश्वाह देवेभ्य एवैनं प्राह, त्रिरुच्चैरुभयेभ्य एवैनं देव मनुष्येभ्यः प्राह" अर्थात् तीन वार अध्वर्यु खड़े होकर कहता है कि 'यह ब्राह्मण दीक्षित' हुआ और इसी उच्चारण को आवेदन कहा जाता है।

सं०—उक्त सूत्र से निश्चित अर्थ में युक्ति देते हैं।

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥२५॥

प० क्र०—(च) और (वाक्यानां) उद्धरित वाक्यों का सम्बन्ध नहीं क्योंकि (समाप्तत्वात्) अपने-अपने पद समूह से अर्थ को बतलाने से ही आकांक्षा हीन है।

भा०—पूर्वकथित हस्तावनेनिक्ते और "उलपराजिंस्तृणाति" इन वाक्यों का कोई सम्बन्ध नहीं। यह स्वतन्त्र अपने-अपने अर्थ के द्योतक हैं अतः वाक्य में जो 'हस्तावनेजन' आदि 'उलपराजिस्तरण' के साथ अंगांगी भाव सम्बन्ध तथा अर्थ सम्बन्ध नहीं। किन्तु प्रकरण के आधीन कर्ममात्र का सम्बन्ध है।

सं०—'चतुर्धाकरण' अर्थात् चार याग करने को 'आग्नेय' पुरोडाश मात्र का धर्म है।

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष का बोधक है। (गुण संयुक्तः) आग्नेय सम्बन्धी। (शेषः) चार भाग करण।

(सर्वसाधारणः) सर्व पुरोडाश धर्म में। (शेषः) अंग। (प्रतीयेत) है क्योंकि। (तेषाम्) अग्नि और चार भाग का । (मिथः) पारस्परिक । (असम्बधात्) सम्बन्धी नहीं प्रत्युत उसका पुरोडाश और चार भाग करण का सम्बन्ध है।

भा०—'आग्नेयं' 'चतुर्धा करोति' यह दर्श पूर्णमास के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः चार भाग करण का पुरोडाश से सम्बन्ध है न कि अग्नि देवता के साथ क्योंकि यह पुरोडाश का उपलक्षण है। पुरोडाशत्व धर्म से पुरोडाश मात्र का ग्रहण होना सम्भव है अतः 'चतुर्भाग करण' पुरोडाश मात्र का धर्म है न कि केवल आग्नेय पुरोडाश का।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धा-लक्षणार्थो गुणश्रुतिः ॥२७॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष निवृत्यर्थ प्रयोग किया गया है। (व्यवस्था) चतुर्भाग करण आग्नेय पुरोडाश धर्म ही है क्योंकि। (लिङ्गस्य) अग्निदेव का। (अर्थेन) पुरोडाश से। (सम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से। (अर्थ संयोगात्) चतुर्भाग करण का आग्नेय पुरोडाश से योग पाया जाता है और (गुण श्रुतिः) पुरोडाश के साथ अग्निदेव का वह सम्बन्ध। (लक्षणार्था) पुरोडाशान्तर से भिन्न करणार्थ है।

भा०—अग्निदेव तो पुरोडाश का विशेषण है न कि उत्पन्नत्व है क्योंकि देवता सम्बन्ध के होते हुये ही 'अग्नि शब्द के आगे तद्धित प्रत्यय कर से 'आग्नेय' शब्द ही बन सकेगा एवं विशेषण विशेष्य से भिन्न रह कर विशेष्य को विशेष्यान्तरों से नहीं पृथक् करेगा। किन्तु विशेष्य के साथ युक्त हुआ पृथक करता है यह नियम है। इस नियम से अग्नि देवता को छोड़ कर केवल पुरोडाश के साथ चतुर्भाग करण का सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध न होने से वह पुरोडाश मात्र का धर्म भी नहीं हो सकता अतः चतुर्भाग करण 'आग्नेय पुरोडाश' का ही धर्म है न कि पुरोडाश मात्र का माना जावेगा।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते 'मीमांसा दर्शने भगवती' भाषा भाष्ये तृतीयोऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

ॐ
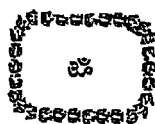
अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—अर्थशेषशेषि भाव को कथन करने के लिये प्रथम अग्नि-होत्र कर्मों के प्रकाशक मंत्रों का मुख्यार्थ में विनियोग रूप सम्बन्ध निरूपण करते हैं।

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥

प० क्र०—(अर्थाभिधान सामर्थ्यात्) जिस अर्थ के प्रकट करने का बल मंत्र में है उसके प्रति (मंत्रेषु) मंत्रों में (शेष भावः) शेषता। (स्यात्) होती है। (तस्मात्) परन्तु। (अर्थेन) अर्थ के साथ। (उत्पत्ति सम्बन्धः) शक्ति वृत्ति रूप मंत्रस्थ पद के साथ पदों का नित्य सम्बन्ध है।

भा०—जिस अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है उसे 'मुख्य' और अन्य के द्वारा अर्थात् परम्परा सम्बन्ध से जाना हुआ 'गौण' कहा जाता है। शब्द तथा अर्थ के परस्पर साक्षात् सम्बन्ध का नाम

'शक्ति वृत्ति' है और परम्परा सम्बन्ध को 'लक्षणा वृत्ति' तथा 'गौणी वृत्ति' कहते हैं । अग्नि-होत्र प्रकरण के कर्मों के प्रकाशक 'सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन' यजु० ३।२ में 'जुहोति' क्रियापद से अग्नि-होत्र आदि कर्म का लिंग है और उस कर्म में विनियोग किया हुआ उस कर्म के प्रति शेष है परन्तु हवनीय द्रव्य गौण एवं मुख्य भेद से दो भाँति का होने से सन्देह है कि उक्त मंत्र में हवन करने योग्य 'घृत' आदि शब्द उनसे गौण तैलादि गौण अर्थ ले सकते हैं अथवा 'घृत' ही मुख्यार्थ का ग्रहण है अतः ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक शास्त्रों का मुख्यार्थों के साथ ही नित्य सम्बन्ध माना गया है न कि गौणार्थों के साथ और जिसका जिसके साथ नित्य सम्बन्ध नहीं उसके ग्रहण से उसकी उपस्थिति भी नहीं होती अतः उक्त मंत्र में 'घृत' आदि शब्द से मुख्य हवनीय पदार्थ का ही ग्रहण है । गौण तैलादि का नहीं ।

सं०—अब अविहित कर्म में मंत्रों के विनियोग का निषेध निरूपण करते हैं ।

संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात् ॥ २ ॥

प० क्र०—(अचोदिते) अविहित कर्म में (न स्यात्) मंत्र विनियोग नहीं होना चाहिये क्योंकि (संस्कारकत्वात्) वह विहित कर्म के ही संस्कार करने वाले हैं ।

भा०—जो वेद में विहित कर्म बतलाये हैं वही यथेष्ट फल देने वाले हैं उन्हीं को वैदिक मंत्रों से संस्कार करना

चाहिये और जिन्हें को वेद ने अविहित बतलाया परन्तु लोक में प्रसिद्ध हों तो वह लौकिक मंत्र विनियोग नहीं किया जा सकता ।

सं०—'गार्हपत्य अग्नि' के उपस्थान में इन्द्र रूप प्रकाशक मंत्रों का निरूपण करते हैं ।

वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥ २ ॥

प० क्र०—(तु) लिङ्ग सम्बन्धी विनियोग की व्यावृत्ति के निमित्त प्रयोग है (ऐन्द्री) इन्द्ररूप ईश्वर के बतलाने वाले मंत्र का (अयथार्थं) लिङ्ग से विनियोग नहीं हो सकता किन्तु (वचनात्) वाक्य विशेष से (स्यात्) होता है ।

भा०—यजुर्वेद १२।६६ का 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्' इत्यादि मंत्र को 'ऐन्द्री' ऋचा कहते हैं इसका उपस्थान करना इस पूर्वार्ध प्रकरण के अनुसार ईश्वर इन्द्र-रूप में है अथवा "गार्हपत्य" में अग्नि के उपस्थान में है । यह मंत्र इन्द्ररूप ईश्वर का प्रकाशक है परन्तु उसके इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप चिन्ह से इन्द्र के उपस्थान में विनियोग नहीं हो सकता क्योंकि इस मंत्र में 'निवेशन' पद से 'गार्हपत्य' अग्नि के समीप स्थित होवे इस वाक्य से 'गार्हपत्य' अग्नि के उपस्थान में विनियोग विहित बतलाया है अतः इस मंत्र के लिङ्ग से इन्द्र के उपस्थान में विनियोग नहीं किन्तु विशेष वाक्य से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग जानना चाहिये ।

सं०—इन्द्र पद से तो ईश्वर का अभिधान पाया जाता है न कि गार्हपत्य अग्नि का अतः उस मंत्र का गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग नहीं हो सकता इसका उत्तर देते हैं।

गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥

प० क्र०—(वा, अपि) शंका को दूर करने के लिये प्रयोग है (गुणात्) गुण सम्बन्ध से (अभिधान) इन्द्र शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान (स्यात्) हो सकता है क्योंकि (सम्बन्धस्य) पद पदार्थ के सम्बन्ध का (अशास्त्र) हेतुत्वात् वह वाक्य रुकावट उत्पन्न करनेवाला नहीं।

भा०—इन्द्र शब्द से यद्यपि शक्ति वृत्ति द्वारा गार्हपत्य अग्नि का अभिधान नहीं कर सकता तब भी वह शब्द से गौणी वृत्ति से गार्हपत्य अग्नि अभिधान होना सम्भव है क्योंकि जिस प्रकार जगत् कारण ईश्वर है उसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि भी योग का कारण है और वह कारणत्व रूप गुण से इन्द्र शब्द का गार्हपत्य अग्नि से परम्परा सम्बन्ध योग से वह विद्यमान रहेगा और वह वाक्य अतएव बाधक भी नहीं किन्तु समर्थक ही है अतः सम्बन्ध से इन्द्र शब्द से आदि गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में उस मंत्र के विनियोग में होने में कोई दोष नहीं आ सकता।

सं०—आह्वान् विनियोग कथन में पूर्वपक्ष करते हैं।

तथाह्वानमपीति चेत् ॥५॥

प० क्र०—(तथा) 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' मंत्र गार्हपत्यर्थ है तथैव (आह्वानं) हविष्कृत ! ऐहि इति त्रिरवघ्नान्नाक्रयति' मंत्र (अपि) भी अवहननादि के लिये है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ।

भा०—निवेशनः इत्यादि मंत्र का गार्हपत्य अग्नि में ही विनियोग है न कि 'आह्वान' में क्योंकि वाक्य विशेष के विद्यमान रहते हुये लिङ्ग से विनियोग नहीं होसकता। अतः वाक्य विशेष बल (एहि) मंत्र का 'अवहनन' क्रिया में ही विनियोग है न कि आह्वान क्रिया में ।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(काल विधिः) 'अवघ्नन' पद अवहनन क्रिया का वतलाने वाला काल का विधान करने वाला है न कि अवहनन क्रिया का क्योंकि (चोदित्वात्) वह व्रीहीन वहन्ति" वाक्य से पूर्व ही विहित है अतः (न) उस वचन बल से 'एहि' मंत्र का 'अविहित' अवहनन क्रिया में विनियोग मानना समीचीन नहीं ।

भा०—वाक्यस्थ 'अवघ्नन' पद में लक्षण तथा हेतु अर्थ में पाणिन के 'लक्षण हेत्वो क्रियायाः अष्ठ० ६।२।१२६ सूत्र से अर्थ में वर्त्तमान धातु द्वारा 'शतृ' और 'शानच' प्रत्यय होने से इसका लक्षण अर्थ में वर्त्तमान 'अव उपसर्ग पूर्वक हन' धातु के आगे

'शतृ' प्रत्यय से अवहनन क्रिया उपलक्षित कालका विधान पाया जाता है न कि 'अवहनन' क्रिया का। यदि अवहनन क्रिया ही का विधान होता तो वह वाक्य विशेष के बल से आह्वान द्योतक सामर्थ्य रूप लिङ्ग का बोध कर के 'ऐहि' मंत्र का उस क्रिया में विनियोग होता क्योंकि वह क्रिया "व्रीहीन वहन्ति" वाक्य से पूर्व विहित है अतः 'ऐहि' यजमान की स्त्री को तीनवार पुकारने में ही प्रयोग होना चाहिये। अवहनन क्रिया में नहीं।

सं०—'एहि' मंत्र आह्वान बोधक नहीं किन्तु गुण वृत्ति से अवहनन का द्योतक है अतः वह उसी में विनियोग होना समीचीन है न कि आह्वान क्रिया में।

गुणाभावात् ॥ ७ ॥

प० क०—(गुणाभावात्) गुण सम्बन्ध न पाये जाने से 'ऐहि' मंत्र अवहनन का प्रकाशक नहीं हो सकता।

भा०—'ऐहि' मंत्र के पुरुपार्थ 'आह्वान' क्रिया का गुण उसके अवहनन क्रिया में सम्बन्ध नहीं पाया जाता क्योंकि अवहननीय जड़ पदार्थ में इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और न उक्त क्रिया में इस भांति के ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं और गुण सम्बन्ध न पाये जाने से अवहनन क्रिया 'ऐहि' मन्त्र का गौणार्थ नहीं हो सकती और उस के न होने से वह मन्त्र 'अवहनन' रूप क्रिया का द्योतक भी नहीं हो सकता अतः उसके अवहनन द्योतक शक्ति रूप लिंग योग मानना ठीक है।

सं०—'हविष्कृत' पद का अर्थ 'यजमान पत्नी' है न कि अवहनन इसकी यह पहिचान है ।

लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥

प० क्र०—(च) और । (लिङ्गात) चिन्ह पाये जाने से अवहनन 'हविष्कृत' पद का अर्थ भी नहीं है ।

भा०—इस अर्थवाद वाक्य में कि 'हविष्कृदेहीत त्रिरवघ्नन्नाह्वयति से आगे वाग् वै हविष्कृत, वाचमेव एतत् आहृति' कि जो हविष्कृत का आह्वान करता है वह वाणी को बुलाता है अर्थात् हविष्कृत को वाणी, बतलाया गया है यदि हविष्कृत से अवहनन का तात्पर्य होता तो उसे वाणी न कहा जाता क्योंकि अवहनन और वाणी का कोई सादृश्य नहीं और विना सादृश्य वाणी को अवहनन कहना वृथा है और यदि हविष्कृत का अर्थ यजमान पत्नी किया जावे तो कोई असमंजसता नहीं क्योंकि वाणी का स्त्रीत्व धर्म होने से लिङ्ग सादृश्य तो है अतः हविष्कृत का अर्थ अवहेनन नहीं किन्तु यजमान की स्त्री रूप वाणी ही है ।

सं०—'अवघ्नन' पद को अवहनन रूप कर्म का विधानकर्त्ता मान लेने में दोष दिखलाते हैं ।

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(च) तथा । (उपदेशे) अवघ्नन पद से उस कर्म की विधि माने तब । (विधि कोपः) लक्षण अर्थ में विधान किया हुआ 'शतृ' प्रत्यय अनुपपन्न । (स्यात्) होता है ।

भा०—यदि अवघ्नन पद से केवल 'धात्वर्थ' मात्र अर्थात् अवहनन मात्र ही लें तो लक्षणार्थ में जो 'शतृ' प्रत्यय किया गया है वह सब प्रकार वृथा ही होगा क्योंकि उसके विधान का क्या कुछ फल होगा दूसरे धातु तथा प्रत्यय के अर्थ के वीच में प्रत्यय अर्थ की प्रधानता होने से उसे छोड़ कर अप्रधान धातु का अर्थ ग्रहण समीचीन नहीं माना जा सकता अतः 'अवघ्नन' पद अवहनन रूप कर्म को विधान नहीं करता किन्तु अवहनन काल का विधानकर्त्ता है यही समझना चाहिये।

सं०—'अग्नि विहरण' आदि के द्योतक मंत्रों का अग्नि विहरण आदि में विनियोग निरूपण करते हैं।

तथोत्थान विसर्जने ॥१०॥

प० क्र०—(तथा) जिस भांति अवघ्नन पद अवहनन काल का ज्ञापक है उसी प्रकार (उत्थान विसर्जन) "उत्तिष्ठ अन्वाह" में उत्तिष्ठन् तथा विसृजति 'पद भी उत्थान काल तथा विसर्जन काल के बोधक हैं।

भा०—उत्तिष्ठन्नन्वाहाग्नी दग्नी न विहर पाठ ज्योतिष्टोमयाग प्रकरण का है और व्रतं कृणुतेति वस्वं विसृति। यजु ४।११ का अर्थात् यह दो मंत्र हैं इनमें प्रैष और 'व्रत' की आज्ञा है क्यों इनका उत्थान क्रिया और वाग् विसर्ग क्रिया में विनियोग है आदि शंका होती है अतः उक्त लिंग से दोनों मंत्रों का अग्नि विहरण प्रैष (आज्ञा) तथा पयः पान रूप व्रत करण प्रैष से सम्बन्ध मिलता है और उत्तिष्ठान

आदि पदों को काल विधान कर्त्ता मानने में कोई रोक नहीं डालता अतः उभय मंत्रों का विहरण आदि में ही विनियोग मानना चाहिये न कि उत्थान आदि में माना जा सकता है।

सं० अब 'सूक्त वाक' का प्रस्तर प्रहरण में विनियोग किये जाने का पूर्व पक्ष करते हैं।

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥

प० क्र०—(च) और (सूक्त वाके) सूक्तस्थ वाक्य में भी (काल विधिः) काल विधान ही मानना चाहिये कारण कि (परार्थत्वात्) परार्थ होने से सूक्त वाक्य का प्रस्तर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

भा०—'सूक्त वाकेन प्रस्तर प्रहरति' इस वाक्य में सूक्त वाक्य से प्रस्तर (प्रथम काटी कुशा की मुट्ठी) का अग्नि प्रहरण (डालना) काल का बोधक है कि जब 'होता' सूक्त पाठ करे उस समय अध्वर्यु कुशा मुट्ठी को अग्नि में डाले यहां 'सूक्त वाक्य' और 'प्रस्तर' दोनों एक दूसरे के लिये होने से गौण हैं अर्थात् परमात्मा के गुण गान परक होने से 'सूक्त वाक' और 'स्रुवा' के धारण करने से प्रस्तर गुण है और गुण होने से उनका कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं रहता अतएव सम्बन्ध हानि से वह उसका अंग नहीं मान सकते यदि वह काल बोधक माना जावे तो वह कथित वाक्य सार्थक होता है कि अध्वर्यु प्रस्तर को अग्नि में फेंके ऐसा अर्थ ठीक होता है

अतः उक्त वाक्य में सूक्तवाक् काल का विधान है न कि प्रहरण अंग का।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (उपदेशः) उपदेश होने से (हि) निश्चय (याज्याशब्दः) वह याग सम्बन्धी देवता का द्योतक होने से (अकस्मात्) निमित्त रहित (न) प्रहरण का अंग नहीं।

भा:—जो वाक्य उदाहरण में दिया गया है उसमें साधन वाची तृतीया विभिक्ति के प्रयोग से सूक्त वाक को प्रस्तर प्रहरण का अंग सिद्ध किये विना सिद्ध नहीं हो सकता। और प्रस्तर प्रहरण को होम रूप होने से साधन की अपेक्षा रखता है वह साधन रूप से सूक्त वाक का सम्बन्ध हुये विना रह नहीं सकता यदि सम्बन्ध न किया जावे तो श्रूयमाण विभक्ति सर्वथा व्यर्थ होगी अतः वह काल बोधक नहीं किन्तु प्रस्तर प्रहरण का ही अंग है।

सं०—'परार्थ' होने को सूक्तवाक का जो सम्बन्ध नहीं बतलाया उसका यह समाधान है।

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(स) सूक्तवाक (देवतार्थ) देवता निमित्त होने पर भी प्रस्तर का अंग है क्योंकि (तत्संयोगात्) उसका देवता से प्रस्तर का सम्बन्ध होता है।

भा०—'अग्निरिदं हविरजुषत' इस मन्त्र में कथित अग्नि-कर्तृक उस हवि के स्वीकार करने का विषय देवतोद्देश्य के प्रक्षेप पूर्वक अपूर्व कर्म 'प्रहरति' धातु से अर्थ कल्पना की गई है क्योंकि इसी कल्पना से दोनों वर्णन और कथन असम्भव होते हैं और जिस परमात्मा के निमित्त प्रस्तर प्रक्षेप रूप अपूर्व कर्म कल्पना है उसी देवता का वह सूक्त वाक द्योतक है अतः देवता और प्रस्तर का योग बन जाता है और इसलिये वह 'प्रस्तर प्रहरण' का अंग माना जा सकता है।

सं०—'प्रस्तर प्रहरण' में 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार कर्म की आशंका से उस पूर्व अर्थ को संपुष्ट करते हैं।

प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ॥ १४ ॥

प० क्र०—(प्रतिपत्तिः) प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्ति रूप संस्कार कर्म है (चेत) यदि (इति) कहो तो असमीचीन है क्योंकि (स्विष्टकृद्वत) स्विष्टकृत कर्म के समान (उभय संस्कारः) दोनों प्रकार के कर्म (स्यात्) हैं।

भा०—सब आहुति दिये जाने के पश्चात् जो हवि द्रव्य शेष रह जाता है उस हवि शेष का जो वैदिक मन्त्रों से 'स्विष्टकृत्' नाम की अग्नि में आहुति डाली जाती है उस कर्म को स्विष्टकृत कहते हैं उसी प्रकार यह मन्त्र प्रतिपाद्य देवता के उद्देश से शेष हवि का डाला जाना रूप होने से 'प्रयाज' के समान अपूर्व कर्म एवं 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कार कर्म दोनों

प्रकार के कर्म हैं उसी भाँति प्रस्तर प्रक्षेप भी उभय कर्म मानने चाहिये अतः सूक्त वाक का देवता द्वारा प्रस्तर सम्बन्धे न प्रस्तर प्रहरण सम्बन्ध अंग ही माना जावेगा।

सं०—'सूक्त वाक' नामक मन्त्रों का अर्थ के अनुकूल विनियोग कह कर अब पूर्व पक्ष करते हैं।

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥ १५ ॥

प० क्र०—(उभयत्र) दर्श तथा पूर्ण मास यज्ञ में (सर्व प्रवचनं) सूक्त वाक नामक सब मन्त्रों का पाठ करना बतलाया है क्योंकि (कृत्स्नोपदेशात्) 'सूक्त वाक' नाम के ग्रहण से सब मन्त्रों का प्रहरण के साथ अंग होने से उपदेश मिलता है।

भा०—सूक्त वाक्य से प्रस्तर प्रहरण बतलाया गया है अतः सूक्त वाक जितने मंत्रों का नाम है। उन सब मंत्रों का प्रति यज्ञ में प्रस्तर प्रहरण में विनियोग होगा न कि अर्थ के अनुसार किसी मंत्र विशेष का।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥ १६ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के निमित्त है (यथार्थ) 'सूक्तवाक' नामक मंत्रों के अर्थ अनुकूल प्रत्येक यज्ञ में प्रस्तर प्रहरण में विभाग के साथ विनियोग होने से (शेष भूत संस्कारात्) वह यज्ञ के शेष भूत अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी देवता का स्मरण दिलाने रूप संस्कार का रूप है।

यज्ञ में जो वेद मंत्रों का पाठ है उसका मुख्य प्रयोजन यज्ञ सम्बन्धी देवता का स्मरण करना है जिस यज्ञ में जिस पाठ से यज्ञ सम्बन्धी देवता का स्मरण न हो उस यज्ञ में उस मंत्र का पाठ वृथा है। इदंद्यावा पृथिवी" आदि जिन मन्त्रों को सूक्त वाक कहते हैं उनमें कई मन्त्र प्रकाश गुण को आगे रख कर 'अग्नि' रूप से तथा कई 'सौम्य' रूप गुण से 'अग्नीषोम्' से ऐश्वर्य गुण का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं। उक्त संज्ञा बल से दर्शपूर्णमास यज्ञ के बीच में प्रत्येक याग में प्रस्तर प्रहरण आदि पाठार्थ सार्थक नहीं होता क्योंकि पूर्ण याग में ही 'अग्नी-षोम' आदि देवता हैं नकि दर्शयाग में। अतएव जिस याग में जिन मन्त्रों का पाठ वृथा है और संज्ञाबल से पाठ करना भी उसी प्रकार अनुचित है क्योंकि 'समीचीन कथन करने वाले का नाम 'सूक्त वाक' है अतः उन मन्त्रों का याग सम्बन्धी प्रस्तर प्रहरण में विनियोग करना ठीक है जो उस-उस देवता अर्थ पदक हों न कि सम्पूर्ण मन्त्रों का और यही मानना ठीक भी है।

सं०—इस अर्थ में शंका करते हैं।

वचनादिति चेत् ॥ १७ ॥

प० क्र०—(वचनात्) 'सूक्त वाके न प्रस्तर प्रहरति' इस वाक्य से सूक्त वाक नामक सब मंत्र का प्रत्येक यज्ञ में प्रस्तर प्रहरण में विनियोग होगा ठीक है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं।

भा०—यतः उक्त वाक्य में सूक्त वाक शब्द का ग्रहण है न कि सम्पूर्ण मंत्रों का नाम है अतएव प्रत्येक यज्ञ प्रस्तर प्रहरण में उस संज्ञा वाले सम्पूर्ण मंत्रों का ही विनियोग होना ठीक है न कि अर्थानुसारी विभाग के साथ।.

सं०—उक्त शंका का समाधान किया जाता है।

प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥ १८ ॥

प० क्र०—(कृत्स्न शब्दः) सब मंत्रों के वाचक सूक्त वाक शब्द का ग्रहण (उभे प्रति) दर्श तथा पूर्णमास दोनों के अभिप्राय से है क्योंकि (प्रकरण विभागात्) दोनों एक ही प्रकरण के हैं।

भा०—'सूक्त वाक' शब्द का ग्रहण दर्श और पूर्णमास दोनों यागों के अभिप्राय से है एक २ के अभिप्राय से नहीं दोनों के प्रकरण भी एक ही हैं और कृत्स्न शब्द प्रयोग से यही पाया जाता है कि विभाग पूर्वक दोनों का आशय है अतः सज्ञानुसारी विनियोग करके केवल अर्थ के अनुसार ही विभाग के साथ विनियोग करना समुचित है।

सं०—'काम्य याज्यानु वाक्या नामक मंत्रों का काम्येष्टि मात्र में विनियोग होना चाहिये उसका निरूपण करते हैं।

लिंगसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥ १९ ॥

प० क्र०—(समाम्नानं) काम्य याज्यानु वाक्य द्वारा का (काम्य युक्तं) काम्येष्टियों में ही विनियोग होता

है न कि शष्टि मात्र में क्योंकि (लिङ्ग क्रम समाख्यानात्) क्रम एवं समाख्या सहित लिङ्ग से ऐसा ही पाया गया है।

भा०—'क्रम' और 'समाख्या' का आश्रय लेकर ही कर्म मन्त्र के परस्पर अंगांगि भाव रूप सम्बन्ध विशेष को बतला सकता है नकि स्वतन्त्र होकर क्योंकि स्वतन्त्र लिंग से कर्म सम्बन्धी देवता का ज्ञान हो जाने पर कर्म मन्त्र का परस्पर सम्बन्ध सामान्य ज्ञान होने पर भी 'अमुक' कर्म के साथ इस मन्त्र का अङ्गाङ्गि भाव रूप विशेष सम्बन्ध है इस प्रकार सम्बन्ध विशेष का ज्ञान श्रुति कल्पना अथवा क्रम और समाख्या के विना नहीं हो सकता इसलिये उनका द्रष्टियों में ही विनियोग होना ठीक है नकि 'इन्द्राग्नी देवता परक इष्टिमात्र में।

सं०—'आग्नीध्र' आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत मन्त्रों का विनियोग निरूपण करने को पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं।

अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष का सूचक है। (अधिकारे) ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में। (मन्त्रविधिः) जो 'अग्नीध्र' आदि मण्डपों के उपस्थान निमित्त 'आग्नेयी' आदि मन्त्रोपदेश है वह। (अतदाख्येषु) अप्रकृत मन्त्रों में क्योंकि। (शिष्टत्वात्) साधारण रूप से किया गया है।

भा०—ज्योतिष्टोम प्रकरण में "आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते" "ऐन्द्रया सदः" "वैष्णव्या हविर्धानं" यह आग्नेयी ऋचायें हैं जो पढ़ी जाती हैं इसमें "आग्नेयी" ऋचा को पढ़ते हुये "आग्नीध्र" नामक "ऐन्द्री" ऋचा को पढ़ कर 'सदः' नामक "वैष्णवी" ऋचा को पढ़ता हुआ "हविर्धान" संज्ञक मण्डप के समीप जाते ऐसा पढ़ा जाता है। सामवेद की "अग्ने आयाहि वीतये गृणानो हव्य दातये, निहोता सत्सि बर्हिषि:" ऋचा का गान करता है। इस ऋचा में अग्नि, इन्द्र तथा विष्णु नाम से स्तुति होने से "ऐन्द्री" "आग्नेयी" तथा "वैष्णवी" ऋचा कही गई है। यहाँ उपस्थान साधन मन्त्र में का 'आग्नेय' 'ऐन्द्र' तथा 'वैष्णव' नाम से उपदेश है नकि ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ा हुआ 'आग्नेय' आदि नाम से है। यदि वह ज्योतिष्टोम में 'अग्नेय' आदि नाम से होता तो उससे प्रकृत 'आग्नेय' आदि मन्त्रों का ग्रहण होता नकि प्रकृत मन्त्रों का क्योंकि सामान्य रूप से उपदिशत होने पर विशेष का ग्रहण संभव नहीं। अतः मण्डपों के उपस्थान में अप्रकृत 'आग्नेय' आदि मन्त्रों का ही विनियोग विधि होने से प्रकृत मन्त्रों का नहीं कह सकते।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान यह है।

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है। (तदाख्यः) जिस स्तोत्र अथवा शस्त्र साधन आग्नेय आदि मन्त्र

को प्रकरण में पढ़ा गया है उन्हींका मण्डपोस्थान में विनियोग है नकि अप्रकृत का अतः। (प्रकरणोपपत्तिभ्यां) प्रकरण तथा युक्ति सिद्ध है।

भा०—आग्नेय आदि मन्त्रों का साधारण रूप से निर्देश किया गया है नकि विशेष रूप से, तब भी यहाँ प्रकृत मन्त्रों का ही ग्रहण ठीक है नकि अप्रकृतक मन्त्रों का क्योंकि प्रकृत के समीप तथा अप्रकृत के दूर है यह नियम है कि सन्निहित (समीप) तथा असन्निहित (दूर) के बीच में 'सन्निहित' बलिष्ट होता है परन्तु बलवान् होने से उसका छोड़ना ठीक नहीं इसलिये 'आग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में प्रकृत 'आग्नेय' मन्त्र ही विनियोग में आने चाहिये 'अप्रकृत नहीं आने चाहिये।

सं०—इसमें यह युक्ति है।

अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता (न ह्युपस्थानं फलवत्) ॥ २२ ॥

प० क्र०—(च) और यदि 'आग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग माना जावे। (उपदेशः) उपदेश विधि। (अनर्थकः) निष्फल। (स्यात्) हो जाती है क्योंकि। (फलवता) फलित ज्योतिष्टोम के साथ। (असम्बन्धात्) असम्बन्ध होने से। (उपस्थाने) जिस उपस्थान से सम्बन्ध है वह। (फलवत्) फल दायक। (नहिं) नहीं है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ के साथ सम्बन्ध होने से मंत्रों का यदि उपस्थान के साथ सम्बन्ध मान लें तो उनका उपदेश

सफल हो सकता क्योंकि ज्योतिष्टोम फलवाला है और उसी के साथ उपस्थान का सम्बन्ध स्थापित होता है परन्तु प्रकृत आग्नेय आदि मंत्रों का ज्योतिष्टोम के साथ योग है न कि अप्रकृत 'आग्नेय' आदि का। अतः प्रकृत मंत्र परित्याग कर के अप्रकृत मंत्रों का विनियोग मानना अनुचित है।

सं०—'आग्नेय ऐन्द्र' तथा वैष्णव मंत्र पढ़े जाने से उनका स्तोत्र और शस्त्र आदि क्रिया में पूर्व ही कि वियोग होने से फिर उपस्थान विधान कर के कर्मान्तर विनियोग नहीं मानना चाहिये क्योंकि एकवार विनियोग हुये का पुनः विनियोग नहीं हो सकता। इसका समाधान करते हैं।

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

प० क्र०—(सर्वेषां) सब मंत्रों का (उपदिष्ट त्वात्) वाचः स्तोम याग में विनियोग का उपदेश है (च) अतः विनियोग किये का पुनः विनियोग करना दोष नहीं।

भा०—'वाचः स्तोम याग' के सिवाय ज्योतिष्टोम आदि यागों में जो मंत्रों का पुनर्विनियोग मिलता मिलता है वह नहीं होना चाहिये था परन्तु वह मिलता है अतः यह सत्य है कि एक कर्म में विनियोग किया मंत्र कर्मान्तर में विनियोग किया जा सकता है। अतएव 'स्तोत्र' तथा 'शस्त्र' क्रिया में विनियुक्ति होने से आग्नीध्र आदि मण्डलों के उपस्थान में प्रकृत मंत्रों का ही विनियोग मानना सत्य है न कि अप्रकृत का।

सं०—'सोम भक्षण' से बतलाने वाले मंत्रों को 'ग्रहण' आदि विनियोग निरूपण करने को पूर्व पक्ष करते हैं।

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥

प० क्र०—(अनुवाकस्य) अनुवाक का (भक्षार्थता) भक्षण में ही प्रयोग होने में विनियोग है क्योंकि (लिङ्ग समाख्यनाभ्यां) लिङ्ग तथा समाख्या से ऐसा ही मिलता है।

भा०—ज्योतिष्टोम प्रकरण में 'अभि पुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परत्य सदसि सोम भक्षयन्ति अर्थात् सोम कूट कर रस निकाल आहवनीयह वन करने योग्य बचे शेष सोम रस का मण्डप के पश्चिम द्वार से निकल कर सदो 'नामक मण्डप में बैठ कर सब ऋत्विक उस शेष का भक्षण करें। यहाँ यद्यपि इस अनुवाक में भक्ष करने के बतलाने वाले मंत्रों का पाठ किया गया है। अब भक्षण में ग्रहण, अवेक्षण निगरण तथा सम्यक जरण यह चार व्यापार हैं भक्षण का विधान तो है परन्तु 'ग्रहण' का नहीं इसलिये अनुवाक में विनियोग कल्पना करना ठीक नहीं। अतएव लिङ्ग और समाख्या में आधार पर सम्पूर्ण अनुवाक भक्षण अर्थ में ही है ग्रहण में नहीं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्यचोदितत्वात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(तस्य) भक्षानुवाक सम्बन्धी (अपकर्षः) भक्षण वाक्य से भिन्न ग्रहण आदि में विनियोग क्योंकि

(रूपोप देशाभ्यां) उनसे रूप ग्रहण आदि विधान होने से (अर्थस्य) ग्रहण आदि का (चोदितत्वात्) वह यह यक्षण विधान विधि से ही प्रेरित अथवा अर्थ वाला है।

भा०—भक्षण विधि भी तो ग्रहण की ही विधि है इस के लिये विधि की आवश्यकता नहीं। अतः विधान पाये जाने से (ग्रहण) अतिरिक्त नहीं कहा जा सकता और अनुवाक से ग्रहण स्पष्ट भी है जो लिङ्ग रूप होने से 'समाख्या की अपेक्षा बलवान है अतः सम्पूर्ण अनुवाक्य भक्षण अर्थ में विनियोग नहीं हो सकता उसका लिङ्गानुसारी ग्रहण अवेक्षण, निगरण, तथा सम्यक् का जरण चारों में विनियोग करना क्या है ॥ *

सं०—उक्त वाक्य में तृप्ति और भक्षण के द्योतक में 'द्र' आदि मंत्रों का भक्षण मात्र में विनियोग होना चाहिये

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमंन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थ संयोगात् ॥ २६ ॥

प० क्र०—(मन्द्रादि) 'यन्द्र' मंत्र (एक मंत्रः) सम्पूर्ण मंत्र (स्यात्) भक्षण के लिङ्ग हैं न कि तृप्ति के भी (गुणा भिधानात्) तृप्ति का गुण रूप कथन

* प्रथम सोम रस को चमस पात्र में भर के हाथ में लेना उसे 'ग्रहण' फिर देखना कि कोई अवांछनीय वस्तु तो नहीं गिर पड़ी अपेक्षण निगरण निगलना या भक्षण करना और सम्यक जरण उसे अच्छी तरह पचा लेना। यह चारों काम भक्षण के ही लिये हैं।

(तयोः) मंत्र में तृप्ति और भक्षण दोनों के द्योतक भागों का (एकार्थ संयोगात्) भक्षण रूप अर्थ में ही मुख्य योग्य है।

भा०—यद्यपि मंत्र के पूर्व भाग से 'तृप्ति और द्वितीय से भक्षण का अभिधान मिलता है तथापि वह अभिधान दोनों का प्रधान रूप से नहीं है वह भक्षण का प्रधान रूप से और तृप्ति का गौड़ रूप से है अतः वह रूप से अभिधायक नहीं। अतः वह मंत्र भक्षण ये ही विनियोग है न कि अन्य तृप्ति

सं०—शेष सोम रस के भक्षण में विनियुक्त मंत्र का शेष सब सोमों के भक्षण में विनियोग करते हैं।

लिंग विशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

प० क्र०—(समान विधानुपु) शेप सोम रस युक्त ग्रहों के भक्षण का समान विधान (अनैन्द्राणां) जो 'ऐन्द्रा' ईश्वर निमित्त अप्रदत्त उस का भक्षण (अमंत्रत्वे) मंत्र का विनियोग नहीं क्योंकि(लिंग विशेष निर्देशात्) उसमें इन्द्र पीत शेपत्व, अभिधापक सामर्थ्य रूप लिंग विशेष का कथन मिलता है।

भा०—इन्द्रपीत सोम रस के शेप का ही वह मंत्रांश से विधान मिलता है नकि(मित्रावरुण)आदि पीत सोम रस के शेप का, क्योंकि उसके प्रकाशन में वह असमर्थ है) अतः मंत्र कल्पना नहीं हो सकती अतः सर्व ग्रहों के भक्षण का विधान होते हुए भी इद्रपीत शेपत्व प्रका-

शन सामर्थ्य रूप लिंग बलाश्रित 'ऐन्द्र शेष' भक्षण मन्त्र युक्त और 'अनैन्द्र शेष भक्षण अमन्त्रक है।*

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

प० क्र०—(वा) अथवा (यथा देवतं) जिस गुण रूप देवता को प्रधान स्वीकार कर ईश्वरोद्देश्य से ग्रहों द्वारा सोमरस हवन किया जाता है उस-उस देवता अनुसार 'ग्रहा' से अनैन्द्र ग्रहों के भक्षण में भी वही मंत्र विनियोग होना चाहिये (हि) निश्चय क्योंकि (तत्प्रकृतित्वं) इन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति तथा विकृति भाव (दर्शयति) शास्त्र से पाया जाता है।

भा०—जैसे ग्रहा करने से ऐन्द्र शेष भक्षण के समान "मित्रा वरुण" आदि शेष के भक्षण का भी उस मंत्र में भाव है क्योंकि उस 'ग्रहा' के होने के कारण उसका स्वरूप 'इन्द्र पीतस्य' के स्थान में 'मित्रा वरुण आदि पीतस्य' हो गया है जो प्रीति योग्य वरणीय गुण विशिष्ट परमात्म उद्देश्य से जिस 'मैत्रा वरुण आदि पात्र में रक्खे सोम रस का प्रदान किया है उसका शेष मैं भक्षण करता हूं यह अर्थ हो जाता है और इस

*श्री माधवाचार्य अधिकरणमाला में लिखते हैं कि नवमाधाये वक्ष्यमाण देवता धिकरण न्यायेनाशरीरस्येन्द्रस्य पाना समावादथ 'पीत' शब्दने दानं विवक्षेत, तदानीं इन्द्रायदत्तः सोम इति मंत्रार्थो भवति अर्थात् ईश्वरोद्देश्य से प्रदत्त सोमरस वह 'इन्द्रपीत' संज्ञक होता है।

अर्थ से वह मंत्र मैत्रा वरुण आदि शेष भक्षण के विधायक बल दृष्टि से सामर्थ्यता प्रकट होती है अतः उक्त अर्थ में विनियोग अनुचित नहीं सार यह है कि जैसे ऐन्द्र शेष का भक्षण समंत्रक है उसी प्रकार ऊहा पूर्वक अनैन्द्र शेष का भक्षण भी समंत्रक है।

सं०—अब पुनरभ्युन्नीत सोम शेष के भक्षण विषय में निरूपण करते हैं।

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२६॥

प० क्र०—(पुनरभ्युन्नीतेषु) ग्रहों में फिर से डाला हुआ सोमरस उसके भक्षण काल में। (सर्वेषां) इन्द्र तथा मैत्रा वरुण सब। (उपलक्षणं) ऊहा करनी होगी क्योंकि। (द्विशेषत्वात्) वह सोम रस का भक्षण करने योग्य शेष है।

भा०—होता के 'वषट' शब्द बोलने पर 'इन्द्रोद्देश्य' से हवन करके रहा जो सोम रस उसका द्रोण (कलश) से और सोम रस मिला कर 'होता' 'अनुवषट्' शब्द बोलकर 'मित्रावरुण' आदि के उद्देश्य से हवन करने योग्य को ऐन्द्र शेष से निकाल कर अन्य सोम रस से नहीं किन्तु दोनों को मिला कर हवन करने पर रहे शेष सोम रस के साथ जिस प्रकार मित्रा वरुण का सम्बन्ध है उसी प्रकार इन्द्र सम्बन्ध होने से उक्त शेष के भक्षण में विनियोग किया मंत्र 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र के विनियोग में 'इन्द्र मित्रावरुण पीतस्य' ऊहा कर लेनी चाहिये अर्थात् 'इन्द्र' शब्द

युक्त बोलना नकि केवल मित्रावरुण की ही ऊहा करनी चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का निरूपण करते हैं।

अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष द्योतक है। (पूर्वस्य) जिसके लिये पहिले हवन किया गया। (अनुपलक्षणे) भक्ष मन्त्र में ऊहा नहीं होनी चाहिये क्योंकि (अपनयात्) भक्षण करने योग्य शेष के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

भा०—जैसे आचार्य शेष का भक्षण करता हुआ देवदत्त दूसरा और अन्न मिलाकर विष्णुदत्त को दे देवे तो वह शेष जिसका विष्णुदत्त भक्षण कर रहा है देवदत्त का ही कहा जायगा नकि आचार्य का क्योंकि देवदत्त के बीच में आ जाने से आचार्य का सम्बन्ध न रहा। उसी प्रकार इन्द्र शेप सहित जिस 'पुनरुत्रति' सोम से मित्र वरुण निमित्तक होम किया गया है वह "मित्रावरुण निमित्तक" उसका शेष कहलावेगा। न कि 'इन्द्र' का अतः ऐसी ऊहा आवश्यक नहीं। अतएव मित्रावरुण की ही ऊहा ठीक है और मित्र वरुण पीतस्य में 'इन्द्र' की ऊहा नहीं होनी चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

ग्रहणाद्वाऽपनयः स्यात् ॥३१॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (अनपनयः) इन्द्र-सम्बन्ध-विच्छेद न होने से (स्यात्)

हो सकता है क्योंकि (ग्रहसात्) ग्रहण पाया जाता है।

भा०—"पूर्व शेष द्रोण फलशात् मित्रा वरुणाधर्थं गृह्णाति"। इस वाक्य से कलश से मित्रावरुण के लिये सोम रस ग्रहण करे अतः इससे इन्द्र शेष में मित्रवरुण के लिये सोम का पुनरुन्नीत सोम इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध संस्कार विशेष विदित्त है न कि आचार्य शेप की भांति इन्द्र शेष का मित्रावरुण आदि के लिये। अतः उसके न पाये जाने से इन्द्र शेप सहित पुनरुन्नीत सोम का मित्रावरुण आदि ईश्वर के उद्देश्य से हवन करने पर शेष से इन्द्र और मित्रावरुण का सम्बन्ध है अतः सम्बन्ध विच्छेद न होने से शेप के भक्षण समय भक्ष मंत्र इन्द्र की ही श्रद्दा करनी चाहिये मित्रावरुण की नहीं।

सं०—'पात्नीवत' पात्रस्थ होमविशेष के भक्ष में पात्नीवान अग्निरूप ईश्वर देवता के साथ इन्द्र वायु आदि की श्रद्दा न करना निरूपण करते हैं।

पात्नीवते तु पूर्ववत् ३२॥

प० क्र०—(तु) पूर्व भक्ष का द्योतक है (पात्नीवते) पात्नीवत ग्रह में वचा होम शेष खाने के समय भक्ष मंत्र में (पूर्ववत्) पूर्व की भांति श्रद्दा कर लेनी चाहिये।

भा०—"उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति" इस वाक्य के अनुसार पात्नीवत नामक पात्र में ग्रहण किया सोम उक्तपात्र में आग्रयण नामक स्थाली से

से लिए गये सोम का पात्नीवान् देवता के हेतु से हवन करने के पश्चात् जो शेष रहे वही इस अधिकरण का विषय है उसके खाने के समय "इन्द्र वायु पत्नी वत्पीतस्य' इस प्रकार पत्नीवान के साथ इन्द्र, वायु आदि की ऊहा होनी चाहिये जैसे इन्द्र शेष में सोमान्तर मिलकर मित्रावरुण के निमित्त हवन करने पर जो शेष रह जाता है उसमें इन्द्र सम्बन्ध रखता है। उसी प्रकार इन्द्र वायु आदि के शेष में सोमान्तर मिलाकर पात्नीवान् के उद्देश के हवन करने पर जो शेष बचे उसमें इन्द्र वायु का सम्बन्ध अन्यत्र नहीं होता अतः इन्द्र वायु की ऊहा कर लेना ठीक है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ॥ ३३ ॥

प० व्यु०—(वा) पूर्वपक्ष द्योतक है (उपानीतः) पात्नीवत् पात्र के शेष में इन्द्र वायु आदि के सम्बन्ध विच्छेद (स्यात) होता है (ग्रहणात्) उसमें आग्रयण स्थाली से सम्बन्ध हीन हुए लाने का ग्रहण हुआ।

भा०—जिस देवता का जिस उद्देश्य से जिस पात्र से प्रथम हवन किया गया है उसी पात्र में शेष सोम के साथ सोमान्तर मिला का अन्य देवता के हेतु हवन करने पर जो शेष रह जाता है उससे प्रथम देवता से सम्बन्ध है विच्छेद नहीं होता इसी प्रकार पात्नीवान के साथ इन्द्र वायु आदि भी ऊहा की कल्पना करना ठीक नहीं। उस मन्त्र में 'पत्नी वत्पीतस्य' पात्नी-

वान् की ही ऊहा होनी ठीक है इन्द्र वायु आदि के सहित पात्नीवत की नहीं ।

सं०—पात्नी वान शेष के भक्ष मंत्र में 'त्वष्टा' रूप ईश्वर की 'अनूहा' करने को पूर्व पक्ष करते हैं ।

त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात ॥ ३४ ॥

प० यु०—(तु) पूर्व पक्ष द्योतक है (त्वष्ठारं) त्वष्टानामके परमात्मा की (उपलक्षयेत्) पात्नीवत शेष-भक्षण की ऊहा होनी ठीक है क्योंकि (पानात्) सोम ग्रहण करना सुना जाता है ।

भा०—इस हवन मन्त्र में "अग्नेपत्नीहा वह देवाना मुशती रूप त्वष्टारं सोम पीतये स्वाहा।" में त्वष्टा सहित पत्नी वान का सोम ग्रहण करना कहा गया है अतः सिद्ध है कि पत्नीवान् के समान त्वष्टा का भी पत्नीवान् ग्रह में स्थित हवनीय सोम के साथ सम्बन्ध है और इसी कारण शेष के साथ भी सम्बन्ध है अतः शेष भक्षण के समय भक्ष मन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की भी ऊहा होनी ठीक है ।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग है (एवं) इसी प्रकार पत्नी के साथ त्वष्ठा की ऊहा (न) नहीं (स्यात) होसकती क्योंकि सोम के स्वीकार में दोनों का सम्बन्ध एक सा नहीं होता ।

भा०—उक्त हवन मन्त्र में पत्नी वान के साथ त्वष्टा का सम्बन्ध उस के सह अवस्थान मात्र में है न कि

सोम स्वीकार के लिये क्योंकि पत्नी वान * अग्नि रूप ईश्वर से ही 'अग्ने' इस प्रकार सम्बोधन करके सोम स्वीकार की प्रर्थना की गई है। यदि त्वष्टा भी ग्रहण में होता तो पत्नी वान के समान त्वष्टा को भी सम्बोधन करके सोम स्वीकार की प्रर्थना की जाती अतः पात्नीवान में सोम के साथ उस का सम्बन्ध है नकि त्वष्टा का अतः उस के सम्बन्धी शेष भक्षण समय उस भक्ष मंत्र में पत्नीवान के साथ त्वाष्टा की ऊहा होनी समीचीन है।

प० क्र०—पात्नीवान शेष भक्ष मन्त्र में पात्नीवान अग्नि देवता के साथ तेतीस देवताओं की ऊहा नहीं करनी।

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (त्रिंशत) ते तीस देवताओं की ऊहा नहीं हो सकती क्योंकि (परार्थत्वात्) वह गौण होने से।

भा०—पात्नीवान अग्नि के स्वीकार करने में तेतीस देवताओं का स्वीकार करना राजा के स्वीकार कर लेने पर जैसे भृत्यों की भी स्वीकारी के समान अर्थ सिद्ध होता है अतः उक्त शेष भक्ष मंत्र में ऊहा करने की आवश्यकता नहीं। अतः भक्ष मंत्र में पत्नीवान अग्नि देवता के साथ उनकी ऊहा नहीं हो सकती।

* पात्नीवान एक पात्र होता है।
"अग्ने पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" यह यजुर्वेद ८। १० का मन्त्र है।

सं०—अनुवषट्कार के देवता अग्नि की प्राप्त नहीं करने चाहिये ।

वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥ ३७ ॥

प० यु०—(च) और (कर्तृवत्) होता, अध्वर्यु आदि की यश मन्त्र में प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार (वषटाकार) अनुवषटाकार के देवता अग्नि की भी प्राप्त नहीं हो सकती ।

भा०—जैसे एन्द्र याग रूप प्रकृति में न लिये जाने से होता आदि ऋत्विजों की भक्त मन्त्र में ऊहा नहीं होती उसी प्रकार अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी ऊहा नहीं की जा सकती । कारण कि ऐन्द्र प्रदान रूप प्रकृति याग (इन्द्र के प्रदान के निमित्त यज्ञ) में उस देवता का ग्रहण नहीं है । जिस मन्त्र को पढ़ कर 'अनुवषट्' इस शब्द का अन्तोच्चारण किया जाता है उस मन्त्र में सम्बोधन विभक्ति के ग्रहण से परमात्मा का नाम "अनुवषट्कार देवता हो जाता है और जिस भाँति इन्द्राग्नि के उद्देश्य से होम होता है उस प्रकार इसके निमित्त नहीं किया जाता । यह तो केवल मान्त्रिक देवता है ।

सं०—सत्ताइसवें सूत्र में पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं ।

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष के लिये आया है । (छन्दः प्रतिषेधः) जगती छन्द के निषेध पूर्वक अनुष्टुप छन्द की ऊहा का विधान 'ऐन्द्र' तथा 'अनैन्द्र' प्रदानों के प्रकृति

तथा विकृति भाव में प्रमाण नहीं क्योंकि। (सर्वगामित्वात्) ज्योतिष्टोम याग एक होने से सोम और सोम के अन्य धर्म का सातथा मंत्र दानों में एकसा है।

भा०—ज्योतिष्टोम याग में 'सोमने यजेत्' इस विधिवाक्य से 'सोम' कर्म का अंग माना प्रतीत होता है नकि किसी प्रदान विशेष का। यदि प्रदान विशेष का अंग होता तो 'ऐन्द्र' तथा अनैन्द्र प्रदानों में परस्पर प्रकृति तथा प्रवृति भाव की कल्पना की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त कर्माङ्ग होने से सम्पूर्ण प्रदानों में उसका समान भाव से सम्बन्ध मिलता है इसी प्रकार सोम के साथ उसके सम्पूर्ण धर्म भी मिलते हैं और प्रतिसोम धर्म के होते हुये एक प्रदान को प्रकृति तथा दूसरे को विकृति नहीं कहा जा सकता। अतः 'ऐन्द्र' शेष का भक्षण ही समंत्रक है और अनैन्द्र शेष का भक्षण समंत्रक नहीं।

सं०—ऐन्द्राग्न शेष भक्षण को अमंत्रक कथन करते हैं।

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है। (एन्द्राग्ने) 'ऐन्द्राग्न' नामक ग्रह-शेष के भक्षण में। (स्यात्) भक्ष मंत्र विनियोग है कारण कि। (लिङ्गभावात्) उनका विनियोजक लिङ्ग विद्यमान है।

भा०—जो सोम तथा इन्द्र दोनों के हेतु प्रदान किया गया है वह इन्द्र के भी अर्थ से दिया जा सकता है अतः

उसके शेष भक्ष में 'इन्द्रपीतस्य' भक्ष मंत्र भी विनियोग हो सकता है अतः ऐन्द्र शेष भक्षण के समान 'ऐन्द्राग्न' शेष का भी भक्षण समंत्रक है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥ ४० ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष परिहार के लिये आया है। (विभागवत्) चार भाग करने। (एकस्मिन्) एक सोम भक्षण में ही होता है। (देवतान्तरात्) इन्द्र से 'इन्द्राग्नी' देवता भिन्न हैं।

भा०—प्रदान मिले हुये देवता के निमित्त से पाया जाता है यक्ष मंत्र अमिश्रित देवता को बतलाता है इसलिये विनियोजक लिङ्ग के न होते हुये उस मंत्र का विनियोग नहीं हो सकता। अतएव ऐन्द्र शेष भक्षण के समान ऐन्द्राग्न शेष भक्षण समंत्रक नहीं किन्तु अमंत्रक ही है।

सं०—अनेक छन्द वाले 'ऐन्द्र शेष' के भक्षण में उस भक्ष मंत्र का विनियोग निरूपण करते हैं।

छन्दश्च देवतावत् ॥ ४१ ॥

प० क्र०—(च) शब्द। (तु) शब्द के अर्थ में पूर्वपक्ष का द्योतक है। (देवतावत्) इन्द्र देवता के निमित्त प्रदत्त सोम भक्षण करने योग्य शेष में यक्ष मंत्र का प्रयोग है उसी प्रकार। (छन्दः) एक गायत्री छन्द वाले सोम भक्ष्य शेष में भी उस मंत्र का विनियोग होना ठीक है।

भा०—'गायत्री छान्दस इन्द्र पीतस्य' इस भक्ष मन्त्र में इन्द्र पीतस्य का विशेषण 'गायत्र छान्दस' आया है

और गायत्री छन्द वाला मन्त्र इन्द्रोद्देश्य से प्रदत्त सोम के लिये जिसका भक्षण किया जाता है ऐसा अर्थ होने से केवल एक गायत्री वाले छन्द ऐन्द्र शेष के भक्षण का ही उस मन्त्र से प्रकाश पाया जाता है अनेक छन्द वाले इन्द्र शेष-भक्षण का नहीं। अतः उस भक्ष मन्त्र का एक छन्द वाले ऐन्द्र शेष के भक्षण में ही विनियोग होना ठीक है अनेक छन्द वाले उस शेष के भक्षण में नहीं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

सर्वेषु चाऽभावादेकच्छन्दसः ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये है (सर्वेषु) अनेक छन्द वाले एक ऐन्द्र भक्षण में विनियोग नहीं होते क्योंकि (अभावात् एक छन्द सः) कोई ऐन्द्र सोम एक छन्द वाला होता ही नहीं।

भा०—ऐन्द्र शेष का भक्षण समंत्रक और अनैन्द्र अर्थात् मित्रावरुण आदि शेष का भक्षण अमंत्रक है। क्योंकि ऐसा कोई ऐन्द्र प्रदान नहीं जिसमें केवल एक गायत्री छन्द वाला ही मन्त्र बोला जाता हो और गायत्र्य छान्दस विशेषण का गायत्री छन्द ही है अतः अनेक छन्द वाले ऐन्द्र शेष के भक्षण में उस भक्ष मन्त्र का विनियोग मिलता है न कि एक छन्द वाले 'ऐन्द्र शेष' के भक्षण में।

सं०—इसका समाधान यह है।

सर्वेषां वैकमंत्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि ॥ ४३ ॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष परिहारार्थ है (सर्वेषां) इन्द्र, अनैन्द्र सब शेष भक्षण में (एक मन्त्र्यं) एक ही भक्ष मन्त्र का विनियोग है (हि) कारण कि (भक्षि पान त्वात्) 'दा' धातु के अर्थ में 'या' धातु प्रयोग करके बहुव्रीहि समास द्वारा लक्षणावृत्ति के आश्रय से (सत्वनाधिकारः) 'सवन' अर्थ किया है यह (ऐतिशायनस्य) महर्षि ऐतिशायन मानते हैं।

भा०—महर्षि 'ऐतिशायन' ऐसा मानते हैं कि इन्द्रेण पीत सोमं तृतीया तत्पुरुष समास 'इन्द्र पीतस्य' में किया जावे तो उस मन्त्र का ऐन्द्र शेष भक्षण का ही द्योतक होगा न कि अनैन्द्र शेष भक्षण का परन्तु जिन दो पदों का समास किया गया है उसके उत्तर पद का अर्थ जिस समास में प्रधान हो उसको तत्पुरुष समास कहने से 'इन्द्र पीतस्य' में तत्पुरुष नहीं किन्तु पीत का अर्थ देता होने से 'बहुव्रीहि' है जिन दो पदों का समास किया गया है उन दोनों पदों के अर्थ के सिवाय जिस समास में प्र[illegible]ण होने से 'बहुव्रीहि' लक्षण बनने पर 'इन्द्र पीतस्य' का इन्द्राय पीतः दत्तः सोमोयस्मिन सत्र ने स इन्द्र पीतः तस्य शेषं भक्षयामि अर्थ हो जायगा। अतएव ऐन्द्र शेष भक्षण ही क्या किन्तु सवन मात्र के शेष भक्षण का यह द्योतक है। अतः ऐन्द्र शेष भक्षण के समान अनैन्द्र शेष का भक्षण भी समंत्रक है अर्थात् सब समंत्रक हैं।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा भाष्ये भगवती भाषा भाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

———

ॐ

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—अब ऋग्वेदादिका धर्म निरूपण करते हैं ।

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

प० क्र०—(जाताधिकारः) धर्म विशेष वाले मंत्रों का 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म (स्यात्) है क्योंकि (श्रुतेः) उनके विधान करने वाले 'उच्चैऋचा' आदि वाक्यों में मंत्र वाचक 'ऋचा' आदि शब्दों का उपदेश पाया जाता है ।

भा०—वाक्य में ऋक और साम से 'उच्चैः' और 'यजुः' से उपांशु कर्म करने का विधान है । इसमें जो ऋचा पद है वह ऋग्वेद का वाचक नहीं प्रत्युत ऋक्त्व आदि धर्मवान मन्त्रों के वाचक हैं अतः यह धर्म मंत्रों में विदित हैं न कि वेदों के सम्बन्ध में विधान किये गये हैं । जो ज्योतिष्टोमप्रकरण में पठित उच्चैऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषा ।

सं०—इसका समाधान करते हैं ।

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष परिहारार्थ है (वेदः) ऋग्वेद के वाचक हैं क्योंकि (प्रायदर्शनात्) वेदों के उपक्रम से पदों का प्रयोग हुआ है।

भा०—उपक्रम से ऋग्वेदादि का कथन ही पाया जाता है और उसी के अनुसार उपसंहार करते समय ऋचादि पदों के यथाक्रम उस वेद का भी ग्रहण किया गया है। एक देश ग्रहण से समुदाय देश ग्रहण का नियमानुसार उस वाक्य में 'ऋग्वेदादि एक देश ऋचा का ग्रहण है अतः इस* वाक्य में ऋचादि पद वेद वाची हैं इसी कारण 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म ऋकत्वादि जात्या क्रान्त मंत्रों के नहीं बतलाये गये हैं किन्तु ऋग्वेदादि के हैं।

सं०—उक्तार्थ साधक लिङ्ग निरूपण करते हैं।

लिङ्गाच्च ॥३॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गात्) उसका चिह्न मिलने से भी उस अर्थ की प्रमाणिकता है।

भा०—यथार्थकारश प्रातः मध्यान्ह एवं सायं काल वेद के उपदेश तथा अभ्यास आदि के विधान करने के लिये प्रथम चरण में ऋग् द्वितीय में यजुः तृतीय में सामवेद

*प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति स तपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्य स्त्रयोवेदाः असृज्यन्त अग्नेऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्साम वेदः।

कथन करके चौथे चरण में बहुवचनान्त 'वेदैः' शब्द का प्रयोग होने से उक्त 'उच्चै ऋचा' में ऋचापद वेद-वाची होना पाया जाता है क्योंकि बिना ऋग् के वेद वाची हुए। बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। यदि ऐसा न होता तो 'वेदाभ्यां द्विवचनान्त प्रयोग होता क्योंकि द्वितीया और तृतीया दोनों में साक्षात् वेद शब्द का प्रयोग पाया जाता है अतः यह धर्म वेद के हैं मंत्रों के नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥

प० क्र०—(च) और (धर्मोपदेशात्) साम का उच्चैस्त्व कथन से सिद्धि है (हि) क्योंकि (द्रव्येण) साम के साथ (सम्बन्धः) उच्चैस्त्व धर्म सम्बन्ध (न) ऋगादि पदों का वेदार्थ माने बिना नहीं हो सकता।

भा०—जब ऋचा पर गान किये जाने से जो ऋचा का धर्म है वह साम का धर्म हो जाता है तो उसका विधान निरर्थक हो जाता है अतः सिद्ध है वे तीनों शब्द मंत्र वाची नहीं किन्तु वेद वाची ही हैं अतः उच्चैस्त्व वेद के धर्म हैं न कि मंत्र के।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

प० क्र०—(च) और (तद्विदि) तीनों वेद के जानने वाले में (त्रयी विद्याख्या) त्रयी विद्या नामक प्रवृत्ति से भी यही सिद्ध होता है।

भा०—जैसे तीनो वेदों के ज्ञाता को 'त्रैविध' संज्ञा देते है और अन्यथा ऐसा नहीं कहा जा सकता था अत एव यहां ऋग् यजु और साम यह तीनो की ही संज्ञा है एवं विद्या शब्द समानाधि करण होने से उन्हें वेद वाची प्रमाणित करता है और यदि यह मन्त्र संज्ञक होते उन्हे त्रयी विद्य नहीं कहते ।

सं० इस में आशंका करते हैं ।

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(व्यतिक्रमे) ऋचा का यजुर्वेद में तथा यजुः का ऋग्वेद में पाठ होने पर (यथा श्रुति) श्रुन्त उच्चैस्त्व आदि धर्म लाभ से भी उन शब्दों को वेद वाची मानता ठीक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो ठीक नहीं ।

भा०—ऋचा आदि शब्द वेद वाची मानने से ऋचा में उच्चैस्त्व और यजु में उपांशुत्व श्रवण लाभ नहीं हो सकता और पाठ व्यति क्रम से भी ऋचा का उच्चैस्त्व और उपांशुत्व एक साथ होता है अतः उक्त शब्दों को वेद वाची मानना ठीक नहीं किन्तु मन्त्र वाची मानकर उसके उच्चैस्त्व और 'उपाशुत्व' विधान मानने समीचीन है ।

सं—इस आशंका का यह समाधान है ।

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(न) ऋचा पाठ के व्यति क्रम से उस के धर्म का व्यति क्रम हो जाने में दोष नहीं क्योंकि वह

(सर्वस्मिन) दोनों ऋग् और यजुर्वेद में (निवेशात्) मिले रहने से माना गया है।

भा०—ऋचा अथवा यजु का जिस वेद में पाठ है उस में सर्वत्र उस वेद के धर्म को माना है अतः पाठ व्यति क्रम से कोई दोष नहीं आता अतः ऋचा आदि पदों से वाच्य ऋग्वेद आदि का उस धर्म में विधान है मन्त्र का नहीं मानना ही समीचीन है।

सं—उक्तार्थ को सम्पुष्ट करते हैं।

वेदसंयोगान्न प्रकरणेनबाध्येत ॥ ८ ॥

प० क्र०—(वेद संयोगात्) वेद सम्बन्ध से 'उच्चैस्त्व' आदि कार्यों का नियम है उसका (प्रकरणेन) प्रकरण से भी (न वाध्यते) हानि नहीं होती।

भा०—जो कर्म यजुर्वेद से किया जाना बतलाया है और वाक्य के बल से उस कर्म में पाठ ऋग्वेदस्थ मंत्र विनियोग प्राप्त है तो कर्म-अनुष्ठान काल में उस मंत्र का पाठ उच्च स्वर से किया जावेगा न कि उपांशु (धीरे स्वर) से। वेद सम्बन्ध से उच्च स्वर तथा प्रकरण सम्बन्ध से उपांश स्वर माना गया है अतः प्रकरण स्वर की समीपता होते हुए भी वाक्य प्राप्त स्वर का बाधक नहीं अतएव ऋचादि पद ऋग्वेदादि के वाचक एवं उच्चैस्त्व आदि उसके धर्म कहे गये हैं मंत्रों के नहीं।

सं०—'अग्न्याधान' कर्म में साम का उपांशु गान निरूपण करते हैं।

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥

प० क्र०--(गुण मुख्य प्रतिक्रमे) गुण एवं मुख्य में वेद के धर्म उच्चैस्त्व आदि सम्बन्ध की आशंका पर (मुख्येन) मुख्य में ही (वेद संयोगः) वेद धर्म का सम्बन्ध होता है क्योंकि (तदर्थत्वात्) गुण एवं धर्म सब मुख्य के हेतुक हैं नकि गुण के।

भा०—यजुर्वेद के दो ब्राह्मण कहलाते हैं "शतपथ" और "तैत्तरीय"। शतपथ की ११वीं कण्डिका में "अग्नि मन्नाद मन्नाद्या यादधे" यजुर्वेद ३।५ के आधार पर यह कहा गया है कि वसन्ते ब्राह्मणोग्नि नादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः अग्न्याधान करे और अंग रूप से वामदेव्य संज्ञक सामों का गान कहा गया है। वह गान सामवेद के धर्म 'उच्चैः' स्वर से हो अथवा यजुर्वेद के धर्म उपांश (धीरे स्वर) से हो इसमें यद्यपि सामवेद में उक्त धर्म के उत्पन्न होने से उच्चैः स्वर से उन सामों का गान होना ही ठीक है तथापि अंग रूप से विधान होने से वह साम गुण गौण एवं अंगी होने से 'अग्न्याधान' कर्म में मुख्य अथवा प्रधान है। एवं मुख्य होने से वह यजुर्वेद विहित कर्म याजुर्वेदिक है और यजुर्वेद के उपांशुत्व धर्म होने से 'उच्चैस्त्व' से प्रबल है अतः जिस प्रकार आधान के अंगभूत मंत्रों का उपांशु पाठ होता है उसी प्रकार वह सामों का भी उपांशु गान होना समुचित है उच्च स्वर से नहीं।

सं०—ज्योतिष्टोम याग याजुर्वेदिक है उसका उपांशु अनुष्ठान कथन करते हैं।

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥ १० ॥

प० क्र०—(उभय श्रुति) दो वेदों में सुने हुये कर्म का प्रधान रूप से विधान। (भूयस्त्वेन) अंगों की अधिकता से निर्णय किया जाता है।

भा०—यजुर्वेद तथा सामवेद दोनों में ज्योतिष्टोम याग का विधान मिलता है उसका उपांशु अथवा उच्चैस्त्व किस प्रकार अनुष्ठान हो इस आशंका पर उक्त याग का विधान दोनों वेदों में एकसा मिलता है परन्तु यजुर्वेद में अधिक अंग से मिलता है उतना सामवेद में नहीं अतः स्पष्ट है कि यजुर्वेद में उसका प्रधान रूप से विधान है सामवेद में शेष गुण विधान रूप से अनुवाद है अतः ज्योतिष्टोम याग याजुर्वेदिक है अतः उसका अनुष्ठान भी उपांशुत्व धर्म स होना चाहिये और सासवेद के उच्चैस्त्व धर्म से नहीं।

सं०—यत्, श्रुति, लिंग और वाक्य तीनों विनियोजक बतलाये थे। अतः प्रकरण की विनियोजकता कथन करते हैं।

असंयुक्तं प्रकरणादिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(असंयुक्तं) श्रुति, लिंग, तथा वाक्य का जिस का विनियोग नहीं हो उसका। (प्रकरणात्) प्रकरण से विनियोग समझना चाहिये क्योंकि। (इति कर्तव्यतार्थित्वात्) प्रधान में अंग के विनियोग की आकांक्षा होती है।

भा०—दर्शपूर्णमास याग में 'समिधो यजति' इन्द्रोयजति आदि वाक्य से 'प्रयाज' संज्ञक पांच आहुतियाँ

घी की देने का विधान है यह आहुतियाँ अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम याग सर्व कर्मों का अंग है अथवा दर्श पूर्ण मास का ही अंग है इसमें अगांगि भाव सम्बन्ध के बोधक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, क्रम तथा समाख्या छः प्रमाण माने गये हैं इसके उत्तरोत्तर ग्रहण करने के नियम से इस वाक्य में 'श्रुति' 'लिङ्ग' तथा वाक्य तीनों के बीच में कोई प्रमाण नहीं है तब भी प्रकरण ही प्रमाण है क्योंकि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः वह दर्शपूर्णमास याग का अंग है न कि अग्नि होत्र का।

सं०—'क्रम' योग से विनियोग निरूपण करते हैं।

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

प० क्र०—(च) और (क्रमः) अनुमंत्रण मंत्र तथा उपांशु याग के अंगागि भाव का बोधक स्थल है क्योंकि (देश-सामान्यात्) दोनों का एक ही स्थान है।

भा०—जिस प्रकार अध्वर्यवकाण्ड में उपांशु याज का दूसरा स्थान है उसी प्रकार उसका द्वितीयस्थान यजमान काण्ड में है और जिसका जिसके साथ समान स्थान है अथवा यथा संख्य पाठ है उसके साथ उसका सम्बन्ध पाणिन आचार्य के अनुसार एक ही है* अतः वह मंत्र उपांशु याज का अंग है ऐसा मानना चाहिये।

सं०—अब समाख्या का विनियोग निरूपण करते हैं।

* "यथा संख्य मनुदेशः समानम्" अष्टाध्यायी १।३।१०।

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

प० क्र०—(च) तथा एवं क्रमानुसार (आख्या) समाख्या भी विनियोजक समझनी चाहिये क्योंकि (तदर्थत्वात्) उसके कर्त्ता क्रिया का योग मिलता है।

भा०—होताके कर्म करे हौत्र और अध्वर्यु का कर्म 'आध्वर्यव और उ, दाता का कर्म औ, दात्र' कहलाता है और "याज्यापुरोऽनुवाक्या पाठ से हौत्र आदि समाख्या से विधान मिलता है इससे होता रूप कर्त्ता का योग उक्त पाठसे कर्म के संग अध्वर्यु रूप कर्त्ता का दाहेनादि कर्म के साथ तथा उद्गाता रूप कर्त्ता का आज्यस्तोत्र कर्म से स्पष्ट सम्बन्ध मिलता है अतः समाख्याबल से जिन कर्म के साथ जिस ऋत्विक का सम्बन्ध मिले वह कर्म उसी को कर्त्तव्य है अन्य को नहीं।

सं०—श्रुति प्रमाण एक स्थान पर एकत्रित होने पर किसके अनुसार विनियोग होना ठीक है इस के बलाबल का विचार करते हैं।

श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

प० क्र०—(श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थानादि) श्रुति लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छः (समवाये) श्रुति, लिंगे लिंग वाक्या, वाक्य प्रकरण, प्रकरण, क्रम, और समाख्या इन दो दो भांति के प्रमाणों के एक स्थान में न जाने से (पारदौर्बल्य) पूर्व प्रबल और उत्तर निर्बल होता

है कारण कि (अर्थ विप्र कर्षात्) पूर्व की अपेक्षा उत्तर से ठहर कर विनियोग होता है ।

भा०—लिङ्ग आदि पाँचों प्रमाण श्रुति के समान साक्षात् विनियोजक नहीं किन्तु श्रुति कल्पना से लिंग लिंग तथा श्रुति दोनों की कल्पना से वाक्य, वाक्य लिंग इन तीनों से प्रकरण, प्रकरण, वाक्य लिंग, श्रुति इन चारों की कल्पना से स्थान, स्थान, प्रकरण वाक्य, लिंग और श्रुति इन पांच की कल्पना से समाख्या रूप छठवाँ प्रमाण विनियोजक की विनियोग व्यवस्था से जिस की अपेक्षा जिस के विनियोजक होने में विलम्ब होता है उसकी अपेक्षा वह निर्बल होता है अतः प्रबल को आदर का नियम होने से वह आदरणीय होता है अतः इन के एकत्रित एक स्थान में होने पर पूर्वानुसारी नहीं । यह समाख्या दो प्रकार की अर्थात् लौकिकी और वैदिकी होती है । यौगिक पद को समाख्या कहते हैं ।

सं०—बारह उपसद् संज्ञक होम का निरूपण करते हैं ।

अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः ॥ १५ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के लिये प्रयोग है । (अहीनः) अहीनयाग । (गौणः) ज्योतिष्टोम याग की गौण संज्ञा है कारण कि (प्रकरणात्) प्रकरण में उसका पाठ है ।

भा०—यतः यह नियम है कि जिसके प्रकरण में जिसका विधान हो उसी प्रकरण के अंग का वह विधान समझना

चाहिये। यहाँ पर ज्योतिष्टोम का प्रकरण है क्योंकि कहा है कि 'एक साहू साधात्वत्साहो ज्योतिष्टोमः" एक दिन में ज्योतिष्टोम होता है अतः उसकी 'साहू' संज्ञा है परन्तु इस गौण नाम का यह भाव है कि 'फल तथा अंग से रहित नहीं अथवा सवर्ग पूर्ण एवं फल सहित को 'अहीन' कहा जाता है अतः यह भी उस याग की गौण संज्ञा होती है और इसी कारण याग में द्वादश 'उपसद्' दोनों का विधान माना गया है क्योंकि तीन अथवा बारह-बारह किसी-किसी ज्योतिष्टोम में विकल्प मानकर दो विषम संख्या के दोनों को माना है अतः तीन 'उपसद्' होम विधान होने से और फिर बारह 'उपसद्' होम विधान से वह द्वादश भी अहीन नामक ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद रूप अंग है न कि 'अहीन' नामक किसी यज्ञ विशेष का।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ॥१६॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व पक्ष के निराश करने को आया है (तस्मात्) ज्योतिष्टोम याग से कई दिन में पूर्ण होने वाला 'अहीन' संज्ञक यागान्तर में (अपकृष्येत) द्वादश 'उपसद्' दोनों का अपकर्ष सम्बन्ध होना ठीक है क्योंकि मुख्यस्य मुख्य वृत्ति द्वारा 'अहीन' शब्द (असंयोगात्) उसका वाच्य वाचक भाव ज्योतिष्टोम के साथ नहीं होता।

भा०—मुख्य वृत्ति से मुख्यार्थ लाभ होने से जैसी वृत्ति से गौणार्थ कल्पना समीचीन नहीं क्योंकि मुख्य अर्थ की असंभवता में ही गौणार्थ कल्पना की जाती है और यथार्थ में 'अहीन' शब्द का अहर्गण साध्य 'अहीन' संज्ञक यागान्तर मुख्यार्थ बनता है इसलिये उस अर्थ जो द्वादश 'उपसद' होमों का विधान है। वह अहीन शब्द से ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उस याग के अंग विधान नहीं किये जाते किन्तु 'अहीन' नामक यागान्तर के अंग किये गये हैं यही ठीक हो सकता है।

सं०—अब 'कुलाय' आदि संज्ञक यागों में 'प्रतिपत्' संज्ञक मंत्रों का उत्कर्ष निरूपण करते हैं।

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥१७॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का द्योतक है। (द्वित्वबहुत्व युक्तं) दो अथवा अधिक यजमान वाचक द्विवचन और बहु-वचनान्तपद मंत्रों का ज्योतिष्टोम से पृथक् कर 'कुलाय' आदि यज्ञ में नियोजित करना ठीक है क्योंकि (तस्य) ज्योतिष्टोम में दो अथवा बहुत यजमान की (अचोद-नात्) प्रेरणा अथवा विधि नहीं बतलाई गई है।

भा०—ज्योतिष्टोम याग में यद्यपि दोनों मंत्रों का 'प्रतिपत' करना बतलाया है तब भी उस याग में उनका अनु-ष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि दो यजमान के होने से 'युवं' मन्त्र का तथा बहुत से यजमान के होने से 'एते' मंत्र का 'प्रतिपत्' बतलाया है और ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान का विधान है परन्तु एक से

अधिक यजमान हुए विना उस मंत्र का सम्बन्ध होना असम्भव है उससे पहिले 'कुलाय' संज्ञक याग में जो 'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेत्" वाक्य दो यजमान के और "चतुर्विंशति परमाः सत्र मासीरन" वाक्यों से सत्र में अधिक यजमानों का उपदेश है इसलिये "युवं" मंत्र का 'कुलाय' नामक याग में 'एते' मंत्र का सत्र में उत्कर्ष कर्त्तव्य है ज्योतिष्टोम में अनुष्ठान ठीक नहीं।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष करते हैं।

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥ १८ ॥

प० क्र०—(पक्षेण) यजमान की असमर्थता से ज्योतिष्टोम में भी (अर्थ कृतस्य) अर्थ से एक अथवा दो यजमान होना सम्भव है (चेत्) यदि (इति) कथन ठीक नहीं।

भा०—यतः ज्योतिष्टोम याग में एक ही यजमान की विधि है परन्तु किसी कारण वश सामर्थ्य हीन होने पर एक अथवा दो यजमान एक यजमान यदि रोगी हो जावे अथवा अन्य कारणों से स्वयं न कर सकने से वह अपने स्थान पर अन्य यजमान को वना कर उसकी विधि सम्पादन करे ऐसी अवस्था में दो अथवा अनेक यजमान हो जाना सम्भव है। इसी कारण उक्त 'प्रतिपत्' नामक दोनों मंत्र ज्योतिष्टोम यज्ञ में बैठ सकते है अतः 'कुलाय' नामक यज्ञों में उस यज्ञ का 'उत्कर्ष' आवश्यक नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

नप्रकृतेरेकसंयोगात् ॥ १६ ॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि। (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोम यज्ञ में। (एक संयोगात्) एक ही यजमान का विधान है।

भा०—ज्योतिष्ठोम में विधि से एक और अर्थ से अनेक यजमान हो सकते हैं। विधि प्राप्त यजमान बली होता है वह अर्थ प्राप्त से कभी नहीं रुक सकता। यजमान के प्रतिनिधि का निषेध पाया जाता है क्योंकि यजमान का कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता। प्रथम यजमान का प्रतिनिधि दूसरा जो होगा उसमें यजमान धर्म नहीं होता क्योंकि वह 'भृति' समान कर्म सम्पादनार्थ ही होगा अतः ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान होना शक्य है अतः वह मंत्र संगत में अशक्य हैं अतएव उक्त याग में विच्छेद करके कुलाय 'नामक यागों में' 'उत्कर्ष' सम्बन्ध उचित है न कि अनुचित।*

सं०—अब 'जाघनी' का पशुयाग में 'उत्कर्ष' निरूपण करते हैं।

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥ २० ॥

प० क्र०—(च) तथा (जाघनी) जाघनी का पशुयज्ञ में उत्कर्ष होने से भी (एकदेशत्वात्) उक्त पशु (एकदेश) अंग है।

* प्रकरण पाठ को उससे अलग करके अन्य ऊपर के पाठ से सम्बन्ध करने देने को' उत्कर्ष और नीचे के किसी प्रकरणी से योग करने को अपकर्ष कहते हैं।

भा०—दर्श पूर्णमास में "जाघन्या पत्नीः संयाज यन्ति" अर्थात् दान में दिये जाने वाले पशु की पूँछ को हाथ में पकड़ कर 'पत्नी संयाज' नामक चार घी की आहुतियाँ दी जाती हैं उसमें 'पत्नी संयाज' नामक संस्कार का विधान मिलता है यह संस्कार्य पदार्थ के होने पर ही संस्कार होना सम्भव है और जैसे संस्कार्य प्रच्छ अपने अवयवी पशु में नित्य जुड़ी हुई है उसी प्रकार यदि दर्श पूर्णमास याग से उसका विच्छेद करके पशु याग में उत्कर्ष हो तो ठीक है न कि प्रकृत याग में जाना ठीक है। अर्थात् 'पत्नी संयाज नामक संस्कार उक्त संस्कार की विद्यमानता में 'जाघनी' द्वारा ही हो सकता है न कि अलग जाघनी को हाथ में लेकर आहुति देने से वह भी प्रकृत याग में नहीं किन्तु पशु याग में है अतः विधान का उत्कर्ष' ही ठीक है।

सं०—'पत्नी संयाज' में पूर्व पक्ष करते हैं।

चोदना वा अपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का द्योतक है। (चोदना) उस वाक्य में 'पत्नी संयाज' के अंग रूप से 'जाघनी' का विधान है क्योंकि। (अपूर्वत्वात्) ऐसा करने से अपूर्व अर्थ लाभ होता है और (एकदेशः) पशु हिंसा करने से उसके अंग 'जाघनी' की प्राप्ति है। (चेत्) यदि। (इति) ऐसा कहा जावे तो असम्मत है।

भा०—'जाघनी' द्वारा देने योग्य पशु के 'पत्नी संयाज' नामक संस्कार का विधान होने से नहीं किन्तु वह संस्कार कर्म के लिये साधन रूप से 'जाघनी' का विधान करता है क्योंकि उक्त संस्कार प्रथम प्राप्त होने पर भी उसका साधन जाघनी प्रथम उपलब्ध नहीं अतः उसी का साधन विधान उस वाक्य में कहा गया है। यही उसकी अपूर्वता है कि वह पूर्व प्राप्त नहीं है। और दर्शपूर्णमास याग में प्रदेश पशु विधान नहीं होता परन्तु उसका अवयव जांघनी का मिलना कठिन नहीं क्योंकि वह पशु हिंसा से सब को सुलभ है और शास्त्र में बतलाये जाने से यह 'सिद्ध हिंसा' करना कोई पातक नहीं।* अतः जाघनी का उत्कर्ष युक्त नहीं किन्तु प्रकृत याग में निवेश ही ठीक है।

सं०—इस हिंसा करने का समाधान करते हैं कि क्या है!

एकदेश इति चेत् ॥२२॥

नप्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥ २३ ॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि। (प्रकृतेः) प्रकृत याग में जाघनी का आना मानने से। (अशास्त्र निष्पत्तेः) सर्व शास्त्र में निसिद्ध बतलाई 'हिंसा' करनी पड़ती है।

---

* श्रीशंकराचार्यजी ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कदाचित् इसी पूर्वपक्ष के आधार पर कहने का धोखा खाया है। आधुनिक टीकाकारों ने गजब ढा दिया है यहाँ तक लिख दिया कि दर्शपूर्ण मास में पशु के न होने पर वह 'जंघनी' मूल्य अथवा पशु हिंसा से सम्पादनीय

भा०—शास्त्र में उसी पदार्थ का साधन रूप से निरूपण करते हैं जो प्राप्त हो सकता हो परन्तु जो अप्राप्त है और सर्वदा अनुपलब्ध हो उसका उपदेश नहीं करते। यदि पशु संस्कार के निमित्त जांघनी के उद्देश से 'पत्नी संयाज' नामक संस्कार में विधान न माने किन्तु उक्त कर्म सिद्धि मात्र के लिये ही जांघनी का साधन रूप से विधान स्वीकार करें तो उक्त कर्म सम्पादनार्थ हिंसा करनी पड़ती है परन्तु उसका शास्त्र में निषेध है उस निषेध का उल्लंघन करके 'जाघनी' की पूर्ति के लिये हिंसा करना महान अनर्थ है क्योंकि याग 'अध्वर हिंसा याग' अहिंसा कर्म का नाम है।*

सं०—'सन्तर्दन' का ज्योतिष्टोम याग की संस्था भूत "उकथ्य" आदि यागों में उत्कर्ष निरूपण करने को पूर्व पक्ष करता हूँ।

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात्स्यात्॥२४॥

प० क्र०—(सन्तर्दनं) सन्तर्दन का (प्रकृतौ) अग्निष्टोम में (स्यात्) मिला हुआ (पैठ) है क्योंकि (अनर्थ-लोपात्) ऐसा मानने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होता और (क्रयणवत्) सोम मोल लेने के साधन

है यह पंक्ति उनके शब्दों में यह है जांघनी शब्देन पशोर्भागोऽभिधीयते सच दर्शपूर्णमासयोः पशु यागत्वा भावेऽपिक्रयादिना सम्पादयितुं शक्यते" "सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्याऽप्यानीयमाना" इस जाघनी का अनुत्कर्ष बड़े समारोह से समर्थित है जो सर्वथा त्याज्य है।

स्वर्ण तथा गौ आदि के समान उसका विधान संभव है।

भा०—जैसे ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में "दीर्घ सोमे सन्तृद्यात् धृत्यै" सोम धारण को 'दीर्घ सोम' दीर्घ सोम नामक याग में सोमपीसने की दोनों सिलोंको किसी से जोड़ ले-यह वाक्य है इस वाक्य में 'सन्तर्दन' कि जिस का ज्योतिष्टोम याग की संस्था भूत 'उकथ्य' आदि यागों में उत्कर्ष है अथवा 'उकथ्य' आदि संस्थाओं की प्रकृति भूत अग्निष्टोम में घुसी हुई है क्योंकि ज्योतिष्टोम की उकथ्य, षोडषी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याग, वाजपेय, यह साथ संस्था हैं इन में ६ विकृतियां हैं तथा ज्योतिष्टोम नाम सातों एक सी हैं आदि शंका को दूर करने को पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम याग में सातों संस्थायें के बीच में अग्निष्टोम ही मुख्य है क्योंकि वह प्रकृति है शेष विकृतियां हैं और सोम पीसने की सिलें ज्योतिष्टोम की 'हन' है यह दोनों जुड़ी नहीं होतीं अतः यह भी 'सन्तर्दन' में नहीं आती अतः सन्तर्दन का निषेध पाया जाता है परन्तु वह भी सर्वथा निषेध नहीं क्योंकि "हिरण्येन क्रीणाति गवा क्रीणाति" सुवर्ण की गौ से सोम को मोल लेवें इस वाक्य से विकल्प मिलता है अतः 'सन्तर्दन' कथन का अभिप्राय अग्निष्टोम रूप प्रकृति में ही निवेश है न कि 'उकथ्य' आदि विकृति में उसका 'उत्कर्ष है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥ २५ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का खण्डन करता है (उत्कर्षः) 'अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष माना है क्योंकि (विशेषस्य) उस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घ सोम रूप विशेषण (ग्रहणात्) लिया गया है।

भा०—'दीर्घ सोमे सन्तृधात् धृत्यै' इस वाक्य में 'दीर्घ सोम' पद षष्टीतत्पुरुष समास नहीं किन्तु दीर्घश्चासौ सोमः ज्योतिष्टोम श्चेति दीर्घ सोमस्तस्मिन् दीर्घ सोमे' कर्म धारय समास है जो उस पूर्व की अपेक्षा बलवान हैं। परन्तु ग्रहों की अधिकता से पुनः आवृति के कारण दीर्घ सोम कहा जाता है परन्तु अग्निष्टोम में यह कुछ नहीं होता परन्तु उकथ्य में यह सब होने से यह अर्थ बैठ सकता है अतः यह स्पष्ट है कि दीर्घ सोम 'उकथ्य' का ही वाचक है न कि अग्निष्टोम का अतः सन्तर्दन का उकथ्य 'मे उत्कर्ष मानना असंगत है अग्निष्टोम में ही मानना चाहिये।

स०—पुनः पूर्व पक्ष किया जाता है।

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

प० क्र०-(वा) पूर्वपक्ष द्योतक है (कर्तृतः) यजमान सम्बन्ध से ही ज्योतिष्टोम याग का 'दीर्घ सोम' विशेषण है क्योंकि (विशेषस्य) :उसका विशेषण (तन्निमितत्वात) यजमान निमित्तक है।

भा०—जिस यज्ञ में यज्ञमान (यजमान) अधिक समय तक कर्म नियुक्त रहता है वही दीर्घ सोम कहलाता है और

यजमान के ही अभिप्राय से ज्योतिष्टोम को भी 'दीर्घ सोम' कहा गया है अतः 'सन्तर्दन' का ज्योतिष्टोम में निवेश ठीक है न कि 'उकथ्य' में उसका उत्कर्ष सम्भव है। परन्तु उन्होंने मनुस्मृति अ० ५६ श्लोक ४५ की अर्थ संगति का ध्यान सम्मुख न रक्खा कि जहाँ यह लिखा है कि "योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म सुखेच्छया सजीवश्चै मृत श्चैवन कचित् सुख मेधते" अपने सुख के लिये हिंसा करने वाला इस जन्म और पर जन्म कहीं भी सुख लाभ नहीं कर सकता। यजुर्वेद के प्रथम तथा तेरहवें अध्याय में 'पशून पाहि' पशुओं की रत्ता करो 'गों माहिंसी' 'गौ अवध्या है, अजां माहिंसी' "अवि माहिंसीः 'इमं माहिंसीः' द्विपाद पशु" माहिंसी रेक शर्फ पशुम् अर्थात् गौ, बकरी, भेड़, दोयाव वाले एक खुर वाले सम्पूर्ण पशु ऊंट आदि की हिंसा का निषेध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'याहिस्यात्सर्वभूतानि' आदि उपदेश है उसकी उपेत्ता करके लिखना कहाँ तक आचार्य चरण को उचित था। शवर स्वामी जो इस मीमांसा के लब्ध प्रतिष्ट भाष्यकार है वह "चोदना लत्तणोर्थो धर्मः" इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "हिंसा च प्रतिषिद्धा" इति अर्थात सब वेदों में हिंसा का प्रतिपेध किया गया है। "इसी प्रकार महर्षि व्यास ने योग भाष्य करते हुए लिखा है "हिंसकः प्रथमन्तावद् वध्यस्य वीर्यमात्त्वि पतिततः शास्त्रादि निपातेन दुःखयति ततो जीवतादपि मोच मति × × × × × × × × × यदि च कथंचित् पुण्या दपगता हिंसा भवेत्

तत्र सुख प्राप्तौ भवेदल्पायुरिति" सर्वथा विषेध माना है। पशु हिंसक टीकाकारों ने शुद्ध पवित्र वैदिक याग की वह दुर्दशा की कि जिससे बौद्ध और जैन धर्म को यवनों के अत्याचार रोकने के लिये जैसे सिक्ख धर्म को जन्म लेना पड़ा उसी समान अपना शासन स्थापित करना पड़ा। यह 'सत्याग्रह' अत्याचार रोकने के ही निमित्त हुए अन्यथा इतना विरोध न बढ़ता, परम पिता ने वेदों में मित्रस्य चक्षुषा' समीक्षामहे" यजुर्वेद अध्याय ३६।१८ में कहा था उसे भूलना बड़ी भूल है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के परिहार के निमित्त आया है (क्रतुतः) याग सम्बधेन दीर्घ सोम विशेषण मानना ठीक (स्यात्) है ऐसा मानने से (अर्थ वादानुपपत्तेः) 'धृत्यैः' 'शब्द से 'सन्तर्दन' का सोम धारण रूप जो कथित फल वह नहीं बनता।

भा०—सन्तर्दन का विधान उसके फल का कथन है इससे सिद्ध है कि 'दीर्घ सोम' यह ज्योतिष्टोम का विशेषण है न कि यजमान से उसका सम्बन्ध है प्रत्युत, दीर्घकाल में होने वाले याग से सम्बन्ध है और दीर्घ काल में 'उकथ्य' आदि का ही अनुष्ठान पाया जाता है न कि अग्निष्टोम का अतः 'सन्तर्दन' का 'उकथ्य' आदि में उत्कर्ष होना सम्भव है अग्निष्टोम में निवेश ठीक नहीं।

सं०—इस अर्थ में सन्देह करते हैं।

संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥

प० क्र०—(च) शब्द 'तु' शब्द के स्थान में शंका का द्योतक है (कर्तृवत्) जैसे ज्योतिष्टोम के कर्त्ता का सब संस्थाओं में निवेश है उसी प्रकार (संस्था:) सन्तर्दन का भी सब संस्थाओं में निवेश होना ठीक है क्योंकि (धारणार्थाविशेपात्) सोमधारण सब में एक सा ही है।

भा०—ज्योतिष्टोम की सात संस्थायें पूर्व कही जा चुकी हैं सब में सोम कूटा जाना बतलाया है यह कूटना धारण से ही बनता है वह धारण 'अन्तर्दन के आश्रित हैं अतः ज्योतिष्टोम करने वाले के समान 'सन्तर्दन' का भी अग्निष्टोम आदि संस्थाओं में निवेश होना योग्य है न कि 'उकथ्य' आदि में।

सं०—इसका समाधान यह है।

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥

प० क्र०—(वा) शंका समाधानार्थ प्रयोग है (उकथ्यादिपु) उकथ्य में ही सन्तर्दन का मिला हुआ मानना ठीक है क्योंकि (अर्थस्य) उसमें 'सन्तर्दन' का फल (विद्यमानत्वात) विद्यमान है।

भा०—ज्योतिष्टोम की सब संस्थायें समान और उन सब में सोम कुटता है फिर भी अग्निष्टोम की अपेक्षा 'उकथ्य' आदि में उसे वारम्बार करने के कारण समय लगता है इसलिये अभ्यास और ग्रह बढ़

जाते हैं इसलिये सोम भी अधिक कूटा जाता है इसलिये 'सन्तर्दन' का निवेश आवश्यकीय होता है सन्तर्दन के कारण उसका फल सोम धारण भी ठीक ही है इसलिये 'सन्तर्दन और उकथ्य' के फल जैसे देखे जाते हैं वैसे ज्योतिष्टोम में नहीं कारण कि वहां सोम इतना नहीं होता कि 'सन्तर्दन' की आवश्यकता पड़े। अतः उसका (उकथ्य) आदि में ही निवेश है न कि अग्निष्टोम में।

सं०—फिर आशंका उठाते हैं कि :—

अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(स्तुतिः) उकथ्यादि की दीर्घ सोम रूप से प्रशंसा (व्यर्थ) वृथा है क्योंकि (अविशेषात्) अग्निष्टोम की सब संस्थायों में सोम एक सा है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

भा०—ज्योतिष्टोम की सब संस्थायें एक समान हैं उनके बीच में किसी में सोम कम और किसी में अधिक नहीं कह सकते अतः सब में सोम बराबर बराबर होने से सन्तर्दन का प्रयोग भी एक सा ही होता है अतः केवल 'उकथ्य' आदि में ही निवेश मानना ठीक नहीं किन्तु उकथ्य आदि के समान अग्निष्टोम में भी निवेश मानना ठीक है।

सं०—उस शंका का समाधान करते हैं।

स्यादनित्यत्वात् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—(स्यात्) 'उकथ्य' आदि में सोम अधिक होता है क्योंकि (अनित्यत्वात्) दश मुट्ठी परिमाण का विधान करने वाला शास्त्र अनित्य है।

भा०—यद्यपि प्रकृति में स्थिति सोम का ही विकृति में अति देश है तब भी उकथ्य आदि में सोम का अधिक होना सम्भव है क्योंकि 'दश मुट्ठी परिमाण' के विधायक शास्त्र का अपवाद होने से वह अनित्य सिद्ध होता है इस से 'उकथ्य' आदि में सोम का भी आधिक्य निश्चित है अतः स्तुति व्यर्थ नहीं इसलिये यही मानना समीचीन है कि 'सन्तर्दन का 'उकथ्य' आदि में उत्कर्ष होता है अग्निष्टोम में निवेश नहीं।

सं०—'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का प्रथम प्रयोग में निषेध पूर्वक निवेश में निरूपण करते हैं।

संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात्स्यात् ॥३२॥

प० क्र०—(संख्यायुक्तं) संख्या वाची प्रथम पद वाला वाक्य (क्रतोः) ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी 'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का निषेध करने वाला (स्यात्) है क्योंकि (प्रकरणात्) उक्त प्रकरण में उसका पाठ है।

भा०—'न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यात्' ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में पठित इस वाक्य से प्रथम यज्ञ में 'प्रवर्ग्य संज्ञक कर्म न करे। और "एष वाव प्रथमोयज्ञो यज्ञानांय-ज्जोतिष्टोमः" सब यज्ञों में ज्योतिष्टोम प्रथम यज्ञ है इससे प्रथम याग पाया जाता है अतः वह निषेध प्रथम पद वाची ज्योतिष्टोम मात्र में निवेष होना

उचित है न कि ज्योतिष्टोम के अग्निष्टोम सम्बन्धी प्रथम प्रयोग में ।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है ।

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिंगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (कर्तृ संयोगात्) कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के लिये (नैमित्तिकं) ज्योतिष्टोम का प्रथम यज्ञ नाम कहा गया है क्योंकि । (लिङ्गस्य) प्रथम द्वितीय आदि लोक व्यवहार होने से (तन्निमित्तत्वात्) कर्त्ता की प्रथम प्रकृति आदि के लिये देखा जाता है ।

भा०—पहिला दूसरा अथवा तीसरा कहना वस्तुतः कार्य की आवृति में मुख्य वस्तु है । कर्मसाध्य वस्तु में उसका आचार से प्रयोग होता है जैसे लोक और वेद में पूर्व अध्ययन होने से प्रथम अथवा द्वितीय काण्ड संज्ञा होती है इसी प्रकार ज्योतिष्टोम में आकृति भेद से संख्या सम्बन्ध होता है इसी आकृति भेद से प्रथम तथा द्वितीय यज्ञ आदि कथन है । इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिष्टोम की प्रथम आवृति में 'प्रवर्ग्य' नामक कर्म का निषेध है नकि ज्योतिष्टोम के प्रयोग मात्र में अतः वह निषेध का निवेश ज्योतिष्टोम याग के प्रथम प्रयोग में है नकि सर्वत्र ।

सं०—'पौष्ण पेषण' का विकृति यज्ञ में विनियोग प्रयोग निरूपण करते हैं ।

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ ॥३४॥

प० क्र०—(पौष्णं) सब पदार्थों को पुष्टिकारक परमात्मा निमित्तक प्रदेयपदार्थ । (पेषणं) पीस कर प्रदान विधान उसका । (विकृतौ) पूषा देवता के विकृति याग में विनियोग । (प्रतीयते) मानना चाहिये क्योंकि । (प्रकृतौ) दर्शपूर्णमास याग में । (अचोदनात्) पूषा देवता की विधि नहीं पाई जाती ।

भा०—दर्शपूर्ण मास याग प्रकरण में तत्सात्पूषा प्रपिष्ट भागः वाक्य पढ़ा है उस वाक्य में पूषा परमात्मा के निमित्त पिसा हुआ प्रदान का विधान है उस दर्श-पूर्ण का रूप प्रकृति याग में मिला है अथवा पौष्णं चरुम में । उस प्रकृति याग में पूषा (परमात्मा) के निमित्त किसी पदार्थ के देने का विधान नहीं उसमें तो दातव्य पदार्थ का पीस कर देना कथन है और दूसरे वाक्य से विधान किया पूषा है तता सम्बन्धी विकृति याग चरु आदि देने में हैं अतः पेषण उस विकृति याग में ही मिला है प्रकृति में नहीं ।

सं०—पेषण केवल चरु में घुसा हुआ है बतलाते हैं ।

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(तत्) वह (पेषण) का (सर्वार्थे) परमात्मा निमित्त प्रदेय पदार्थों में मिला होना चाहिये क्योंकि (अविशेषात्) उसका विधान समान रूप से है ।

भा०—विशेष नियम के लिये जैसे विशेष नियामक की आवश्यकता होती है एवं पीसने के बतलाने

वाले वाक्यों से इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं आती जिस से प्रदेय द्रव्यों में किसी एक द्रव्य के पीसने का विनियोग का नियम किया जाय अतः पहिले अधिकरण के अनुसार विकृति याग में विनियुक्त हुये 'पेषण' का पूषा के निमित्त प्रदेय चरु, पशु तथा पुरोहित इन तीनों द्रव्यों का विनियोग है नकि केवल 'चरु' में।

सं०—इस का समाधान करते हैं।

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के लिये आया है (चरौ) केवल चरु में उस पेषण का मिलाव है सर्वत्र नहीं (पुरोडाशे) पुरोडाश में (अर्थोक्तं) वह पूर्व अर्थ से मिलता है और (अर्थ विप्रति षेधात्) पीसने रूप अर्थ का असम्भव होने से (पशौ) पशु में (न स्यात्) वह स्वयं नहीं होता।

भा०—पशु पेषण (पीसने योग्य नहीं) और जिस योग्य जो नहीं उस का मिलाव मानना अनुचित है। दूसरे पशु के प्रदान का शास्त्र विधान करता है पिष्ट पशु का नहीं अतः वह पीसने के चरु में ही मिला है नं. कि चरु, पशु और पुरोडाश में।

सं०—इस अर्थ में शंका कहते हैं।

चरावपीति चेत् ॥ ३७ ॥

प० क्र०—(चरौ, अपि) चरु में भी पीसना असम्भव है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—जैसे पशु में पीसना अथवा उसका पीसा जाना असम्भव है उसी प्रकार चरु भी पेषण (पीसने) के मिलाव से उचित नहीं। अतः चरु में भी पेषण का मिलाव मानना युक्ति युक्त नहीं।

सं०—इस आशंका का समाधान करते हैं।

न पक्तिनामत्वात् ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(न) कथन ठीक नहीं क्योंकि (पक्ति नामत्वात्) पके भात को चरु कहते हैं।

भा०—चरु उस भात को कहते हैं कि जो मिट्टी की हंडिया में पके और उसका मांड न निकाला जावे। उसका पेषण से मिलाव नहीं परन्तु वह पशु में पेषण के मिलाव के समान उसका निवेश भी असम्भव नहीं अतः चरु में ही पेषण का निवेश मानना ठीक है पशु अथवा पुरोडाश का नहीं।

सं०—पौष्ण चरु में एक देवताक पेषण का निवेश है। दो देवताक (सौमा पौष्णा) और ऐन्द्रा पौष्णा चरु में नहीं यह निरूपण करते हैं।

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥

प० क्र०—(एकस्मिन्) एक देवता परक् पेषण का निवेश है द्विदेवता परक चरु में नहीं (एक संयोगात्) पेषण

विधान करने वाले वाक्य से चरु के साथ ही उनका योग मिलता है।

भा०—पेषण के विधान करने वाले वाक्य में केवल पूषा का ही पिसा भाग कथन किया गया है नकि सोम पूषा अथवा इन्द्र पूषा का, इस से सिद्ध है कि उस वाक्य में पिसाभाग जिसका कहा है उसी के निमित्त प्रदेय चरु में पेषण का निवेश उचित है नकि अन्य के उद्देश्य से प्रदेय चरु में। सौमा पौष्णा तथा ऐन्द्रा पौष्णा यह दोनों चरु दूसरे के निमित्त से प्रदेय हैं पूषा के निमित्त से नहीं क्योंकि द्वि देवता परक है अतः इनमें पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

सं०—हेतु देते हैं।

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

प० क्र०—(च) और (धर्म विप्रतिषेधात्) दोनों के धर्मों का विरोध होने से भी द्वि देवता परक चरु में पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

भा०—जिस प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञान परस्पर विरुद्ध होने से एक स्थान में नहीं रह सकते उसी भाँति पूषा के भाग का धर्म पेषण और सोमादि के भाग का धर्म अपेषण भी विरुद्ध हैं। इन दोनों की "सौमा पौष्णा" तथा 'ऐन्द्रा पौष्णा' चरु रूप एक स्थान में एकत्रित नहीं हो सकते उनके मिलाव की कल्पना निर्मूल है अतः पेषण का एक देवता परक 'पौष्ण

चरु' में मिलाव होने पर भी 'द्वि देवता परक' सौमा पौष्ण तथा ऐन्द्रा पौष्ण चरु में नहीं हो सकता।

सं०—इसमें पूर्व पक्ष करते हैं।

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥

प० क्र०—(अपि) 'वा' दोनों शब्द पूर्व पक्ष के द्योतक हैं (स द्वितीये) द्वि देवता परक चरु में भी (स्यात) पेषण का मिलाव होना चाहिये क्योंकि (देवता निमित्तत्वात्) उसके निवेश का निमित्त देवता उसमें है।

भा०—निमित्त सद्भाव से नैमित्तिक सद्भाव की मनाई नहीं की जा सकती और पेषण के निमित्त पूषा देवता का वह सद्भाव दोनों चरुओं में समान है। अतः पौष्ण चरु की सदृश 'सौमापौष्ण' और 'ऐन्द्रा-पौष्ण' चरु में भी 'पेषण' मिलाव होना चाहिये।

सं०—उस अर्थ में लक्षण निरूपण करते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(च) और लिङ्ग दर्शनाच्च) लक्षण देखने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—दोनों चरुरूप धर्मियों में अवच्छेदकावच्छिन्नत्व भेदेन दो परस्पर विरुद्ध धर्म पेषण तथा अपेषण का निवेश हो सकता है। अतः उस लिंग से सिद्ध 'पौष्ण' के समान 'सौमा पौष्ण' और 'ऐन्द्रा पौष्ण' दोनों दो देवता परक 'चरुओं' में भी 'पेषण' का निवेश है।

सं०—"सौमा पौष्णं चरु निर्वपेन्नेम पिष्टं पशुकाम" यह अर्थ पिष्ट का विधायक है लक्षण नहीं अतः इसमें अर्थ सिद्धि नहीं पाई जाती।

वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावा द्विचरावपेषणं भवति ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(वचनात्) उक्त वाक्य नेमपिष्ट का विधायक होने से (सर्व पेषणं) पशु पुरोडाश, और चरु सब में पेषण माने जाने से (तं प्रति) उसके मानने से (शास्त्र वाक्तत्वात) वह वाक्य अर्थ वाला हो सकता है और (अर्थो भावात्) और असंभव तथा फल के अभाव के कारण पशु पुरोडाश में यदि न माने तो (द्विचरौ) सौमा पौष्ण चरु में भी (अपेषणं भवति) वह पेषण न बन सकेगा।

भा०—उक्त वाक्य पशु रूप फल के उद्देश्य से याग मात्र का विधायक है अर्ध पेषण का नहीं क्योंकि पूषा परमात्मा के सम्बन्ध से वह पूषा चरु में उपलब्ध है और पहिले प्राप्ति से उसका विधान नहीं किया जा सकता अतः अनुवाद मान कर लिङ्ग मानना समीचीन है।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्माद-चोदितत्वात् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(वा) शब्द उस पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है (ऐन्द्राग्नवत्) चार भाग करने का एक देवता परक आग्नेय पुरोडाश में ही घटता है और दो देवता

परक ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं उसी प्रकार (एकस्मिन्) एक देवता परक पौष्ण चरु में (स्यात्) पेषण का निवेश है (उभयोः) दो देवता परक 'सौमा पौष्णं' और 'ऐन्द्रा पौष्ण चरु में (न) नहीं क्योंकि (अर्थ धर्मत्वात्) पिष्ट भाग याग का धर्म अभिप्रेत है उसका (अचोदित्वात्) सौमा पौष्ण आदि में विधान नहीं।

भा०—जैसे चार भाग करना केवल आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है ऐन्द्राग्न पुरोडाश का नहीं उसी प्रकार पेषण भी केवल पौष्ण चरु का ही धर्म है 'सोमा पौष्ण' तथा ऐन्द्रा पौष्ण चरु का नहीं। अतएव पेषण का वह द्वि देवता परक दोनों चरुओं में निवेश मानना अनुचित है।

सं०—'तस्मात्पूषा' वाक्यान्त में 'अदन्त को हि स०' यह शेष वाक्य कहा गया है इसमें पूषा को (दन्त हीन) कहा है अतः वह प्रपिष्ट भाग उसका धर्म विदित होता है।

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(अदन्तत्वं) उस वाक्य शेष में जो 'अदन्तत्व' कथन है वह (हेतु मात्रं) देवता मात्र के शरीर हीन होने में कारण जानना चाहिये।

भा०—*'अदन्तत्व' जिस प्रकार पूषा का धर्म नहीं उसी भाँति प्रपिष्ट भाग भी उसका धर्म नहीं किन्तु 'पूष' देवता

* अप्रणोति मना शुभ्र "इस उपनिषद् वाक्य में मन और प्राण दोनों शरीर सम्बन्धी पद है उसके निषेध से शरीर का प्रतिषेध है उसी

वाले याग का धर्म है एवं याग धर्म होने से देवता के लिये पौष्ण चरु में ही पेषण निवेश हो सकता है द्विदेवता परक 'सौमा पौष्ण' और एन्द्रा पौष्ण चरु में नहीं अतः उसका उनमें निवेश मानना ठीक नहीं है।

सं०—जो पूर्वोक्त लिंग से निवेश सिद्धि है तो वह अनुचित कैसे कहा जा सकता है।

वचनं परम् ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(वचनं) विधि वाक्य है (परं) लक्षण नहीं।

भा०—सौमा पौष्ण वाक्य 'नेमपिष्ट पद से पूर्व प्राप्त का अनुवाद नहीं किन्तु 'सौमा पौष्ण' चरु में नेम पिष्टता विधायक है और वह प्रथम अप्राप्त से अपूर्व है तथा अपूर्व अर्थ विधान से सबको मान्य है तथा उस विधान का 'सौमा पौष्ण' चरु में ही पर्यवसान होने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता इस के अतिरिक्त विधि वाक्य लिंग नहीं होता अतः उसके बल से 'सौमा पौष्ण' आदि द्विदेवता परक चरुओं में पेषण का निवेश नहीं मानना चाहिये।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसादर्शने भगवती भाषा भाष्ये तृतीया ध्याये तृतीय पादः समाप्तः।

प्रकार 'अन्दन्तक' पद में दन्त सम्बन्धी शरीर वाची है अतः अशरीरी भाव है।

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः प्रारभ्यते ॥

सं०—'निवीतं मनुष्याणां' को अर्थ वाद प्रतिपादन करने के निमित्त पूर्वपक्ष किया जाता है।

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥१॥

प० क्र०—(निवीतमिति मनुष्य धर्मः) निवीत यह मनुष्य कर्माङ्ग बताया गया है (शब्दस्य) उक्त शब्द से (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्य कर्म प्रधानता है।

भा०—इस वाक्य में जो दर्श पूर्णमास याग में है कि "निवीतं मनुष्याणां प्राचीना वीतं" आदि षष्ठ्यन्त पद पढ़ा गया है उस मनुष्य निर्देश द्वारा उनके साथ निवीत का शेष शेषि भाव सम्बन्ध है और वह निवीत सम्बन्ध माने विना नहीं हो सकता क्योंकि अविहित का शेष होना किसी शास्त्र से भी सिद्ध नहीं हो सकता और उसका फिर विधान न मान कर उस वाक्य को केवल अर्थवाद मानना निरर्थक होता है और विधिपक्ष में दोष न आने से वह अपूर्व अर्थ

का लाभ देने वाला है अतः वह वाक्य मनुष्य सम्बन्धी कर्म के धर्म निवीत का विधायक है न कि उपवीत विधि का स्तुति कर्त्ता अर्थवाद कहा जा सकता है।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) शंका का द्योतक है (उपदेशः) उक्त वाक्य का अनुवाद है न कि विधि क्योंकि (अर्थस्य) निवीत (विद्यमानत्वात्) पूर्व से लोक सिद्ध है।

भा०—लोक सिद्ध जो नहीं वह अपूर्व कही जाती है और उसी की विधि मानी गई है अन्य की नहीं यतः निवीत पूर्व से ही लोक प्रसिद्ध है क्योंकि लौकिक कर्म में मनुष्य निवीत धारण करते हैं और जो लोक में देखा गया है वह ब्राह्मण वाक्यों में अनुवाद होना सम्भव है अतः वह वाक्य विधि नहीं किन्तु पूर्व लोक सिद्ध का अनुवाद है।

सं०—इस शंका का यह समाधान है।

विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात् ॥३॥

प० क्र०—'तु' शंका परिहार के लिये है (विधिः) वह विधि वाक्य (स्यात्) है क्योंकि (अपूर्वत्वात्) निवीत रूप अर्थ अपूर्व है।

भा०—निवीत लोक सिद्ध है परन्तु वह नियमानुकूल प्रथम लोक सिद्ध नहीं और पूर्व से ही लोक सिद्ध न होने से उसका अनुवाद भी नहीं हो सकता अतः वह

वाक्य लोक सिद्ध निवीत का अनुवादक नहीं माना जा सकता किन्तु मनुष्य कर्म में नियम से निवीत का विधान बतलाता है ।

सं०—इसी पूर्वपक्ष में और पूर्वपक्ष करते हैं ।

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—(स) निवीत (कर्म धर्मः) प्रकृत कर्म का अंग (स्यात्) है क्योंकि (प्रायात्) उसका उस प्रकरण में पाठ है ।

भा०—मनुष्य जब दर्श पूर्णमास कर्म करे तो निवीती होकर करे यह उक्त वाक्य का विधान है मानुष कर्म के करते समय निवीती होने का विधायक नहीं अतः वह प्रकृत कर्म के अंग निवीत का विधायक नहीं माना जा सकता ।

सं०—उस पूर्व पक्ष में विशेषता यह है कि—

वाक्यस्य शेषवत्वात् ॥ ५ ॥

प० क्र०—(वाक्यस्य) उस वाक्य (शेष वत्वात्) शेष में पढ़े समाख्या बल से अध्वर्युकर्तृक प्रकृत कर्म के अंग निवीत का विधान करता है सर्वत्र नहीं ।

भा०—दर्श पूर्णमास कर्म के अनुष्ठान काल में अध्वर्यु निवीती होकर कर्म करे यह उस वाक्य का तात्पर्य है अतः प्रकृत कर्म के अंग का विधायक होने पर भी वह सब कर्म का अंग 'निवीत' विधान नहीं करता किन्तु अध्वर्यु के किये कर्म का अंग बतलाता है ।

सं०—अब दूसरे पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(तत्) वह वाक्य (प्रकरणे) दर्श पूर्णमास कर्म के प्रकरण में (यत्) जो मानुष कर्म है (तत्संयुक्त) उसका अंग निवीत का विधान होने से (अप्रतिषेधात्) उस पूर्वोक्त 'षष्ठ्यन्त' पद की संगति बैठ जाती है।

भा०—दर्श पूर्ण मास कर्म प्रकरण में पढ़ा हुआ वाक्य भी उसका अंग निवीत विधान नहीं करता न समाख्या के बल से अध्वर्यु के किये कामों के अंग का ही विधायक है तब 'मनुष्याणां' यह षष्ठी युक्त वाक्य असंगत हो जाता है यदि प्रकरण और समाख्या के आश्रित प्रकृत कर्म के अंग का विधान मान लें षष्ठ्यन्त पद के असंगत होने से विधि वाक्य की हानि होती है। और मानुष कर्म के अंग निवीत का विधान मानने से षष्ठी युक्त पद की संगति भी लग जाती है। उक्त कर्म में प्रति पर्व करणीय श्राद्ध दक्षिणा दान अनेक मानुषी कर्म हैं उनके ग्रहण से प्रकरण के अनुकूल भी हो जाता है और अध्वर्यु के करने योग कर्म से समाख्या भी घट जाती है। अतः वह वाक्य अध्वर्यु के करने योग्य प्रकृत कर्म का अंग का ही विधान करता है नकि प्रकृत कर्म के भीतर प्रति पर्व करणीय श्राद्ध आदि मानुषी कर्माङ्ग निवीत का विधान करता है।

सं०—पुनः पूर्व पक्ष का समर्थन करते हैं।

तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तद्-र्थत्वात् ॥७॥

प० क्र०—(वा) एक देशी समाधान के निराकरण के लिये आया है (तत्प्रधाने) यह वाक्य मानुष प्रधान सब कर्मों में निवीत रूप अंग का विधान करने वाला है क्योंकि (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) उपवीत वाक्य समान उससे उस कर्म मात्र का बोधक होने से (इतरस्य) षष्ठी पद 'मनुष्याणां' (तदर्थत्वात्) उस अर्थ में घटता है।

भा०—'निवीतं मनुष्याणां' वाक्य यावत् मानुष कर्म के अंग निवीत का विधायक है नकि प्रकृत सम्बन्धी मानुष कर्म से अंग निवीत का क्योंकि वाक्य से प्रतीत अर्थ की निर्बलता से प्रकरण और 'समाख्या' के अनुसार संकोच नहीं हो सकता अतः सिद्ध हुआ कि वह वाक्य विधि है और निवीत का विधायक है और मनुष्य कर्म के अंग निवीत का नहीं है।

सं०—अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥

प० क्र०—(वा) सिद्धान्त सूचनार्थ आया है (अर्थवादः) वह वाक्य उपवीत विधि का स्नातक अर्थवाद है क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से ऐसा ही पाया जाता है।

भा०—निवीत मनुष्य कर्म के तथा प्राचीनावीत पितृ कर्म के योग्य होने से देव कर्म के अयोग्य है केवल उपवीत ही उसके योग्य है इस प्रकार व्यतिरेक से उपवीत

या स्नातक होने से 'निवीत' वाक्य अर्थवाद हो सकता है अतः उसको विधि न मानना ही ठीक है अर्थात् वह वाक्य अर्थवाद है विधि नहीं।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥ ९ ॥

प० क्र०—(च) तथा (विधिना) उपवीत विधिवाक्य के साथ एक (वाक्यत्वात्) वाक्य की एक वाक्यता प्राप्त होने से वह अर्थ नहीं मिलता।

भा०—जो वाक्य परस्पर आकांक्षा वाले होते हैं उन्हीं की एक वाक्यता होती है निराकांक्ष वाक्यों की नहीं विधि वाक्य को विधेय स्तुति की और अर्थवाद वाक्य को फल की इच्छा होने से दोनों वाक्य आकांक्षा वाले हैं अतः एक वाक्यता भी होती है परन्तु विधि पक्ष में निराकांक्ष होने से एक वाक्यता नहीं रहती वह बिना अर्थ होने से अमाननीय है अतः वह वाक्य विधि नहीं किन्तु अर्थवाद है।

सं०—'दिग्विभाग' को अर्थवाद निरूपण करते हैं।

दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥ १० ॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत) निवीत के समान दिग् विभाग भी अर्थवाद है क्योंकि (सम्बन्धस्य) वह दिग् सम्बन्ध (अर्थ हेतुत्वात्) अर्थ हेतु प्रसिद्ध है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'प्राचीन वंश' करोति* प्राचीन वंश नामक मण्डप और उसका विधान करके देवमनुष्याः

---

* यज्ञ भूमि के पश्चिम भाग में दश अथवा द्वादश अल्लि (बल्लिओं का चौकोर मण्डप बनाया जाता है जिसके बीच में 'बला'

दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवाः दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्याः उदीचीं रुद्राः "से विभाग किया जाता है अब इस वाक्य में जो "व्यभजन्त" क्रिया पद है उस से वैदिकों के पूर्वाचरण का संकेत मिलता है कि प्राचीन वंश मण्डप में यजमान की दीक्षा समय दिशा विभाग पूर्वक बैठते थे यह प्राचीन वंश मंडप विधि अर्थवाद को अकांक्षा रखता है क्योंकि बिना उसके उसमें सन्देह रहित रुचि नहीं होती और व्यभजन पद के आधार से विधि की कल्पना करने में गौरव आता है अतः निवीत वाक्य के समान वह वाक्य भी अर्थवाद हैं।

सं०—परुष दित आदि को अर्थवाद कहते हैं।

परुषि दितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत) निवीत समान (परुषिदित पूर्णघृतविदग्धं) परुषि दित, पूर्ण, घृत और विदग्ध यह चारो अर्थवाद हैं।

नामक वांस का सिरा पूर्व दिशा की ओर रखा जाता है इसी को 'प्राचीन वंश' कहते हैं इस मण्डप में चार द्वार होते हैं और यहीं यजमान को यज्ञ दीक्षा दी जाती है इसमें यजमान, यजमान पत्नी तथा ऋत्विकों के सिवाय अन्य मनुष्यों को भी बैठाया जाता है। पूर्व की ओर देव (तपस्वी विद्वान वेदज्ञ) दक्षिण की ओर पितर (अग्निहोत्र अश्वमेध पर्यन्त पूर्ण कर्म कर्त्ता पितामह, पिता वृद्ध पुरुष) पश्चिम की ओर मनुष्य (अर्यगण) उत्तर की ओर रुद्र (यज्ञ रक्षक भृत्य आदि) बैठे तथा खड़े रहते हैं।

भा०—दर्श पूर्णमास के अन्तर्गत "पिण्ड पितृयज्ञ प्रकरण में यत्परुषिदितं तद्देवानां, मदन्तरा तन्मनुष्याणं, यत्समूलं तत्पितृणां यह विधि वाक्य है यहां यह भाव है कि जैसे निवीत वाक्य अपने पाम उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद है और उपवीत के करने में उसका अर्थ है उसी भांति 'परुपिदित' आदि वाक्य भी स्वसन्निहित समूल दित आदि विधियों के स्तावक अर्थवाद है अतः परुपिदित' आदि वाक्य अर्थवाद है विधि नहीं।

सं०—अनृत निषेध की विधि निरूपण करते है।

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

प० क्र०—(क्रतु संयुक्त) दर्श पूर्ण में कथित (अकर्म) अनृत निषेध (नित्यानुवादः) नित्य प्राप्त का अनुवाद (स्यात्) है क्योकि (संयोगात्) निषेध का वाक्यान्तर से विधान है।

भा०—दर्श पूर्ण याग में 'नानृतं वदेत' इस वाक्य के पढ़े जाने से अनृत भाषण निषेध का अनुवाद किया है उक्त वाक्य में कर्त्ता के वाची 'वदेत' रूप अख्यात पद का प्रयोग किया है इसके साथ न तथा अनृत पद का सम्बन्ध होने से अनृत भाषण निषेध कर्त्ता का धर्म स्पष्ट है और वह उपनयन काल से ही 'सत्यंवद' 'धर्म चर' आदि कर्मों का अनुष्ठान करे। अतः नित्य प्राप्त पुरुष के धर्म अनृत भाषण निषेध का अनुवादक है। प्रकृत याग के अंग उस निषेध का विधायक नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के परिहार के लिये आया है (विधिः) निषेध वाक्य विधि है अनुवाद नहीं क्योंकि (संयोगान्तरात्) उद्देश्य भेद से दोनों वाक्यों का भेद है ।

भा०—'सत्यं वद' वाक्य सत्य भाषण को पुरुष का धर्म बतलाता है और 'नानृतं वदेत' अनृत भाषण का निषेध करता है और प्रकृत याग का धर्म बतलाता है कि अनुष्ठान काल में अनृत भाषण न करे इसमें 'प्रत्यवायी और याग विगुण होने का भय है । प्रत्यवायी होने से भावी अनिष्ट प्राप्ति और विगुण होना याग फल की अप्राप्ति है । अतः दोनों वाक्यों का बड़ा अन्तर है अतएव प्रथम वाक्य द्वितीय का अनुवाद मानना ठीक नहीं अतः सिद्ध है कि वह वाक्य अनुवाद न होकर विधि ही है ।

सं०—अब जंभाई हेतुक मन्त्रोच्चारण को प्रकृत याग में पुरुषधर्म निरूपण किया जाता है ।

अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

प० क्र०—(अहीनवत्) जिस प्रकार 'उपसद' संज्ञक यज्ञ 'अहीन' का धर्म है उसी प्रकार (पुरुष धर्मः) जंभाई निमित्त मन्त्र का उच्चारण भी यह पुरुष मात्र का धर्म है क्योंकि (तदर्थत्वात्) उसके उद्देश से विधान पाया जाता है ।

भा०—दर्श पूर्णमास याग में 'प्राणो वैदक्ष अपानः क्रतुः तस्मात् जज्जभ्यमानो ब्रूयात्' मयि दक्ष कतू इति प्राणा पाना वे वात्ममन्येवत्त" अर्थात् जंभाई लेने पर उसके संस्कारार्थ इस मन्त्र अर्थात् 'मयि दक्षक्रतु' का उच्चारण करना चाहिये और जंभाई लेने वाले मात्र पुरुष का यह धर्म है न कि प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का। अतः यह मन्त्र उच्चारण करना पुरुष मात्र का धर्म है याग सम्बन्धी पुरुष का नहीं और दर्शपूर्णमास प्रकरण से इसका अपकर्ष होकर जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र के लिये होना चाहिये।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है।

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥१५॥

प० क०—'वा' पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है। (द्रव्यवत्) व्रीहि रूप द्रव्य का प्रोक्षण (तद्युक्तस्य) याग सम्बन्धी पुरुष का (संस्कारः) मन्त्रोच्चारण संस्कार है (प्रकरण विशेषात्) प्रकरण की विशेषता से।

भा०—'व्रीहीन प्रोक्षति' वाक्य से दर्श पूर्ण मास याग के प्रकरण में पढ़े गये 'व्रीहि मात्र' की 'व्यावृत्ति' होकर यज्ञ सम्बन्धी व्रीहि प्रोक्षण का ग्रहण पाया जाता है उसी प्रकार उस वाक्य में भी प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष के धर्म मन्त्रोच्चारण का ग्रहण होना चाहिये क्योंकि प्रकरण से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति है ऐसी दशा में उसका ग्रहण कभी भी नहीं होना चाहिये अतः उस मन्त्र का उच्चारण

पुरुष मात्र का धर्म नहीं किन्तु प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है ।

सं०—'अहीनवत्' दृष्टान्त का समाधान करते हैं ।

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥

प० क्र०—(व्यपदेशात्) अधिक कथन से (अपकृष्यते) उपसद् होम का अपकर्ष होता है ।

भा०—यह दृष्टान्त विषय है उसमें विशेष वचन के होते हुये संशय नहीं होता और संशय न होने से उसकी निवृत्ति के प्रकरण के अनुसार आवश्यकता भी नहीं होती परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं । यहाँ सामान्य वचन होने से संशय होता है उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण का अनुसरण किया जाता है उसका साथ देने से पुरुष मात्र की स्वयं व्यावृत्ति होती है अतः वह पुरुष मात्र का धर्म नहीं और धर्म सिद्ध न होने से उसका मन्तव्य ठीक नहीं अतः 'मयिदक्षक्रतू' मन्त्र का बोलना याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है पुरुष मात्र का नहीं ।

सं०—अब गोरण आदि निषेध को ब्राह्मण मात्र के लिये होना कहते हैं ।

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

प० क्र०—(च) और (शंयौ) महाराज 'शंभु' के उपदेश में जो ब्राह्मण के 'अवगोरण' आदि का निषेध है वह ब्राह्मण मात्र के लिये जानना चाहिये क्योंकि (सर्वपरिदानात्) उससे उसका ग्रहण है ।

भा०—जिस प्रकार याग सम्बन्धी ब्राह्मणों के दण्ड आदि से डराने आदि का न करना याग रक्षा का उपाय है उसी प्रकार मनुष्य मात्र के अवगोरण आदि का न होना प्रजा रक्षा का उपाय है। बृहस्पति पुत्र महाराज शंभु की प्रार्थना भी प्रजा रक्षा के उपाय विषयक ही है इसके अतिरिक्त वैदिकों में सब ब्राह्मण समान हैं। जो याग से अतिरिक्त ब्राह्मण है वह उपदेश से प्रजा रक्षण करते हैं अतः दोनों अधिकांश में समान्ता है अतः दोनों के लिये 'अवगोरण' का निषेध है 'तस्मात् न ब्राह्मण यानगुरेत् न हन्यात न लोहितं कुर्यात्' वाक्य है।

सं०—'रजस्वला' से सम्भाषण निषेध निरूपण करते हैं।

प्राग परोधान्मलवद्वाससः ॥ १८ ॥

प० क्र०—(मलवद्वास सः) रजस्वला से सर्व प्रकार के सम्भाषण का निषेध (प्राग) यज्ञारम्भ में ही (अपरोधात्) उसे यज्ञ भूमि से बाहर करके याग का विधान करे।

भा०—"यस्यवत्येऽहनियत्न्यनालम्भुका भवति तामुपरूप्यमर्जेत यजमान सपत्नीक यज्ञ करता है उसमें यदि दीक्षा में दिन उसकी स्त्री रजस्वला हो जावे तो यज्ञ भूमि से उसे पृथक करदे और यज्ञ भूमि से बाहर करके फिर यज्ञ करे अतः यज्ञ और अयज्ञ दोनों का सम्भाषण निषेध है।

सं०—इस में युक्ति देते हैं।

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (अन्नप्रतिषेधात्) रजस्वला संभोग के निषेध से भी यह कथन ठीक है।

भा०—रजस्वला से सम्भाषण के निषेध समान समागम भी निषेध किया गया है "नास्या अन्नमद्यात् अभ्यजनं वै स्त्रिया अन्नम" रजस्वला के अन्न को न खावे। क्योंकि सम्भाषण का निषेध संभोग निषेध का भी सूचक है* जो सर्वत्र न होने से यज्ञ-स्थल में तो अनावश्यक सा ही है अर्थात् लोक और वेद दोनों में रजस्वला 'अभिगमन' निषिद्ध है। इसी प्रकार सम्भाषण करना बुरा है।

सं०—सुवर्ण धारण मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥ २० ॥

प० क्र०—'तु' सिद्धान्त सूचक है (अप्रकरणे) किसी यज्ञ विशेष में अपठित सुवर्ण धारण आदि (तद्धर्मः) मनुष्य मात्र का धर्म है क्योंकि (ततः) प्रकरण से (विशेषात्) वह अद्भुत है।

भा०—यतः सुवर्ण सर्व साधारण को सुन्दर बनाता है अतः यज्ञ में सुवर्ण धारण करना बतलाया है अतएव वह मनुष्य मात्र का धर्म होकर यज्ञिक भी धारण करें ऐसी आज्ञा है।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

* स्त्री के सम्भोग को अन्न कहते हैं।

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥ २१ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष सूचक है (शेषः) सुवर्ण आदि का धारण याग शेष (स्यात्) है क्योंकि (अद्रव्यत्वात्) वह एक क्रिया है।

भा०—सुवर्णादि धारण क्रिया स्वतः इस प्रकार फलवती नहीं कही जा सकती जैसे 'स्वर्ग कामोदर्श पूर्व मासा भ्यां यजेत' वाक्य में स्वर्ग फल प्राप्ति का लाभ होना है अतः सुवर्ण पुरुष मात्र के धारण का विधान न होकर किन्तु यज्ञ सम्बन्धी पुरुष को ही धारण करना विहित है वह अंग क्रिया मात्र है। न कि, प्रधान क्रिया मानी जानी चाहिये।

सं०—इसमें युक्ति यह है कि—

वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥

प० क्र०—(वेद संयोगात्) उक्त वाक्य का यजुर्वेद से सम्बन्ध है अतः उक्तार्थ की सिद्धि है।

भा०—जिस काण्ड में स्वर्ण धारण वाक्य पढ़ा गया है वहां उसकी समाख्या (आध्वर्यव) है यजुर्वेदी ऋत्विक को 'अदध्यु'' और तत्सम्बन्धी कार्य को आध्वर्यव कहा गया है अतः अध्वर्यु को ही सुवर्ण धारण करना चाहिये सब को नहीं।

सं०—पुनः इसमें युक्ति देते है।

द्रव्य पर त्वाच्च ॥ २३ ॥

पं० क्र० —(च) तथा (द्रव्यपरत्वात्) *उस वाक्य में आये 'हिरण्य पद को याग सम्बन्धी सुवर्ण का स्मारक होने से भी ठीक है।

भा०—'आत्रेयाय हिरण्यं ददाति' अत्रि गोत्र वालों को दक्षिणा देवे इत्यादि वाक्य से यह पाया जाता है इस वाक्य में सुवर्ण धारण करना इष्ट नहीं किन्तु दक्षिणा में दिये गये स्वर्ण के धारण का विधान है न कि अन्य स्वर्णादि धारण का और दक्षिणा केवल यज्ञ पुरुषों को ही दी जाती है अतः उक्त स्वर्ण कारण की ही क्रिया का विधायक वाक्य है न कि मनुष्य मात्र का।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात्कर्मै-तिशायनः ॥२४॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का निरास करता है (संयोगवत्) फल सम्बन्ध से उसी प्रकार (फलेन सम्बन्धः) फल के साथ सम्बन्ध से (स्यात) होता है (तस्मात्) अतएव (कर्म) वह प्रधान कर्म है (ऐतिशायनः) ऐसा ऐतिशायन ऋषि मानते हैं।

भा०—प्राजापत्य व्रतों के विधायक मन्त्र और उनके फल जैसे "एतावता हैनसाऽवियुक्तो भवति" इतने पापों से छूट जाता है इस वाक्य शेष में पाप निवृति रूप फल संयोग होने से याग प्रधान कर्म माना जाता है इसी

* सुवर्ण हिरण्यं भार्यं, सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति सुवाससा भवितव्यं रूपमेव बिभर्ति। पाठ है।

भाँति सर्व साधारण भी है और मनुष्य मात्र का धर्म मानने में कोई दोष नहीं आता न कि केवल 'अध्वयु' का ही है।

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ॥ २५ ॥

सं०—'जप' नामक यज्ञों को 'वैदिक कर्म' का अंग निरूपण करते हैं।

प० क्र०—(अप्रकरणे) अप्रकरण पठित 'जप' आदि होम (सर्व कर्मणा) 'लौकिक वैदिक' सम्पूर्ण कर्म का (शेषः) अंग है क्योंकि (अविशेषात्) समान रूप से उसका पाठ है।

भा०—अनारम्भधीत 'जप' आदि होम इस प्रकरण के विषय है और 'चित्तं च स्वाहा' आदि मन्त्र, 'जप' तथा 'भृता साड' मन्त्रों के होम पाये जाते हैं उसे 'राष्ट्र भृत' और 'अग्नि भूतानां' आदि होम हेउ से 'अभ्यातान' कहते हैं यह लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्माङ्ग हैं। दोनों प्रकार के कर्म फल समृद्धि निमित्त किये जाते हैं न कि केवल वैदिक कर्म ही निमित्तक किये जाते हैं अतः 'जपादि'होम लौकिक और वैदिक दोनों में कर्तव्य हैं।

सं०—उक्त पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

प०,क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने को आया है (होमाः) याग (व्यवतिष्ठेरन) वैदिक कर्मों में ही कर्त्तव्य है क्योंकि (आहवनीय संयोगात) वैदिक कर्म तथा

होम उभय था (आहवनीय) अग्नि सम्बन्धी होते हैं ।

भा०—अग्निहोत्रादि कर्म और वह होम "जपादि" आहवनीय रूप अग्नि एक ही देश है । दोनों उस अग्नि में ही किये जाते हैं एवं देश समानता से परस्पर अगांगी भाव रूप सम्बन्ध भी है अतः "यदाहवनीये जुहोति तेनसो ऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति" के नाते से उक्त होम वैदिक कर्म का ही अंग है। लौकिक वैदिक दोनों का नहीं ।

सं०—इसमें हेतु देते हैं ।

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

प० क्र०—(च) और (शेषः) वैदिक कर्माङ्ग होने से क्योंकि (समाख्यानात्) 'आध्वर्यव्' काण्ड में पढ़ा गया है ।

भा०—जहाँ वह पाठ पढ़ा गया है वहाँ समाख्या अध्वर्यव है अतः उक्त होम का वैदिक कर्म से सम्बन्ध है यदि उन्हें लौकिक कर्माङ्ग माना जावे तो वह वेद सम्बन्धी समाख्या काण्ड में पाठन किये जाते अतः सिद्ध है कि 'जप' आदि होम वैदिक कर्माङ्ग हैं लौकिक नहीं अतः उक्त कर्म वैदिक कर्मों में ही कर्त्तव्य है लौकिक में नहीं ।

सं०—अश्व प्रतिग्रह हेतुक वारुणी इष्टि की अङ्ग रूपता से कर्त्तव्यता निरूपण करते हैं ।

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

प० क्र०—(तु) शब्द पूर्व पक्ष सूचक है (इष्टिः) अश्व प्रति ग्रह हेतुक इष्टि विधान (लौकिके) सांसारिक अश्व प्रति गृह में भी (स्यात्) होती है क्योंकि (दोषात्) प्रतिग्रह में दोष बतलाया गया है (हि) और (वैदिके) वैदिक अश्व प्रतिग्रह में (शास्त्रात्) शास्त्र सिद्ध होने के कारण (न दोषः स्यात्) दोष नहीं है ।

भा०—ज्योतिष्टोम याग में गौ अथवा अश्व की दक्षिणा का नियम है यदि वैदिक अश्व प्रतिग्रह में दोष होता तो अश्व की दक्षिणा को विधि न पाई जाती परन्तु विधान पाये जाने से दोष नहीं किन्तु लौकिक लौकिक अश्व प्रति ग्रह में ही दोष है अतः इस दोष परिहारार्थ ही 'वारुणी इष्टि' विधान की है वह लौकिक में ही करना चाहिये वैदिक में नहीं क्योंकि "वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रति गृह्णाति" अर्थात् अश्वदान लेने वाले को जलोदर हो जाता है अतः यह कहा गया कि "यावतोऽश्वान प्रति गृह्णी यात् तावतो वारुणान् चतुष्क पालान् निर्वपेत ।"

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।

अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निवृत्यर्थ आया है (अर्थवादः) अश्व प्रति ग्रह से जलोदर रोग होने की निवृति के लिये उक्त इष्टि है यह अर्थवाद है कारण कि (अनुपपातात्) अश्व प्रति ग्रह में कोई पाप नहीं अतः (यज्ञे) जिस यज्ञ में अश्व दक्षिणा की विधि है

उसमें (प्रतीयेत) अगंरूप से उस इष्टि की कर्त्तव्यता जाननी चाहिये।

भा०—प्रकृत अश्व की दक्षिणा वाला वैदिक यज्ञ है और उस वाक्य से जो अश्व प्रति ग्रह हेतुक इष्टि की कर्त्तव्यता विधान की गई है वह उसी यज्ञ की पूर्ति के लिये है। इस लिये इष्टि वैदिक अश्व प्रति ग्रह में ही करना चाहिये लौकिक प्रति ग्रह में नहीं।

सं०—अश्व दाता को उक्त इष्टि का करने का निरुपण करते हैं।

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(च) और (अचोदितं) विधान की गई न कि दानार्थ और (कर्मभेदात्) दान और प्रति ग्रह दोनों के भेद से।

भा०—वाक्य में 'प्रति गृह्णीयात्) पद आया है जिसका अर्थ है प्रति "ग्रहण करो" यह अर्थ नहीं होता कि "दान करो" यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उस वाक्य में 'दद्यान्' पद प्रयोग होता परन्तु प्रयोग पद और दद्यान् में भेद है अतः अर्थ लाभ भी नहीं होता अतः दाता को उक्त इष्टि लाभ कर्तव्यता प्रमाणित नहीं होती अतः वह इष्टि प्रति गृहीता (लेने वाले) को कर्तव्य है न कि दान दाता को कर्तव्य है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—(सा) उक्त इष्टि (ऋर्त्विजे) यजमान को (स्यात्) करना चाहिये क्योंकि (लिङ्गात्) प्रमाणों से ऐसा ही मिलता है।

भा०—उपक्रम वाक्य से दाता कोही वह इष्टि कर्त्तव्य है उसका अनुसरण असंहारस्थ 'प्रति गृहणीयात्' पद का 'प्रति ग्राहयेत' अर्थ करने से ही बनता है परन्तु अनुसरण आवश्यक है तब ही उस प्रति गृहणींयात् 'पद का 'प्रति ग्रहयेत' अर्थ करें तो प्रति गृहीता से उस इष्टि की सिद्धि नहीं होती। अतः अश्व प्रति गृहीता ऋत्विजों को वह इष्टि नहीं करनी चाहिये किन्तु यजमान को ही कर्तव्य है।

सं०—वैदिक सोमपान में 'वमन' होने पर सोमेन्द्री इष्टि करना चाहिये।

पानव्यापच्च तद्वत् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत) अश्वदान इष्टि निमित्त है उसी प्रकार (पानव्यापत्) सोमपान वमन भी इष्टि का निमित्ति है।

भा०—जो उक्त वाक्य में इष्टि का विधान पाया जाता है वह किसी रोग विशेष के निमित्त पीत सोम के वमन हो जाने पर कर्त्तव्य है न कि वैदिक रीत्यानुसार पिये सोम के वमन हो जाने पर करना है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(तु) शब्द उस पक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (वैदिके) वैदिक सोमपान-वमन होने पर (स्यात्) इष्टि कर्त्तव्य है क्योंकि (दोषात) उसके वमन का आरम्भ वाक्य में दोष नहीं बतलाया है और (लौकिके) लौकिक सोमपान में (दोषः) वमन होना दोष (न स्यात) नहीं हो सकता (हि)कारण कि (अर्थात्) वह वमन निमित्त ही होता है।

भा०—सोमपान से वमन होने पर चक्षु इन्द्रिय, बलहीन होते हैं परन्तु वमन किये जाने को ही सोमपान होता है परन्तु वैदिक कर्म में सोमपान से वमन पर उक्त दोष निवृत्ति के लिये 'सौमेन्द्र' चरु' निर्वपेत् वाक्यानुसार इष्टि विधान है वह वैदिक सोमपान की निवृत्ति में यह याग कर्तव्य है। लौकिक वमन पर नहीं।

सं०—यजमान उक्त इष्टि करे अतः पूर्वपक्ष लेता है।

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(तत्) वह सोम वमन (सर्वत्र) ऋत्विक और यजमान दोनों को इष्टि करने में कारण है क्योंकि (अविशेषात्) वह समान रूप सुना जाता है ।

भा०—इस प्रकरण में आये वाक्यों में 'सोम वामिनः' पद का जो प्रयोग है उससे किसी यजमान और ऋत्विक के अतिरिक्त और किसी का बोधक नहीं। अतएव यजमान मात्र को यदि उक्त इष्टि करना होती तो 'सोमवामिनः' पद के साथ 'यजमानस्य' का प्रयोग होना चाहिये क्योंकि विना उक्त पद के वाक्य सार्थक नहीं

होता और सामान्य शब्द से विशेष का ग्रहण अन्यथा है। अतः वह सामान्य इष्टि है ऋत्विक और यजमान दोनों को करनी योग्य है। न कि केवल यजमान को ही।

सं०—इसका समाधान किया जाता है।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (स्वामिनः) यजमान को वह इष्टि करनी चाहिये क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह कर्म फल का भोगने वाला है।

भा०—ऋत्विक केवल यज्ञ के कराने वाले हैं न कि उसके फल भोक्ता हैं। अतएव उनके वमन से यज्ञ के नष्ट होने की सम्भावना नहीं परन्तु यजमान अन्य यज्ञाङ्ग के समान वह भी एक अंग है परन्तु यहां 'पान' का अर्थ पीकर पचाना है यदि यजमान पीकर न पचावे और वमन करदे तो यज्ञ अंग भंग होना शक्य है इसी यज्ञ की भंगता को दूर करने को वह इष्टि कर्त्तव्य है अतः इष्टि यजमान करे ऋत्विक नहीं।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण दिखाते हैं।

लिंग दर्शनाच्च ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिंग के मिलने से वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—'सोम पीयेन व्यध्यते यः सोमं वमति' सोम पीकर वमन कर्त्ता के यज्ञ विगुण हो जाता है। यहां अंग भंग

यज्ञ होने के संकेत से उक्त इष्टि यजमान को ही करनी चाहिये न कि ऋत्विकों को ।' सम्बन्ध से भी ऐसा ही है कि 'यावमति स निर्वपति' अर्थात् जो वमन करे तो वह 'चरु निर्वाय रूप वह इष्टि करे' इससे स्पष्ट है कि याग के साथ स्व स्वामि सम्बन्ध यजमान का है अतः वही उक्त इष्टि करे न कि ऋत्विक करें।

सं०—अत्र अंगुल चौड़ी दो खंडों की अग्नि में होम करने का निरूपण करते हैं।

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥

प० क्र०—(हविषः) हवि का (सर्व प्रदानं) अग्नि में सर्व प्रदान होना (तदर्थत्वात्) वह उसके निमित्त है।

भा०—"अग्नियोष्टा कपालः" इस वाक्य में पुरोडाश का अग्नि में त्याग मिलता है उसके भाग विशेष का नहीं है और जिसका उस वाक्य से त्याग नहीं मिलता उसका प्रमाणिक न होने से अनुमान भी नहीं मिलता अतः पुरोडाश में से कुछ भाग काटकर हवन करना ठीक नहीं किन्तु कृत्स्न पुरोडाश का ही हवन होना ठीक है।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष निरास हेतुक पद है (शेषः) कृत्स्न पुरोडाश के स्थान में स्विष्ट कृद् और कार्यों के लिये होम होना (स्यात्) है (निरवदानात्) कृत्स्न

पुरोडाश रूप हवि से अनुष्ठ पर्व परिमाण दो टुकड़ों को काट कर याग का विधान है।

भा०—'द्विर्हविषोऽवद्यति' वाक्य के अनुसार अग्नि में हवन के निमित्त दो अवदान करना चाहिये एक अँगूठे के माप के परिमाण में पुरोडाश के दो भाग करके हवन करना ठीक है और शेष 'स्विष्ट कृत्' कार्यों के लिये बचा रखना चाहिये सब का हवन करना ठीक नहीं।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥

प० क्र०—(वा) आशंका सूचनार्थ आया है (उपायः) द्विर्हविषः शब्द से हवन का नियम कहा गया है 'द्विरवदान' से हवन नहीं करना चाहिये कारण कि (तदर्थत्वात) सब पुरोडाश हवनार्थ है।

भा०—आग्नेयः वाक्य से कृत्स्न पुरोडाश का होम पाया जाता है उसके भाग विशेष का हवन करने से वह नहीं बन सकता और "द्विर्हविषः" वाक्य को उपाय विधान करने वाला होने से उसका संकोच नहीं मान सकते और जब तक पुरोडाश है तब तक होने में कोई बाधा नहीं क्योंकि वह हवन कार्य का प्रयोजक है अतः सिद्ध है कि कृत्स्न पुरोडाश का हवन होना चाहिये नकि भाग विशेष का।

सं०—शंका का समाधान करते हैं।

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

प० क्र०—'तु' शब्द आशंका निवारार्थ आया है (सकृत) एक बार (कर्मणः) हवन के (कृतत्वात्) कर देने से (स्यात्) हवन विधि वाक्य (द्रव्यस्य) शेष पुरोडाश क्योंकि (गुणभूतत्वात्) उक्त क्रिया के लिये गौण है।

भा०—(द्विर्हविषः) वाक्य के अनुसार अंगुष्ठपूर्व समान पुरोडाश के दो भाग का हवन कर देने से 'आग्नेयः' वाक्य चरितार्थ होता है और शेष पुरोडाश गुण भूत होने से हवन क्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं अतएव सिद्ध हुआ कि 'कृत्स्न पुरोडाश' का हवन कर्त्तव्य नहीं किन्तु उसके भाग विशेष का कर्त्तव्य है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

शेषदर्शनाच्च ।४१॥

प० क्र०—(च) और (शेषदर्शनात्) शेष पुरोडाश से कार्यों का विधान मिलता है।

भा०—"शेषात्स्विष्ट कृते" इस वाक्य से पुरोडाश का शेष रहना सिद्ध है और शेष तभी रहेगा जब कृत्स्न पुरोडाश का हवन न किया जावे अन्यथा वह शेष रह ही नहीं सकता। अतः सिद्ध है कि अंगुष्टपर्व समान पुरोडाश के दो भाग करने चाहिये और शेष स्विष्टकृतादि कार्यों के लिये रख लेना चाहिये।

सं०—आग्नेयादि तीनों हवियों से 'स्विष्टकृत्' आदि शेष कर्मों की कर्तव्यता कहते हैं।

अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

प० क्र०—(एकस्मात्) एक हवि द्वारा (क्रियेरन) 'स्विष्टकृत' शेष कर्म कर्त्तव्य हैं तीनों हवियों में से नहीं (शेषस्य) शेष कर्मों के लिये (गुणभूतत्वात्) गुण भूत होने से (अप्रयोजकत्वात) वह उनकी बार बार कर्तव्यता का प्रयोजक नहीं ।

भा०—शेष आहुति में साधन होने के कारण कर्म के अंग हैं और कर्म का पुनः अनुष्ठान न होने से "शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति वाक्य के साथ कोई विरोध नहीं आता क्योंकि वह शेष हविः से स्विष्टकृत आदि कर्मों के लिये अवदान विधान है जो एक शेष हविः द्वारा करने पर भी हो सकता है अतः तीनों शेष हवियों से स्विष्टकृत आदि कर्म करने योग्य नहीं किन्तु तीनों के बीच किसी एक से कर्त्तव्य है।

सं०—अब उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

संस्कृत त्वाच्च ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (संस्कृतत्वाच्च) एक बार उस कर्म के होने से भी प्रधान हविः संस्कृत हो जाती है।

भा०—'स्विष्टकृत' आदि संस्कार कर्म हैं वह असिद्ध हवि को सिद्ध कर सकते हैं कि सिद्ध को और न सिद्ध का पुनः संस्कार लाभदायक होने से आवश्यकीय ही है। एक बार संस्कार तीनों हवियों के बीच किसी एक शेष हविः के अवदान से भी हो सकता है

अतएव सिद्ध हुआ कि प्रत्येक शेष हविः से वह कर्म करने योग्य नहीं किन्तु तीनों में से किसी एक से करने योग्य है ।

सं०—उस पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है ।

सर्वेभ्यो वा कारणविशेषात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष की निवृति के लिये आया (सर्वस्मात्) शेष आहुतियों से यह करने योग्य कर्म है (कारणविशेषात्) उनके होने में कारण समान है एवं (संस्कारस्य) संस्कार (तदर्थत्वात्) हवि मात्र के निमित्त होने से वह प्रति हविः हो सकता है ।

आ०—'स्विष्टकृत' संस्कार कर्म गौण और हवि प्रधान है वह आहुतियों के परस्पर प्रथक् प्रथक् होने के कारण एक हविः से उस कर्म के होने पर अन्य आहुतियों में नहीं हो सकता । अतः तीनों आहुतियों से वह कर्म करणीय है किसी एक से नहीं ।

सं०—अर्थ साधक लिंग को निरूपण करते हैं ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से वह अर्थ सिद्ध है ।

आ०—"सकृत् सकृद्वद्यात्" एक एक हवि से एक एक वादी अवदान होना चाहिये इस वाक्य से जो बार बार हवि से बार बार अवदान कर्त्तव्य करना बतेलाया

यह इस अर्थ सिद्धि में लिङ्ग है। यदि 'आग्नेय' आदि तीनों आहुतियाँ किसी एक हविः से 'स्विष्टकृत' आदि कर्म किये जाने माने जाते तो दो वार 'सकृत' शब्द का प्रयोग न होता क्योंकि यह अर्थ लाभ 'सकृत' शब्द से ही हुआ है परन्तु ऐसा न करके सकृत् "सकृत्" इस भाँति वार वार प्रयोग होता है अतः सिद्ध है कि उक्त कर्म को एक हवि से नहीं किन्तु तीनों हवियों द्वारा किया जाना चाहिये।

सं०—उन तीनों हवियों में एक हवि कौनसी है।

एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ॥४६॥

प० क्र०—(चेत्) यदि (एकस्मात्) एक हविः पक्ष है तो (यथा कामी) स्वेच्छा से किसी एक हवि से उक्त कर्म का अवदान करे क्योंकि (अविशेषात्) वह तीनों हवियाँ समान हैं।

भा०—तीनों हवियाँ प्रधान होने से समान हैं मन्त्र में भी किसी को श्रेष्ठ अथवा किसी को निकृष्ट, संस्कृत अथवा असंस्कृत नहीं बतलाया। अतः एक विशेष कर्म का ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु वाक्य में "एक" पद का प्रयोग किया गया है उक्त दशा में बिना दृढ़ नियम के एक का निश्चय नहीं किया जा सकता और विशेषकर जब कर्म स्वेच्छा पर है तो उसमें नियम भी लागू नहीं होता।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान यह है।

मुख्याद्वापूर्वकालत्वात् ॥४७॥

प० क्र०—(वा) यह पूर्व पक्ष का निराकरण करता है (मुख्यात्) इस हवि का परमात्मा निमित्त अवदान किया जाता है उसी से उसका अवदान होना क्योंकि (पूर्वकालत्वात्) वह सब से प्रथम त्यागने योग्य है।

भा०—तीनों हवियों को अवश्य प्रधानत्व है तो भी परमात्मा निमित्त जिसका त्याग हो उसके यथा संख्य किये जाने से परस्पर विद्यमान भेद अवश्य है इसलिये उनके बीच में उक्त कर्मों का अनुष्ठान करने के लिये पहिली एक 'आग्नेय' हवि से ही अवदान श्रेष्ठ है किसी एक से नहीं।

सं०—चार प्रकार से आग्नेय पुरोडाश का भक्षण ऋत्विजों को दिया जावे इसका निरूपण करते हैं।

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥ ४८ ॥

प० क्र०—(दान शब्दः) चार विभाग करके ऋत्विजों को देना (परिक्रये) वह उनके परिक्रय निमित्त है न कि भक्षण के लिये क्योंकि (भक्षा श्रवणात्) दान विधायक वाक्य में भक्षण का नाम नहीं सुना।

भा०—दर्श पूर्णमास यज्ञ में "इदं ब्रह्मवः", इदं होतुः", "इद मध्वर्युः" "इदमग्नीधः", यह ब्रह्मा का यह होता का यह अध्वर्यु और यह अग्नीध का भाग है परन्तु इसमें भक्षणाय पद कहीं नहीं आया इससे प्रमाणित है कि यह याग की दक्षिणा है न कि भक्षण के लिये। सारांश यह है कि ऋत्विजों की नौकरी में पुरोडाश दिया जाता है न कि जलपान के लिये।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

तत्संस्तवाच्च ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(च) और (तत्संस्तवात्) पुरोडाश दान दक्षिणा के नाम से स्तुति करने के निमित्त वह कर्म सिद्ध होता है।

भा०—'एषा वै दर्श पूर्णमासयोर्दक्षिणा' पुरोडाश का देना दर्शपूर्ण की दक्षिणा है अतः वह स्तुत्य है। यदि पुरोडाश खाने के लिये दिया गया होता तो वह दक्षिणा समान स्तुत्य न होता दक्षिणा का परिक्रयार्थ सर्व सिद्ध है अतः पुरोडाश दक्षिणा समान क्रयार्थ है रक्षणार्थ नहीं।

सं०—इसमें समाधान पक्ष उठाते हैं।

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥ ५० ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निरूपण करने को आया है (भक्षार्थः) पुरोडाश भक्षणार्थ ही है न कि परिक्रम निमित्त क्योंकि (द्रव्ये) उस पुरोडाश द्रव्य में (समत्वात्) यजमान और ऋत्विजों का समान अधिकार है।

भा०—भाव यह है पूर्वोक्त वाक्य में जलपान के लिये पुरोडाश को देना कथन किया गया है न कि परिक्रयार्थ।

सं०—पुरोडाश दान रूप दक्षिणा के नाम से की गई स्तुति का समाधान है।

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥

प० क्र०—(दान संस्तुति) पुरोडाश दान की दक्षिणा रूप स्तुति की गई है (व्यादेशात्) वह दान पात्र की समानता है ।

भा०—ब्रह्मादि ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती उन्हें ही पुरोडाश देना बतलाया है ।अतः दक्षिणा और पुरोडाश दान पात्र की समानता के कारण पुरोडाश दान का दक्षिणा के नाम से प्रकाशित है परन्तु कल्पना नहीं की जा सकती जैसे दक्षिणा परिक्रयार्थ है उसी भांति पुरोडाश को भी जानना चाहिये ऋत्विजों का स्वत्व दक्षिणा पर ही है परन्तु वह पुरोडाश पर नहीं अतः प्रमाणित हुआ कि उपर्युक्त वाक्य में पुरोडाश का जो विभाग देना है वह परिक्रयार्थ नहीं किन्तु भक्षण निमित्त है ।

इति श्री पं० गोकुलचन्द दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

अथ तृतीयाऽध्याये पंचमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—उपांशु यज्ञ में ध्रुवा पात्र में बच आज्य द्वारा स्विष्ट कृत् कर्मों की अकर्त्तव्यता कथन में पूर्व पक्ष करते हैं।

आज्याश्च सर्व संयोगात् ॥१॥

प० क्र०—(आज्यात्) ध्रुवा पात्र में शेष आज्य से (च) और स्विष्टकृत करना चाहिये क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त कर्म निमित्त सब हवियों के अवदान का विधान मिलता है।

भा०—"सर्वेभ्यो हविर्भ्यः सम वद्यति" इस वाक्य से स्विष्टकृत् आदि कर्म के निमित्त सब हवियों से काटे इस स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये अवदान विधान करने वाले वाक्य में सब हवियों से काटना कहा गया है आग्नेय पुरोडाश आदि के समान उपांशु याज के अनन्तर शेष बचा ध्रौव घृत भी सब हवियों के भीतर है अतः पुरोडाश आदि के समान उससे भी 'स्विष्ट कृत्' आदि कर्म कर्त्तव्य हैं नहीं करने योग्य नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

कारणाच्च ॥२॥

प० क्र०—(च) तथा (कारणात्) स्विष्टकृत आदि कर्म सब शेष हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—स्विष्टकृत आदि कर्म शेष आहुतियों के संस्कारार्थ किये जाते हैं। उपांशु याज के पश्चात् 'ध्रौव' आज्य रूप हवि का संस्कार भी आवश्यक है अतः आग्नेय पुरोडाश आदि की भाँति उस घी से भी स्विष्टकृत आदि कर्म करने योग्य हैं।

सं०—उक्त अर्थ में हेतु देते हैं।

एकस्मिन्त्समवत्त शब्दात् ॥३॥

प० क्र०—(एकस्मिन्) 'आदित्य चरु' रूप एक हविः (समवत्त शब्दात्) 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—प्रायणपि इष्टि में आदित्य रूप एक हवि संस्कार योग्य है उसी भाँति आज्य रूप हवि भी है और अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति, आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति, मिश्रस्यान्येन हविषा समवधीत' आदि वाक्यों में 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलने से चरु के समान घृत से स्विष्टकृत कर्मादि में अव-दान होना चाहिये यही प्रमाणित होता है। अतः उपांशु याज के पश्चात शेष ध्रौव आज्य से भी वह कर्म कर्तव्य है अकर्तव्य नहीं।

सं०—उक्त अर्थ सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं।

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥

प० क्र०—(च) और (आज्यै) ध्रौव घृत से भी (स्विष्टकृत) स्विष्टकृत, आदि कर्म करने चाहिये क्योंकि (अर्थ वादस्य) उसका समर्थक अर्थवाद वाक्य (दर्शनात्) मिलता है।

भा०—प्रधान आहुति के पश्चात् स्विष्टकृत आहुति आदि कर्म करने योग्य होने पर प्रत्यभि धारण कहा गया है अतएव प्रमाणित होता है कि ध्रौव घृत से भी स्विष्ट कृत आहुति आदि कर्म करने चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का समर्थन करते हैं।

अशेषत्वात्तु नैवंस्यात्सर्वादानादशेषता ॥ ५ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष के हटाने को आया है (न, एवं, स्यात्) स्विष्ट कृत् आदि कर्मों में ध्रौव घृत से अवदान नहीं हो सकता कारण कि (अशेपत्वात्) वह उपांशु याज शेप नहीं (सर्वादानात्) उपांशु याज से ध्रुवा पात्र से जितना घृत ग्रहण करनें योग्य था उस सबका हवन हो चुकने पर (अशेषता) उपांशु याज के 'घी' का शेष न रहना सिद्ध है।

भा०—'चतुरवत्तं जुहोति' उपांशु यज्ञ में ध्रुवा पात्र से चार अवदान घी लेकर होम करे इस वाक्य से ध्रौव आज्य में उपांशु याज के चार अवदान हैं और उन चारों का उपांशु में हवन हो जाता शेष घृत न रहे कि जिसके संस्कारार्थ स्विष्ट कृत आदि कर्म किये

जावें अतः सिद्ध हुआ कि उपांशु याज के पश्चात् शेष ध्रौव आज्य से वह कर्म करने योग्य नहीं।

सं०—उपांशु याज के पश्चात् जो ध्रुवा पात्र में घृत है उसे ही उपांशु याज शेष क्यों न मानलें।

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

प० क्र०—(ध्रुवायां) उपांशु याज के पश्चात् ध्रौव घृत है वह (नस्यात्) उपांशु याज शेष नहीं क्योंकि वह (साधारायात्) सब कर्म निमित्त है।

भा०—उस पात्र के घी में केवल चार अवदान उपांशु याज के हैं और उनका विधि पूर्वक हवन हो जाने पर पीछे जो पात्र में घी है उसके साथ उपांशु याज का कोई सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध न रहने से वह उसका शेष नहीं कहा जा सकता। उक्त दशा में 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों का होना भी संभव नहीं अतः उपांशु याज के पश्चात् शेष ध्रौव घृत से स्विष्टकृत आदि कर्म कर्त्तव्य नहीं यही समीचीन है।

सं०—अब उपांशु यज्ञ के निमित्त ध्रुवा पात्र से जुहु में आज्य लिया गया है उसके शेष से वह कर्म क्यों न कर लिये जावें।

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

प० क्र०—(जुह्वां) जुहु में जितना घी है (अवतत्वात्) वह सब हवन निमित्त अवदान किया गया है (च) और (तस्य) उस (होम संयोगात्) प्रधान हवन के साथ सन्बन्ध होने पर है।

भा०—उपांशु याज के निमित्त लिये गये उतने घृत से जो 'जुहु' में लिया गया है 'चतुवर्त्तं जुहोति' इस वाक्य से चार अवदान करे परन्तु सब का कर देने से शेष कुछ नहीं रहता। यदि निश्शेष हो जावे तो स्विष्ट कृत आदि कर्म का होना असम्भव है अतः सिद्ध हुआ कि उपांशु याज के पीछे ध्रौव घृत से वह कर्म नहीं करना चाहिये।

सं०—उक्तार्थ में आशंका होती है।

चमसवदिति चेत् ॥८॥

प० क्र०—(चमसवत्) ऐन्द्र वायव चमस में ग्रहण किये गये सोम का अग्नि के उद्देश्य से हवन जिस प्रकार होता है उसी भाँति विष्णु के उद्देश्य से जुहु निमित्त ग्रहीत घृत से भी स्विष्टकृत आदि कर्म होने चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं

भा०—जैसे अन्य के निमित्त से गृहीत सोम का अन्य के निमित्त हवन किया जाता है उसी प्रकार उपांशु के उद्देश्य से ग्रहण होने पर भी जुहु के घृत से स्विष्ट कृत आदि कर्म कर्त्तव्य हैं।

सं०—अशंका का समाधान करते हैं।

न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनाच्च ॥ ९ ॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि (चोदना विरोधात) ऐसा मानने से उसका विधि वाक्य से विरोध होने से (च) और (हविः प्रकल्पनात्) ऐन्द्र वायवं गृह्णाति वाक्य से केवल हवि कल्पना मिलती है। हवन संयोग नहीं।

आ०—'ऐन्द्र वायवं' इत्यादि वाक्य इसके द्योतक हैं कि 'ऐन्द्र-वायत' पात्र से सोम लेकर इन्द्र तथा वायु संज्ञक परमात्मा के निमित्ति होम करे। परन्तु वह सब का सब होतव्य है यह अर्थ नहीं निकलता। प्रत्युत इसके विरुद्ध चतुरवत्तं जुहोति' वाक्य से विदित होता है कि जितना घी जुहु नामक पात्र से ध्रुवा पात्र में लिया गया है वह सब उपांशु याज में होम करने योग्य है। यदि सब हवन न करके शेष स्विष्ट कृत आदि कर्म किये जावें तो 'चतुरवत्तं' वाक्य से विरोध आवेगा परन्तु ऐसा न होने से और सम्बन्ध के कारण चमस का सब घृत सोम का ऐन्द्र वायव के उद्देश्य से होतव्य के साथ सम्बन्ध नहीं होता। अतः इस विषमता से चमस में के घी को सोम समान जुहु के घी से भी स्विष्ट कृत् आदि कर्म नहीं करने चाहिये।

सं०—स्विष्ट कृत कर्म निमित्तक सब हवियों से अवदान की कथित विधि का समाधान करते हैं।

उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ॥ १० ॥

प० क्र०—(सति) शेष रहने पर (सर्ववचनं) वाक्य प्रवृति से (उत्पन्नाधिकारात्) अधिकार में पाठ होने से।

आ०—'सर्वेभ्यो हविर्भ्याः इस विधि वाक्य से सर्वत्र प्रवृति नहीं होती किन्तु यथास्थान उद्देश से होतव्य जितनी हवि है उसमें से उसके उद्देश से हवन के पश्चात् हवि शेप से पुरोडाश होम करना चाहिये सर्वत्र नहीं अतः निश्चय हुआ कि उपांशु याज के पश्चात् जो

ध्रुपा पात्र का घृत है उससे उस वाक्य की प्रवृत्ति न होने से स्विष्टकृत आदि कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०—अब तृतीय सूत्र में निरूपित हेतु का निराकरण करते हैं।

जातिविशेषात्परम् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(परं) प्रायणीय नामक इष्टि में आदित्य चरु के पास 'समवध्वति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है वह (जाति विशेषात्) भात और घी सम्बन्धी जाति विशेष के अभिप्राय वश है।

भा०—प्रकृति याग में अनेक आहुतियां प्रधान आहुति के पश्चात् स्विष्टकृत आदि कर्मों से संस्कार के योग्य हैं और प्रकृति में प्रयोग की गई क्रिया का विकृति में अतिदेश के प्रयोजन प्रयोग किया जाता है उस ध्रुपा पात्र घृत से 'स्विष्ट कृत्' आदि कर्मों की कर्त्तव्यता में प्रमाण नहीं अतः वह लक्षण के आधार पर उपांशु याज के पश्चात् शेष ध्रुव पात्रस्थ घृत उस कर्म का कर्त्तव्य समीचीन है।

सं०—चतुर्थ सूत्र के हेतु का समाधान करते हैं।

अन्त्यमरेकार्थे ॥ १२ ॥

प० क्र०—(अन्त्यं) ध्रौव घृत से स्विष्टकृत आदि कर्मों की कर्त्तव्यता का साधक प्रत्यभि धारण बतलाया गया वह 'अरे कार्थे' ध्रुवापात्र के रिक्त न होने से है।

भा०—उपांशु याज के पश्चात् शेष ध्रौव याज से स्विष्टकृत् आदि कर्म अकर्त्तव्य है।

सं०—'साकंपस्थाणीय' संज्ञक याग में 'स्विष्टकृत' आदि कर्मों की अकर्तव्यता निरूपण करते हैं।

सांकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्व ॥ १३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत्) उपांशु याज सदृश (साकं-प्रस्थायीये) साकं प्रस्थायीय संज्ञक यज्ञ में (स्विस्ट कृदिडं) स्विष्ट कृत और इडा अवादान कर्म नहीं होता।

भा०—"साकं प्रस्था यीयेन यजेत पशु काम." इस विधि से 'साकं प्रस्थायीय' यज्ञ में अग्नीधे स्रुत्रौ प्रदाय सह कुम्भी भिरभि कामं जुहोति' कथनानुसार दही और घी की घड़ियां (छोटे २ कुम्भ अथवा कलश) हवन करने होते है इसमे स्पष्ट है कि स्रुवों को छोड़ कर जो हवन है वह सब दही दूध के हवन करने से हैं यदि ऐसा इष्ट न होता तो ऐसा न कहते अतः कुम्भियों (घड़ियों) के शेष रह जाने पर भी दधि दूध का अवशेष नहीं रहता और ऐसी दशा में 'इडावदान' असंभव होता है। और भक्षण निमित काटा हुआ हवि शेष जो है वह 'इडावदान' कहा जाता है। अतएव उपांशु याज की भांति 'साकं प्रस्थायीय' नामक यज्ञ में वह कर्म भी अकर्त्तव्य है।

सं०—सौत्रा मणी यज्ञ में भी वह कर्म अकर्तव्य ही है।

सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ॥ १४ ॥

प० क्र०—(च) तथा (सौत्रा मण्यां) सौत्रा मणि यज्ञ में (ग्रहेषु) ग्रहों से भी हवन कहे जाने से उस कर्म की अकर्त्तव्यता है।

भा०—'सौत्रा मणि' यज्ञ में दो प्रकार के ग्रह होते हैं एक को 'पयो ग्रह' (दूध पात्र) दूसरा 'सोम ग्रह' (सोम-भरा पात्र) यह दोनों ग्रह पूर्वोक्त याग में परमात्मा निमित्त हवन किया जाता है परन्तु हवन उपर्युक्त ग्रहों से ही होता है स्रुवों से नहीं यदि स्रुवों से ही होता तो पय एवं सोम रूप हवि शेष रहता परन्तु ग्रहों से ही होने से वह हवि शेष नही रह सकता और इसी कारण 'स्विष्ट कृत' कर्म भी नहीं हो सकते क्योंकि शेष हवि संस्थारार्थ ही कर्त्तव्य हैं अतः स्विष्टकृतादि कर्म 'सौत्रा मणी में कर्त्तव्य योग्य नहीं।

सं०—इस का लक्षण निरूपण करते हैं।

तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥

प० क्र०—(च) तथा और (शेष वचनांत्) "ग्रहों" से होम के विधान करने वाले वाक्य जो शेष हैं वह (तद्वत) साकं प्रस्थायीय के समान उक्त यज्ञ में 'स्विष्टकृत' आदि कर्मों की अकर्तव्यता का द्योतक है।

भा०—शेष हविः के संग ही उक्त कर्मों का संयोग है जिस याग में सम्पूर्ण हविः का होम होता है और जो शेष में पात्रों (ग्रहों) के बिना कुछ हवि शेष नहीं रहती उसमें हवि शेष के सम्बन्धी वह कर्म नहीं हो सकते और 'सौत्रामणि' यज्ञ में जो हविः का कुछ शेष रखना विधि में है वह प्रयोजनान्तर के निमित्त होने से उस कर्म की अकर्त्तव्यता का प्रयोजक नहीं अर्थात् दूध तथा सोम दोनों प्रकार

के हवि द्रव्यों में कुछ शेष रखना जो बतलाया है वह 'स्विष्ट' कृत आदि निमित्तक नहीं किन्तु कार्यान्तर का हेतुक है।*

सं०—अब 'सर्वपृष्ठ' संज्ञक इष्टि में स्विष्टकृत' आदि कर्मों का एक बार अनुष्ठान करने को निरूपण करते हैं।

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १९ ॥

प० क्र०—(द्रव्यैकत्वे) द्रव्य के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) प्रधान कर्म का भेद होने से (प्रतिकर्म) प्रत्येक प्रधान कर्म (क्रियेरन्) स्विष्टकृतादि कर्म करने चाहिये।

भा०—'सर्व पृष्ट' यज्ञ शारीरिक बल की कामना वाले करते हैं और उसका यह विधान है कि 'इन्द्राय राथन्तराम, इन्द्राय वार्हताप इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैरा जाय, इन्द्राय शाकरी। यह उसके मन्त्र हैं अर्थात् रथन्तर आदि सामों के भेद से स्वतंत्र का भेद और उसके भेद से स्तोतव्य इन्द्र परमात्मा का भेद और उसका भेद होने से वह संस्कार कर्म भी प्रति शेष हविः आवश्यक हैं अतएव सिद्धि है कि प्रति कर्म अवशिष्ट हविः द्वारा अनेक वार वह कर्म करने योग्य है न कि सकृत कर्त्तव्य है।

* ब्राह्मणं परिक्रीणी यादुच्छेषेणं पातारं शततृणायां वा विस्रावयन्ति" सौत्रामणी की शेष हवि जो रक्खी है वह दक्षिणा में किसी ब्राह्मण को देकर पिला देना चाहिये। ब्राह्मण न मिले तो सौ छेद वाली हाँडी अथवा बिल में फेंक दें।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान करते हैं।

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१७॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग किया गया है (शेषस्य) हविः त्यागानन्तर बचा शेष भाग वह (अति भागात्) परस्पर कुछ भेद नहीं क्योंकि (सर्वान् प्रति) सब प्रधान कर्मों में। (अविशिष्टत्वात्) पुरोडाश रूप हवि समान हैं।

भा०—यद्यपि छह प्रधान कर्मों की कल्पना रथन्तरादि सामों के भेद से स्तोत्र का भेद होने के कारण स्तुति करने योग्य परमात्मा का भेद मान कर करली गई है परन्तु वस्तुतः आहुति भेद से भी कर्म का भेद नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्र देवता और आहुति हवि सब समान हैं अतः आहुति के पश्चात् बचा हवि-वह भी समान ही हुआ। विशेष कर भेद का कोई प्रयोजक नहीं इसलिये अभेद होने पर वार-वार स्विष्टकृत् आदि कर्म होना भी असम्भव है अतः उक्त इष्टि में सम्पूर्ण शेष भाग से एक ही वार वह कर्म करना चाहिये अनेक वार नहीं।*

सं०—'ऐन्द्रवायव' ग्रह में आहुति देने के पश्चात् शेष सोम का अनेक वार भक्षण को कहते हैं।

ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षस्यात् ॥१८॥

प० क्र०--(तु) विलक्षण अर्थ सूचक है (ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्रवायव संज्ञक पात्र में (प्रति कर्म) प्रति आहुवि रूप

* सकृत, एक वार् को और असकृत अनेकव र को कहते हैं।

कर्म (भक्षः) भक्षण (स्यात्) होना ठीक है क्योंकि (वचनात्) वाक्य विशेष से होता ही है।

भा०—हवन के पश्चात् बचा सोम रस एक होने से उसका एक बार ही भक्षण होना ठीक है क्योंकि "द्विरैन्द्र वायव्यस्य भक्षयति" दो बार भक्षण करे विधि वाक्य से उस दो बार भक्षण पाया जाता है और आहुति भेद से भक्षण भी भेद है अतः उस वाक्य में वाक्य विशेष बला प्रित 'ऐन्द्र वायव' पात्र में एक बार नहीं उनके बार भक्षण कर्त्तव्य है।

सं०—पुरोडाश के समान सम्पूर्ण शेष सोम-भक्षण निरूपण के लिये पूर्व पक्ष करते हैं।

सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥१६॥

प० क्र०—(सोमे) ज्योतिष्टोम में (भक्षः) शेष सोम भक्षण (न विद्यते) नहीं पाया जाता क्योंकि (अवचनात्) उसकी विधि का कोई वाक्य नहीं।

भा०—ज्योतिष्टोम में अनेक सोम पात्र होते हैं अतः जिस हवि शेष भक्षण का विधि वाक्य पाया जाता है उसी का भक्षण होना समीचीन है न कि अन्यों का परन्तु याग में सोम के शेष भक्षण का विधान कर्त्ता वाक्य नहीं अतएव उस में होतव्य सोमों का शेष भक्षण योग्य नहीं।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान किया जाता है।

स्याद्वाऽन्यार्थ दर्शनात् ॥२०॥

प० क्र०—(श्रा) पूर्व पक्ष परिहार के निमित्त प्रयोग है (स्यात्) सोमों का शेष भक्षण होना (अन्यार्थदर्शनात्) तत्सम्बन्धी भ्रमण का विधान होने से।

भा०—चारों ओर परिक्रमण कर (ऋत्विक) सोम का भक्षण एवं उससे तृप्त होकर यहाँ वेदी के बीच में 'पृष्ठ्या' संज्ञक रेखा की दक्षिण ओर रख कर चकर पर चमसों को स्थापन करें इस प्रकार की विधि से सोम भक्षण के अंग भ्रमण तथा भक्षण के पश्चात् चमस पात्रों का शकर पर रखने का विधान है वह सब सोमों के भक्षण में प्रमाण है। यदि सब सोम अभक्ष्य होते तो भ्रमण आदि के विधायक पाक विशेष के भक्षण का विधान न होता परन्तु उसके विधान से उक्त याग में शेष सोम भक्षण अवश्य होना चाहिये अतः सब शेष सोम भक्ष्य हैं।

सं०—'सर्वतः परिहारं' वाक्य में केवल भ्रमण का ही विधान है नकि सोम भक्षण का भी।

वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ॥२१॥

प० क्र०—'तु' आशंका के दूर करने को प्रयोग किया है (वचनानि) 'सर्वतः परिहारं' वचन भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण विधायक होने पर (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ है।

---

* सर्वतः परिहारं परिहार यारिवनं भक्षयति भक्षिता ह्यापितां श्चमसान् दक्षिणा स्थान सोऽवलम्बे सादयति ।

भा०—उक्त 'सर्वतः परिहारं' में भ्रमण नहीं बतलाया किन्तु भ्रमण आदि विशेष भक्षण की विधि कही गई है यदि उन्हें विशेष विधि वाचक न माना जावे तो भक्षण के अंग भ्रमण का विधायक नहीं हो सकता अतएव यही सिद्ध होता है कि सोम भक्षण कर्त्तव्य है।

सं०—चमस संज्ञक सोम पात्रों में होता आदि ऋत्विक द्वारा किया शेष सोम का भक्षण निरूपण करते हैं।

चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्त स्वात् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(चमसेषु) चामस नामक सोम पात्रों में (समाख्यानात्) व्याख्या के आधार पर शेष सोम को भक्ष्य कहा गहा है (संयोगस्य) उस समाख्या सम्बन्ध का (तन्निमित्तत्वात्) भक्षण के हेतु है।

भा०—पात्रों की जो 'होतृ चमसः' आदि यौगिक संज्ञा है वह केवल होता आदि ऋत्विक के किये कर्म शेष सोम भक्षण के लिये है; यदि सोम भक्षण न माना जावे वह रह नहीं सकता। क्योंकि 'चमस' का अर्थ है चम्यते = भक्ष्यते सोमो ऽस्मिन पात्रविशेषे स चमसः "अर्थात् सोम के पीने के विशेष पात्र को चमस कहते हैं*।

---

* उद्गाता जिस पात्र विशेष से सोम को ग्रहण करे वह उद्गातृ चमस। ब्रह्मा का ब्रह्म चमस और इसी प्रकार यजमान चमस।

सं०—'होतृ चमस' आदि दश पात्रों में उद्गातृ चमस नामक पात्र विशेष में सुब्रह्मण्य' सहित उद्गाता आदि चार ऋत्विज कर्तृक शेष सोम का भक्षण कथन करते हैं।

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥ २३ ॥

प० क्र०—(उद्गातृ चमस) उद्गातृ चमस नामक पात्र में बचा सोम का (एकः) उद्गाता ही भक्षण करे क्योंकि (श्रुतियोगात्) उस चमस के साथ उद्गातृ शब्द का सम्बन्ध है।

भा०—यतः वाक्य में उद्गातृणां पद आया है वह अनुष्ठान भेद से किया गया है और उगद्गीथ-गान कर्ता ऋत्विक विशेष में उद्गातृ शब्द रूढ़ि है अतः अन्य सब ऋत्विकों को नहीं खाना चाहिये अतः वह भक्षण केवल उद्गाता करे।

सं०—प्रथम पक्ष का खण्डन करते हैं।

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥ २४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के दूर करने को पढ़ा गया (सर्वे) पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम भक्षण करना ठीक है (सर्व संयोगात्) सबके वाचक बहु वचन का उस पात्र से सम्बन्ध है।

भा०—यदि केवल एक उद्गाता को ही सोम भक्षण बताया जाता तो उस वाक्य में बहु वचन प्रयोग असंगत है। और अनुष्ठान भेद से कल्पित बहु वचन समर्थन में कठिन है परन्तु बहु वचन से सब का सम्बन्ध बनता है अतः उक्त पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम भक्षण करना यही श्रेष्ठ पक्ष है।

सं०—दूसरे पूर्वपक्ष के खंडन कर तीसरे पक्ष को कहते हैं।

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ॥ २५ ॥

प० क्र०—(वा) दूसरे पक्ष के खंडन में है (स्तोत्र कारिणः) उस पात्र में उद्गाता, 'प्रस्तोता' और प्रति हर्त्ता तीनों को भी भक्षण करना चाहिये इस लिये कि (तत्सयोगात्) उनके सम्बन्ध से (बहुत्व श्रुतेः) बहु वचन का प्रयोग है।

भा०—उद्गाता प्रस्तोता, और प्रति हर्त्ता इन तीन को छोड़ कर उद्गाता शब्द अन्य ऋत्विजों को नहीं कहा ज सकता इस लिये उक्त पात्र में उद्गातृपद से वाचका उद्गाता आदि तीनों ऋत्विक, को ही भक्षण कर्त्तव्य है।

सं०—पूर्वपक्ष करते हैं।

सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ॥२६॥

प० क्र०—(तु) तृतीय पक्ष के खण्डन के लिये है। और सिद्धान्त सूचक भी है (सर्वे) यज्ञ में साम छेनियों और (सुब्रह्मण्य) इन चारों को खाना चाहिये (वेद संयोगात्) चारों का साम वेद गान से सम्बन्ध है एवं (एक देशे) उद्गाता संज्ञक ऋत्विक में जो उद्गातृ शब्द है वह (कारणात्) 'उद्गीथ' संज्ञक सामवेद विशेष के गान के लिये (स्यात्) है।

भा०—तीनों ऋत्विक साम गान ही करते हैं इसी लिये उद्-गाता शब्द प्रयोग किया गया है उसी प्रकार 'सुब्रह्मण्य' ऋत्विक भी गान करता है परन्तु उद्गीथ गान

करने से उद्गाता होता है वैसे तो सब ही साम गान करते हैं अतः उद्गात्र चमत से उद्गाता, प्रस्तोता, प्रति हर्त्ता और सुब्रह्मण्य चारों को होम भक्षण करना यह सिद्धान्त है।*

सं०—'परि योजन' नामक पात्र में आवस्तुत संज्ञक ऋत्विक का किया हुआ शेष सोम भक्षण के लिये पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं।

आवस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥

प० क्र०—(आवस्तुतः) 'आवस्तुत' संज्ञक ऋत्विक का किया (भक्ष) 'हारियोजन' संज्ञक पात्र में अवशिष्ट सोम का भक्षण (न विद्यते) नहीं होता क्योंकि (अनाम्नानात्) उस पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं मिलता।

भा०—'आवस्तुत्' चमसी नहीं और उस वाक्य में चमसियों का भक्षण कहा गया है जैसे यथा चमस मन्यांश्च-चसान् चमसिनो भक्षयन्ति" इससे प्रमाणित होता है कि अचमसी होने से आवस्तुत् के भक्षण की वह विधि नहीं है और जिसका विधि विधान नहीं, अतः उस कथित पात्र के शेष सोम भक्षण के योग्य नहीं। इसलिये यही मानना ठीक है कि वह सर्वथा अभक्ष्य है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

* कुमारिल भट्ट केवल तीन ही भक्षण करें ऐसा मानते हैं क्योंकि 'सद्' नामक मण्डप में सुब्रह्मण्य जा नहीं सकता।

हारियोजने वा सर्व संयोगात् ॥२८॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निराकरणार्थ है (हारियोजने) 'हारियोजन' नामक पात्र में 'आवस्तुत' को भी शेष सोम का भक्षण करना चाहिये क्योंकि (सर्व संयोगात्) उक्त पात्र-भक्षण में उसका सम्बन्ध मिलता है।

भा०—"अथैतस्य हारि योजनस्य सर्व एव लिप्सन्ते" इस वाक्य में सब को उस पात्र के सोम का इच्छा वाला कहा है अतः 'आवस्तुत्' को भी भक्ष्य होता है क्योंकि ब्रह्मादि उक्त सोम के इच्छुक पाये जाते हैं और सर्व शब्द से सब का ग्रहण है। यदि सब चमसियों का ग्रहण करके 'आवस्तुत' का उस पात्र को अभक्ष्य मानें तो ठीक नहीं क्योंकि चमसियों का सम्बन्ध विच्छेद होने में वह अग्रहणीय है अतः 'आवस्तुत्' को सोम का भक्षण करना चाहिये।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२९॥

प० क्र०—(वा) आशंकार्थ प्रयोग है (चमसिनां) वाक्य में सर्व शब्द से चमसियों का ग्रहण है क्योंकि (सन्निधानात्) उसकी सन्निधि में शब्द का प्रयोग मिलता है।

भा०—पिछले सूत्र में जो अथैतस्य हारि योजनस्य सर्व एक लिप्सन्ते कहा गया है इस से स्पष्ट है कि जिन चमसियों का अपने अपने चमस में भक्षण का

विधान है उन्हीं का सर्व शब्द से परामर्श करके 'हारियोजन' संज्ञक पात्र के प्रति इच्छुक बतलाया है। चमसी अचमसी सब का नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि अचमसी होने से हारियोजन पात्र में 'ग्रावस्तुत' को सोम का भक्षण नहीं हो सकता।

सं०—इस आशंका का समाधान करते हैं।

सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

प० क्र०—'तु' शब्द आशंका निवारण के लिये है (सर्वेषां) चमसी, अचमसी, सब ऋत्विजों का सर्व शब्द 'सर्व' से ग्रहण है (विधित्वात्) हारियोजन पात्र में सर्वभक्षण का विधान है (चमसिश्रुतिः) पूर्व वाक्य में चमसियों का ग्रहण है (तदर्था) उस पात्र की प्रशंसा के लिये है।

भा०—अन्य चमसों को तो 'चमसि' ऋत्विक् यथा चमस भक्षण करते हैं और हारियोजन ऐसा सुन्दर और प्रशंसनीय पात्र है कि इसके भक्षण की चमसी, अचमसी सब लिप्सा करते हैं अतः यह प्रशंसा है कल्पना नहीं। विशेषकर केवल चमसियों के ग्रहण से प्रशंसा लाभ नहीं हो सकता। अतः अन्य ऋत्विजों के समान 'ग्रावस्तुत' ऋत्विक् को भी उक्त पात्र में भक्षण करना चाहिये।

सं०—'वषट्कार' को भक्षण का निमित्त कहते हैं।

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥

प० क्र०—(च) तथा (वषट्कारात्) वषट्कार करने से (भक्षयेत्) होता शेष सोम का पूर्व भक्षण करे।

भा०—"वषट् कर्त्तु प्रथम भक्षः" इस वाक्य में वषट्कार को प्रथम भक्ष कहा है अतः परिशेष से सिद्ध है कि वषट् कर्त्ता के प्रथम सोम भक्षण का निमित्त वषट्कार है। तथ्य यह है कि जैसे समाख्या तथा वाक्य यह दोनों सोम भक्षण में निमित्त है उसी प्रकार वषट्कार भी सोम भक्षण में निमित्त हैं।

सं०—वषट्कार समान हवन एवं सोमाभिषव दोनों को सोम भक्षण का निमित्त कथन किया जाता है।

होमाऽभिषवाभ्यां च ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(च) और (होमाभिषवाभ्यां) होम और अभिषव यह दोनों भी भक्षण का निमित्त हैं।

भा०—हवि धनि ग्राव भिरभिषुत्याह वनीये हुत्वा प्रत्यञ्च परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति' इस वाक्य कूटने से तथा हवन का उपन्यास किया गया है और फिर भक्षण का विधान है अतः सिद्ध है कि समाख्या, वाक्य तथा वषटकार तीनों भक्षण में निमित्त हैं उसी प्रकार सोमाभिषव और होम यह दोनों भी निमित्त ही है।

सं०—वषट्कर्त्ता का वषट्कार के लिये चमसों में स्तेय भक्षण के लिये पूर्व पक्ष करते हैं।

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(चमसानां) चमसों के भक्षण में अनिमित्त है क्योंकि (प्रत्यक्षोप देशात्) उनके भक्षण मे चमसियां निमित्त कही गई हैं और (अव्यक्तः) वषट्कर्त्ता प्रथम भक्षः यह वाक्य (शेपे) चमस से अलग ग्रहों के भक्षण में है।

भा०—चमस से बाहर ग्रहों में होता के सोम भक्षण का निमित्त वषट्कार और चमस में भक्षण का निमित्त उसका चमसपन है अतः दोनों वाक्य व्यवस्थित हो जाते हैं और इसी कारण चमस पात्रों में वषट्कर्त्ता आदि सोम भक्षण का निमित्त चमसित्व है वषट्कार आदि नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

स्याद्वाकारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के खंडन के लिये आया है। (स्यात्) वषटकारादि भी चमसों के भक्षण में निमित्त हैं क्योंकि (कारण भावात्) वह कारण रूप कहे गए हैं और (चमसानां) चमस भक्षण में (कर्त्तुः) चमसियों का (अनिर्देशः) निमित्त रूप से कथन न मिलने से (तद्वचनत्वात्) 'यथाचमसं' वाक्य सब चमसियों के भक्षण का विधान करता है और अन्य का निवर्त्तक भी नहीं है।

भा०—होता तथा अध्वर्यु का किया चमसों के भक्षण में चमसी होने के समान वषट्कार एवं होम आदि का कर्त्ता होना भी निमित्त ही है अथवा वषट्कर्त्ता आदि को का वषट्कार आदि निमित्तक चामसों में सोम भक्षण होता है और यही मानना समीचीन भी है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण करते हैं।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(च) और (अन्य दर्शनात्) चमसाध्वर्यु द्वारा वषट्कर्त्ता के प्रति चमसों का दान मिलने से (चमसे) वषट्कर्ता आदि का वषट्कार आदि निमित्तक चमस में सोम भक्षण सिद्ध है।

भा०—"चमसांश्चमसाधार्य वे प्रयच्छति, तान स वषटकर्त्रे हरति" इस वाक्य द्वारा चमस 'चमसाध्वयु' को दिया जाता है वह वषट्कर्त्ता को देता है इस आदान प्रदान का अर्थ भक्षण के लिये ही शेष सोम दिया जाता है न कि रक्षा के लिये। यदि वषट् करने वाले चमण भक्ष के योग्य न होते, तो देने का विधान न पाया जाता परन्तु किया गया है इससे सिद्ध है कि वषट्कर्ता आदिक को वषट्कार आदि निमित्तक चमसों का भक्षण ही समीचीन है।

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥ ३६ ॥

सं०—अत्र अधिक भक्षण के अधिकारी होने से प्रथम होता के भक्षण को कहते हैं।

प० क्र०—(एक पात्रे) एक ही पात्र में होता और ऋत्विजों के भक्षण की विधि होने से (अध्वर्युः) अध्वर्यु नामक ऋत्विक (पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) खावे क्योंकि (क्रमात्) क्रम पाये जाने से।

भा०—होम के पश्चात् जो सोम रस शेष रहता है उसका सब ऋत्विज भक्षण करते हैं। हवन करने वाला अध्वंर्यु होता है वह सोम रस को आहवनीय यज्ञ में होम

देता है यह क्रिया अति सन्निहित की है और उसी होता के भक्षण विषयक है। इसलिये एक पात्र में सोम भक्षण अध्वर्यु को करना चाहिये होता को नहीं॥

सं०—इसका समाधान करते हैं।

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३७ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है (होता) होता को पूर्व भक्षण कर्त्तव्य है कारण कि (मन्त्र वर्णात्) वेदों में ऐसा ही है।

भा०—"होतुश्चित्ति, पूर्वे हविरद्य माशत" इस मन्त्र से तो होता के पूर्व शेष हविः भक्षण कोई न करे अतः होता को शेष हविः का भक्षण बतलाया गया है अतः इ.. समीचीन पक्ष से यह सार निकलता है कि एक पात्र में अनेक ऋत्विजों को भक्षण करना परन्तु सब प्रथम 'होता' को भक्षण करना चाहिये 'अध्वर्यु' को नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

वचनाच्च ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(च) और (वचनात्) वाक्य विशेष से भी कथित अर्थ की पुष्टि होती है।

भा०—वषटकर्त्तुः प्रथम भक्षः" इस वाक्य में होता (वषट्कार कर्त्ता) का साक्षात् पूर्व भक्षण विहित है जो सन्निधि से नहीं हटाया जा सकता अतः सिद्ध है कि एक पात्र में अनेक ऋत्विजों को सोम भक्षण करते समय पहिले होता को ही 'सोम' भक्षण करना चाहिये अध्वर्यु को नहीं।

सं०—इस अर्थ में हेतु यह है कि

कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (कारणानुपूर्व्यात्) कारण क्रम से भी उस अर्थ की सिद्धि है।

भा०—होता तो वषट्कार के कारण और अध्वर्यु होम के कारण सोम भक्षण करता है इस क्रम से पहिले होता पीछे अध्वर्यु सोम ग्रहण करें इसलिये एक पात्र में अनेक ऋत्विज कर्तृक भक्षण होने पर पूर्वोक्त क्रम ही उत्तम पक्ष है।

सं०—अनुज्ञा पूर्वक सोम भक्षण निरूपण करते हैं।

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥

प० क्र०—(अनुज्ञात भक्षणं) अनुज्ञा प्राप्त सोम का भक्षण करना (वचनात्) वाक्य द्वारा भी मिलता है।

भा०—"तस्मात् सोमोनानु पहूतेपेयः" विना बुलाये सोम भक्षण न करे क्योंकि तिरस्कार पाया जाता है जैसा लोक में भी देखा जाता है अतः अनुज्ञापूर्वक सोम भक्षण कर्त्तव्य है अनुज्ञा रहित नहीं लेना चाहिये।

सं०—वेद मंत्र द्वारा अनुज्ञा का निरूपण करते हैं।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात ॥४१॥

प० क्र०—(तत्) सोम भक्षण का (उपहूत उपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत्) 'उपहूत उपह्वयस्व' मंत्र से अनुज्ञापन करे क्योंकि (लिङ्गात्) मंत्र में अनुज्ञापन की शक्ति है।

भा०—'उपहूत उपह्वयस्व' मंत्र में 'उप' उपसर्ग के साथ (ह्वेज्)
धातु प्रयोग किया गया है उससे 'उपह्वान' स्पष्ट
पाया जाता है और इसी कारण मंत्र का विनियोग
भी किया गया है अतः सोम भक्षण के निमित्त उस
मंत्र से अनुज्ञापन कर लेना ठीक है। किसी लौकिक
वाक्य से नहीं।

सं०—अनुज्ञा के समान प्रति वचन का भी वैदिक वाक्य से
होना निरुपण करते हैं।

तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(तत्र) वेद मंत्र से (प्रति वचंन) उसका उत्तर,
(अर्थात्) अर्थ से वेद मंत्र द्वारा होना पाया
जाता है।

भा०—जब किसी को बुलाते हैं तो वह उत्तर भी देता ही है कि
आवेंगे या नहीं इसी भांति सोम को बुलाने पर जब
अनुज्ञा वेद मंत्र द्वारा होगी तो उसका उत्तर भी
मंत्र द्वारा ही होगा अतः इस वेद मंत्र में दोनों ही
विद्यमान है अर्थात् "उपह्वयस्व" से अनुज्ञा और
'उपहूतः' से उत्तर होता है।

सं०—एक पात्र में अनेक ऋत्विक कर्तृक भक्षण की अनुज्ञा
को कहते हैं।

तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(तत्) सोम भक्षण अनुज्ञापन (एक पात्राणां) एक
पात्र में भक्षणीय (समवायात्) इसमें एक चित हो
भक्षण कर्त्तव्य है।

भा०—अपने २ पात्र में भक्षण के लिये अनुज्ञा अनावश्यक है क्योंकि पात्र नियत हैं और ऋत्विक अपने आप उसका भक्षण कर सकता है।

सं०—स्वयं यज्ञ कर्त्ता होने से यजमान का सोम भक्षण निरूपण करते हैं।

याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(प्रवरवत्) वरण समान (याज्यापनये) याज्या अपनयन होने से (भक्षः) भक्षण का (न, अपनीतः) अपनयन नहीं होता।

भा०—यजमानस्य याज्या' सोऽभि प्रेष्यति होत रेत द्रुय जेति, स्वयं वा निपद्य यजति" इस वाक्य में बतलाया है कि होता से याज्या का अपनाम करके यजमान को उसका पढ़ना विहित है अपनयन का अर्थ छुड़ा लेना है। परन्तु होता के सोम भक्षण का निमित्त 'वषट् कार' है यदि उक्त वाक्य में 'वषट् कार' का अपनयन होता तो उसके नियत सम्बन्धी भक्षण का भी अपनयन होता परन्तु अपनयन केवल याज्या का विहित है अर्थात् जो ऋचा होता पढ़ता वह यजमान को पढ़नी है न कि 'वषट् कार' का बोलना। विशेष कर जब कि याज्या ऋचा पाठ करने पर भी होता का वरणी होना जिस प्रकार दूर नहीं होता अतः यजमान को भक्षण का भी होना नहीं कह सकते अतः सोम का भक्षण होता को ही है न कि यजमान को।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

यष्टुर्वा, कारणागमात् ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (यष्टुः) याग कर्त्ता यजमान को भक्षणीय (कारण गमात्) याज्या के आगम से भक्षण निमित्त 'वषट कार' का भी आगम है।

भा०—वषट् कार रूप निमित्त विद्यमान होने से यजमान को सोम भक्षण अवश्य होना चाहिये होता के लिये नहीं क्योंकि भक्षण दोनों का निमित्त से है और निमित्त का सहचारी भी निमित्त होता है।

सं०—प्रवरवत् में दृष्टान्त देते हैं।

प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(प्रवरस्य) होता के वरणी होने का (अनपनयः) अपनय नहीं होता क्योंकि (प्रवृत्तत्वात्) वह प्रवृत्त हो चुकता है।

भा०—वरण भी वषट् कार के समान प्रथम यदि प्रवृत्त न होता तो याज्या के अपनय से उसका भी अपनय होता परन्तु प्रकृत होने से याग समाप्ति बिना बीच में उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

सं०—'फलचमस' को यागार्थ निरूपण करते हैं।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥४७॥

प० क्र०—(नैमित्तिकः) क्षत्रिय और वैश्य के लिये बनाया (फलचमसः) फलचमस (भक्षविकारः) भक्षणीय

है कारण कि (श्रुति संयोगात्) वाक्य शेष से यही प्रमाणित होता है।

भा०—ज्योतिष्टोम में "स यदि राजन्यं व वैश्यं वा याजयेत स यदि सोम विभर्त्तायिपेत न्यग्रो धस्ति भीः आहृत्य ताः सम्पिष्ट ददानि उन्मृज्य तसस्यै भक्तं प्रयच्छेन्न सोमय" इसमें उन्हें 'क्षत्रिय तथा वैश्य' को भक्षण के लिये 'चमसफल' देना कहा है अतः यह तत्त्व निकला कि क्षत्रिय अथवा वैश्य के यजमान होने पर फलचमस से यज्ञ के करने का नियम नहीं। केवल दोनों यजमानों को भक्षण के लिये फलचमस के देने का नियम है अतः वह भक्षण निमित्त है यज्ञ के लिये नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४८॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के दूर करने को प्रयोग किया गया है (इज्याविकारः) फलचमस याग निमित्त है क्योंकि (संस्कारस्य) उसका भक्षण (तदर्थत्वात्) याग के लिये होने से ही बन सकता है।

भा०—जब क्षत्रिय और वैश्य सोम याग करावे तो उसका याग फल चमस से कराना चाहिये और उसी का शेष उसे भक्षण को दिया जावे फल चमस के भक्षण विधान ही अन्यथा अनुपपन्न हुआ उसका यागार्थ होना सिद्ध करता है कि वह याग के लिये है न कि भक्षण के लिये।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

होमात् ॥४६॥

प० क्र०—(होमात्) होम का अनुवाद पाने से वह सिद्धार्थ नहीं।

भा०—"यदान्योश्चमसान् जुहति अर्थे तस्य दर्भ तरुण के नोप हत्य जुहोति" इससे फलचमस याग के लिये पाया जाता है अतः सिद्ध है कि फलचमस की आहुति दी जाती है यदि उसकी आहुति न दी जाती तो आहुति देने से पहिले दर्भ मुष्टि से हिलाना विहित न होता। अतः क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा किये यज्ञ में फलचमस का विधान है वह याग निमित्त है भक्षणार्थ नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥५०॥

प० क्र०—(च) तथा (चमसैः) चमसों द्वारा (तुल्य काल त्वात्) फल चमस के उठाने का एक ही समय होने से भी वह प्रमाणित होता है।

भा०—यदाऽन्योश्चमसानुन्नयन्ति अर्थनं चमस 'मुन्नयन्ति' इस वाक्य में अन्य चमसों और फल चमस का एक ही काल में आहुति देने के लिये उठाना बताया है अतः वह यागार्थ है यदि वह ऐसा न होता तो अन्य चमसों के साथ उसका विधान न होता। अतः सिद्ध है कि फल चमस यज्ञ के निमित्त है न कि भक्षण के लिये है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण कथन करते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥५१॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—"तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्" यहाँ फल चमस भक्षण के लिये दिया जाना विहित है न कि सोम। अतः सोम का स्थानी फलचमस है अतः क्षत्रिय और वैश्य के किये यज्ञ में फल चमस का विधान है वह यज्ञ निमित्तक है न कि केवल भक्षण के लिये।

सं०—'दशपेय' संज्ञक यज्ञ में सोम भक्षणार्थ यजमान चमस के प्रति लिये "दश ब्राह्मणों का चलकर जाना" कहते हैं।

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥५२॥

प० क्र०—(अनुप्रसर्पिषु) यजमान चमस प्रति भक्षण के लिये दश क्षत्रिय होने चाहिये (सामान्यात्) ऐसा होने से यजमान के से साथ एक जातित्व की प्राप्ति है।

भा०—'राजसूय' याग में क्षत्रिय को ही अधिकार है अन्य को नहीं अतः 'दशपेय' यज्ञ में 'दश दशै कैकं चमस मनु प्रसर्पन्ति" वाक्य में यजमान क्षत्रिय होना सिद्ध है क्योंकि वहाँ दश क्षत्रियों का अनुप्रसर्पण मानने में दोष नहीं आता कारण कि यजमान का सजाती धर्म भी है अतः वह 'अनुप्रसर्पता' क्षत्रिय ही हो न कि ब्राह्मण।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (ब्राह्मणा) यजमान चमस के लिये अनुप्रसर्पण कर्त्ता ब्राह्मण हों न कि क्षत्रिय क्योंकि (तुल्य शब्दत्वात) उसका एक ब्राह्मण शब्द से उपन्यास किये जाने से।

भा०—"शतं ब्राह्मणा सोमाम् भक्षयन्ति" इस उपक्रम वाक्य में १०० ब्राह्मणों का सोम भक्षण निरूपण किया है अतः सिद्ध है यजमान चमस के लिये सोम भक्षण के निमित्त दश ब्राह्मणों का ही प्रसर्पण समीचीन है क्योंकि क्षत्रिय होनें से यजमान का ब्राह्मणों साजात्य नहीं तब भी वह विजातित्व याग भूमि से बाहर लिया गया है क्योंकि दीक्षित होने से यजमान का चमस 'ब्राह्मण चमस' कहलाता है न कि 'क्षत्रिय चमस' क्योंकि यज्ञ दीक्षा के पश्चात् सब वर्ण के मनुष्य ब्राह्मण हो जाते हैं अतः 'दशपेय' यज्ञ में यजमान चमस के लिये दश का अनुप्रसर्पण कथन ठीक है वह दश ब्राह्मण होनें चाहिये न कि क्षत्रिय।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये तृतीयाध्याये पंचमः पादः समाप्तः ॥

अथ तृतीयाध्याये षष्ठः पादः प्रारभ्यते।

सं०—स्रुवादि पदार्थ खैर इत्यादि लकड़ी के होने योग्य हैं अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥१॥

प० क०—(सर्वार्थम) प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों में खैर की लकड़ी के स्रुवादि पदार्थ बनाने का विधान है (अप्रकरणात्) यह किसी पाठ में नहीं पढ़ा गया।

भा०—"यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्द सामे वर सेना वद्यति सरसा अस्या हुतो भवन्ति यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न सपापं श्लोके शृणोति" वाक्य प्रकरण में पढ़ा गया है परन्तु यह वाक्य किसी प्रकरण में नहीं पढ़े गये किन्तु अप्रकरण पठित हैं अतः उनका विकृति और प्रकृति दोनों यागों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। दोनों यागों में स्रुवादि की आवश्यकता होती है अतः इसमें खैर आदि स्रुवों का वर्णन नहीं किन्तु प्रकृति और विकृति याग का ही वर्णन करते हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष निराकरणार्थ आया है (प्रकृतौ) दर्श पूर्ण मास यागों में (द्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्ति प्राप्ति होने से ।

भा०—यद्यपि खदिरत्वादि का अप्रकरण पठित होने से प्रकृति और विकृति दोनों भाँति के यज्ञों से सम्बन्ध होता है इसी कारण यस्य खदिरः स्रुवः आदि विधि वाक्य दर्शपूर्णमास प्रकृति याग में स्रुवादि खदिरादि होना चाहिये ।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष करते हैं ।

तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ॥३॥

प० क्र०—(तु) पूर्वपक्ष को सूचित करता है (तद्वर्ज) अप्रकरण पठित को छोड़ कर (वचन प्राप्ते) जो विधि पूर्वक प्रकृति याग में होता है उसमें प्रेरक वाक्य की प्रवृत्ति से भी ।

भा०—प्रेरणा करने वाले वाक्यों से अप्रकरण पठित वाक्य शक्ति वाला होता है और वह निराकांक्ष भी होता है इससे प्रवृत्ति भी नहीं होती और उसके न होने से प्रकृति याग से विकृति याग में खैर आदि का योग होना भी असम्भव सा है । अतः ठीक न होने से प्रकृति और विकृति दोनों में वह वाक्य खदिर आदि का विधायक है नकि केवल प्रकृति में ही विहित है ।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष में सिद्धान्ती की आशंका यह है ।

दर्शनादिति चेत् ॥४॥

प० क्र०—(दर्शनात्) प्रकृति में विकृति के धर्म योग से सर्वत्र प्रेरक वाक्य में प्रवृत्ति प्रमाणित होती है (चेत्) यदि (इति) कहा जावे तो असमीचीन है।

भा०—'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति'* इस विधि वाक्य से अनुवाद द्वारा कृष्णल हवन का विधान कहा है इससे प्रमाणित होता है कि अप्रकरण पठित वाक्य से विहित धर्म का भी प्रेरक वाक्य का विकृति याग से योग है क्योंकि अनुवाद अप्राप्त का नहीं होता अर्थात् प्रयाज नामक होमों का अनुवाद जो विकृति यागों में मिलता है वह विना प्रेरक वाक्यों की प्रवृति के नहीं हो सकता और जैसे अप्रकरण पठित वाक्य से प्रयाज विहित हैं उसी भाँति खदिर आदि धर्म भी हैं अतः अप्रकरण पठित वाक्य प्रकृति और विकृति दोनों यागों में खदिरत्व विधान करने वाले नहीं वह केवल प्रकृति याग में ही विहित है।

सं०—सिद्धान्त वादी की आशंका का पूर्व पक्षी समाधान करता है।

न चोदनैकार्थ्यात् ॥५॥

प० क्र०—(न) यह काम ठीक नहीं है (चोदनै कार्यात्) प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एक सी ही विधि होने से।

भा०—प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एक समान विधि मिलती है अतः यह कथन कि उक्त वाक्य प्रयाजों के

---

* माशे के पाँचवें भाग को कृष्णल कहते हैं।

अनुवाद से कृष्णलों का हवन विधान करता है नकि कृष्णल हवन नामक प्रयाजों का विधायक है इसी कारण वह कृष्ण होम का विधान करता भी है इस अर्थ में उदाहरण नहीं वनता इसलिये अप्रकरण सहित वाक्य केवल प्रकृति याग में खदिरत्व विधायक नहीं किन्तु प्रकृति और विकृति दोनों यज्ञों के मानने चाहिये।

सं०—सिद्धान्ती की पुनः आशंका।

उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥

प० क्र०—(उत्पत्तिः) विधि वाक्य पूर्वक सम्पूर्ण धर्मों का प्रकृति याग से साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध होने से (चेत्) यदि (इति) माना जावे तो असमीचीन है।

भा०—यद्यपि खदिरत्व धर्म अप्रकरण पठित विधि वाक्य से विहित हैं तथापि उनका प्रकृति विकृति दोनों साधारण विधान नहीं माने जा सकते और जब उनके समभाव ही नहीं तो समान सम्बन्ध कैसे वन सकता है। अतएव विहित धर्मों का प्रकृति याग से साक्षात् सम्बन्ध होना सम्भव है विकृति याग से साथ नहीं। अतः प्रकृति और विकृति याग दोनों साधारण खिदिरत्व के विधान करने वाले नहीं, केवल प्रकृति याग में ही हैं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का यह समाधान है।

न तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं (तुल्यत्वत्) वह धर्म वह धर्म प्रकृति और विकृति दोनों में समान रूप से विहित हैं।

भा०—'यस्य खदिरः' यह वाक्य प्रकृति और विकृति दोनों प्रकार समान है अतः वह दोनों में ही खदिरत्व धर्म को विधान करते हैं केवल प्रकृति याग को ही नहीं।

सं०—इस पक्ष का सिद्धान्ती द्वारा समाधान।

चोदनार्थकात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ॥ ८॥

पं० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष की हानि के निमित्त है (प्रकृत्यर्थः) प्रकृति याग के लिये विधान न कि विकृति के निमित्त होने से (चोदना कात्स्नर्यात्) प्रेरक वाक्य से सर्व धर्म मिलने से (मुख्य विप्रति षेधात्) दोनों के विधायक हैं इसमें दोष आता है।

भा०—जहां कोई धर्म अ प्राप्त हो वहां ही विधान माना जाता है और जो किसी उपाय से मिल सके वहां विधान अवापेक्षित होता है यदि खदिरत्व धर्मों का प्रकृति याग में विधान भी मानलें तो विकृति याग में उसकी प्राप्ति प्रेरक वाक्यों से स्वमेव ही होगी अतः सिद्ध है कि उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में स्रुवादि यात्रों के खदिरत्व धर्मों के विधायक है प्रकृति अथवा विकृति दोनों के नहीं।

सं—विकृति याम में सामधेन्यियों की सप्तदश संख्या का

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥ ६ ॥

पं० क्र०—(तु) शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये है (विरोधि) सामधेनियों की पचंदश संख्या की प्रति द्वन्द्वी सप्तदश संख्या (विकृतौ) विकृत यज्ञ में(स्यात्) विहित है न कि प्रकृति याग में (प्रकरण विशेषात्) उस में पंच दश संख्या आती है।

भ०—प्रकृति याग में पंच दश तथा सप्त दश दोनों प्रकार की संख्या का निवेश है तो यह शंका रहेगी कि पंचदश अथवा सप्तदश कौनसी ठीक संख्या है इसलिये प्रत्यक्ष प्राप्त सप्तदश सामधेनियों को छोड़कर जो पंचदश अनुमानिक पंचदश सामधेनियों को ही आदर दिया जा सकता है। अतः सप्तदश सामधेनों को जो उक्त विकृति याग के लिये हैं विकृति के लिये नहीं।

सं०—सामधेनियों के सप्तदश नैमित्तिक सप्तदश नैमित्तिक प्रकृति विधान निरूपण करते है।

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगाविशेषात् ॥१०॥

प० क्र०—(तु)सिद्धान्त सूचनार्थ प्रयोग हुआ है। (नैमित्तिकं) वैश्य निमित्तक विहित सप्तदश सामधेनियों का (प्रकृतौ) प्रकृति याग में होने से वह सप्तदश सामधेनियें (संयोग विशेषात्) वाक्य विशेष से विहित होने के कारण (तद्विकारः) पूर्व विहित पंच दश सामधेनियों का बाधक है।

भा०—सप्तदश सामधेनियां जो वैश्य के निमित्त विहित कही गई ३ वह प्रकृति याग पठित है उन में यजमान

वैश्य होने से वैश्य निमित्तक सप्तदश सामधेनियों की विधि पाई जा सकती है कारण कि पूर्व विहित पंच दश सामधेनियां सामान्य होने से नैमित्तिक सामधेनियों की प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं है। अतः सिद्ध है कि वैश्य के निमित्तक जो सप्तदश सामधेनियां विहित हैं. उनका विकृत याग में निवेश नहीं किन्तु प्रकृति मे ही निवेश मिलता है।

सं०—अब अग्न्या धान को 'पवमान' आदि इष्टियों का अंग न होना प्रमाणित करते है।

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—(अग्नाधेयं) अग्नाधान (इष्ट्यर्थं) पवमान आदि इष्टियों का अंग है क्योंकि (प्रकरणात्) उनके प्रकरण में उसका विधान होने से।

भा०—"अग्नये पवमाना याष्टा कपालं निर्वपेत' आदि विधि वाक्यों में जो पुरोडाश प्रदान का विधान है उसका यह सारांश है कि जिसके लिये जो होता है वह उसका अनिवार्यतः अंग होता है। अग्न्याधान का आहवनीय आदि अग्नियों के लिये और उन अग्नियों का इष्टियों के लिये होना ठीक है इस लिये कि उनका साक्षात् सम्बन्ध के समान परम्परा सम्बन्ध है अग्न्याधान का पवमान संज्ञक इष्टियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होते हुये भी आहवनीय आदि से परम्परा योग है अतः यह सिद्ध है कि पवमान इष्टियां जो अग्न्याधान में विहित हैं वह उन इष्टियां का अंग है।

सं०—अब पूर्वपक्ष करते हैं।

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ प्रयोग है (न) कहना ठीक नहीं क्योंकि (तासां) वे इष्टियां (तदर्थत्वात्) आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार के लिये विधान की गई हैं।

भा०—अग्न्याधान और पवमान इष्टि में दोनों आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार वतलाये गये हैं न कि एक दूसरे के लिये विहित हैं और जो उपधान का विधान उस प्रकरण में है वह दोनों अग्नि संस्कार के प्रयोजन से है न कि अंगागी भाव से। यदि अग्न्याधान को उन इष्टियों का अंग मानें तो वे फलवाली भी मानी जावेगीं। परन्तु वे फल हीन हैं अतः पवमान आदि नाम वाली इष्टियों में जो अग्न्याधान विधान किया गया है वह उनका अंग ही है।

सं०—अब इसमें लक्षण प्रमाणित करते हैं।

लिंगदर्शनाच्च ॥ १३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) उसके लक्षण मिलने से भी अर्थ की प्रामाणिकता है।

भा०—जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदे तान्येव अथवा धेयस्य हवींषि संवत्सरे निर्णयेत तेन वा एषन जीर्य्यति, तेनैनं पुननर्नवं करोति" इस वाक्य में यह कहा गया है कि स्नान न करने से शरीर जीर्ण होता है अतः प्रति दिन प्रातः स्नान करे उसी प्रकार अग्नि

का संस्कार धर्म (अग्नि होत्र) भी कर्त्तव्य है अर्थात् गर्भाधान की भांति अग्न्याधान संस्कार भी कर्त्तव्य ही है। दोनों संस्कार कर्म होने से एक दूसरे का अंग है। अतएव अग्न्याधान उन इष्टियों का अंग नहीं कहा जा सकता। किन्तु दोनों आह्वनीय अग्नि निमित्त ही हैं यही मानना समुचित है।

सं०—अग्न्याधान को विकृति तथा प्रकृति सब वैदिक कर्मों का अंग बतलाने को पूर्वपक्ष करते हैं।

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ॥ १४ ॥

प० क्र०—(यथा) जिस प्रकार (अनारभ्यवादाः) अप्रकरण पठित आदि वाक्य विहित बताये गये हैं (अन्ये) खादिरत्वादि धर्म प्रकृति याग के लिये है उसी प्रकार (तत्) अग्न्याधान भी (प्रकृत्यर्थं) प्रकृति याग निमित्त है।

भा०—अप्रकरण पठित होने के कारण खादिरत्वादि समान अग्न्याधान केवल प्रकृति याग के लिये है अतः आधानकृत अग्नि में केवल प्रकृति नाम वाले याग ही विहित कर्त्तव्य हैं विकृति संज्ञा वाले कर्तव्य नहीं अर्थात् *अग्न्याधान केवल प्रकृतिः याग का अंग है* प्रकृति अथवा विकृति में से दोनों का नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥ १५ ॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये आया है (सर्वार्थं) अग्न्याधान प्रकृति विकृति दोनों कर्मों

के निमित्त है (आधानस्य) वह (स्वकालत्वात्) उसका समय नियत है।

भा०—अग्न्याधान कर्म प्रत्यक्ष किसी वैदिक कर्म का अंग नहीं किन्तु आहवनीय आदि अग्नियों से होता है और वे अग्नियां प्रकृत्ति और विकृति सब प्रकार के कर्मों में हैं क्योंकि कोई वैदिक कर्म उनके विना शास्त्रोक्त फल नहीं दे सकता। अतः उनके होते हुए संस्कार का आधान सब स्थानों में होना चाहिये सर्वत्र विद्यमान का संकोच प्रमाण रहित होने से अग्न्याधान कर्म अग्नियों द्वारा प्रकृति तथा विकृति दोनों कर्मों के अंग हैं न कि केवल प्रकृति कर्म का।

सं०—यजमान इष्टि में असिद्ध अग्नि में कर्त्तव्यता निरूपण करते हैं।

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत्स्यात् ॥१६॥

प० क्र०—(प्रयाजवत्) जिस प्रकार प्रयाज नामक होम (प्रकृतितः) 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ से होने वाले 'आहवनीय' आदि सिद्ध अग्नि में होते हैं उसी भाँति (तासां) 'पवमान' इष्टियों भी (अग्निः) उस सिद्धाग्नि में ही (स्यात्) होनी समीचीन है।

भा०—जिस भाँति प्रथम 'अग्न्याधान' पश्चात् आधान की गई 'आहवनीय' आदि से पावमान आदि इष्टियों से संस्कार उसके पश्चात् 'दर्श पूर्ण मास' आदि प्रधान इष्टियों में विनियोजित उन सिद्धाग्नियों में प्रयाज आदि अंग इष्टियाँ की जाती हैं उसी भाँति पवमान इष्टियाँ भी 'दर्शपूर्णमास' आदि प्रधान इष्टियों में विनियोग की हुई हैं और उसी सिद्धाग्नि

में कर्त्तव्य हैं कारण कि इष्टित्व धर्म के सदृश होने पर अग्नि की विषमता बिना किसी पुष्ट प्रमाण के मानने योग्य नहीं अतएव वह इष्टियाँ सिद्धाग्नि में ही करनी ठीक हैं 'असिद्धाग्नि में' नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष करते हैं।

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के दूर करने को प्रयोग किया गया है (न) वह वक्तव्य ठीक नहीं क्योंकि (तासां) 'पवमान' इष्टियाँ (तदर्थत्वात्) अग्नि संस्कारार्थ विहित बतलाई हैं।

भा०—प्रयाज' दर्शपूर्णमास' का अंग है वह अंगी यज्ञ सिद्धाग्नि द्वारा ही हो सकती है परन्तु पवमान इष्टियाँ उस यज्ञ का अंग नहीं इसलिये प्रयाज समान प्रकृति याग द्वारा सिद्धाग्नि नहीं कही जा सकतीं कारण कि 'पवमान' इष्टियाँ होने से 'अग्नि' संस्कृत और संस्कृत अग्नि का प्रकृति यज्ञ में विनियोग पाये जाने से उसके प्रेरक वाक्य से ही वह इष्टियाँ प्राप्त होनी असम्भव हैं परन्तु अप्राप्ति के कारण वह अग्नियों से अकर्त्तव्य हैं और असिद्धाग्नि का मिलना कठिन नहीं परन्तु होने से वह ठीक ठीक हो जाती हैं अतः यह सिद्ध हुआ कि 'पवमान' इष्टियाँ सिद्ध लौकिक अग्नियों से होनी समीचीन हैं 'आहवनीय' आदि सिद्धाग्नियों से नहीं।

सं०—'उपाकरण' आदि को अग्नीदोषीय पशु का धर्म प्रमाणित करने के लिये पूर्व पक्ष करते हैं।

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥

प० क्र०—(पशु विधिः) पशु-उद्देश्य से विहित उपाकरण आदि विधियाँ अथवा धर्म (सर्वेषां) सब अग्निषोमीय पशुओं के (तुल्यः) सदृश हैं क्योंकि (प्रकरणा विशेषात्) प्रकरण से सब पशुओं से समान सम्बन्ध मिलता है।

भा०—यदि उक्त धर्म अग्निषोमीय आदि के बीच किसी एक पशु के प्रकरण में विधान किये गये होते तो उनका किसी एक में विधान माननीय था परन्तु ऐसा विधान नहीं होने से और साधारण रूप से विहित कहे जाने पर धर्म का विशेष पशु व्यक्ति में कल्पना करना ठीक नहीं अतः ज्योतिष्टोम में जो उपाकरण आदि पशु धर्म कहे गये हैं वह अग्निषोमीय इत्यादि सब पशुओं के विधान किये हैं उसके पर्य्यवसान में किसी एक के नहीं।*

* ज्योतिष्टोम यज्ञ में तीन पशुओं का दान होता है उनके क्रमशः अग्निषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य नाम हैं जो 'औपवस्थ्य दिन किया जाता है वह अग्निसोमीय, सौत्य संज्ञक दिन प्रदत्त सवनीय और 'अवभृथ' संज्ञक इष्टि के पश्चात् दिया हुआ पशु अनुबन्ध्य कहलाता है। इसमें यज्ञ के आरंभ दिन को 'औपवस्थ्य' सोम कूट कर निकालने वाले दिन को 'सौत्य' और 'अवभृथ' संज्ञक स्नान के पश्चात् अंगभूत इष्टि को 'अवभृथ' कहते हैं। और 'इमं पशु' और प्रजापतेर्जायमानः इस मन्त्र से पशु स्पर्श को उपाकरण कहते हैं यहाँ पर मिट्टी और शक्कर मिली वेदी बनाई जाती है वह धिष्ण्य कहलाती है और यज्ञशाला को आग्नध्रि कहते हैं।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष करते हैं।

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१६॥

प० क्र०—(च) एव 'तु' शब्दार्थ में आने से पूर्वपक्ष का द्योतन् करता है (पूर्वस्य) वह धर्म अग्नीषोमीय के हैं क्योंकि (स्थानात्) उनकी सन्निधि में पाठ होने से।

भा०—अपनी सन्निधि में विहित कर्म उसी का विधान करता है न कि अन्य का। उपाकरणादि धर्म 'अग्नीषोमीय' आदि सब पशु सन्निधि में विधान किये जाने से वह सब के धर्म हैं परन्तु प्रथम पशु की सन्निधि में विधान किये जाने से तथा दिनों के तथा स्थानों के मूढ़ से उसी दिन उनके दान का विधान है। अतः दोनों का स्थान एक होने से वह धर्म आदि सब पशुओं में होते तो अग्नीषोमीय पशु सन्निधि में विधान न किये जाते। परन्तु किये जाने से अनुमान है कि वह उसी के हैं सब के नहीं।

सं०—तृतीय पूर्वपक्ष किया जाता है।

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्थो ॥२०॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष सूचना दी है (श्वः) वह धर्म सवनीय पशु के हैं (एकेषां) शाखान्तर उनका सम्बन्ध होने से (तत्र) उन धर्मों का (प्राक श्रुतिः) जो सौत्य दिवस से पूर्व प्रथम औपवस्थ्य दिवस में श्रवण है (गुणार्थो) वह गौण है।

भा०—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपा करोति' वाक्य में उपाकरण बतलाया।

गया है इसमें सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार बत-
लाया है अर्थात् सौत्य दिन औपवस्थ्य दिवस के
अति निकट होने से उससे प्रदेय सवनीय पशु की
भी समीपता है इसी समीपता से औपवस्थ्य दिन में
उस कार्य का विधान है नकि अग्नीसोमीय पशु के
प्रयोजन से । अतः वह धर्म सवनीय पशु के ही हैं
अग्नीसोमीय के नहीं ।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं ।

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥२१॥

प० क्र०—(तेन) आश्विन वाक्य में (उत्कृष्टस्य) उत्तर कृत्य सवनीय पशु के (कालविधिः) अनुष्ठान विहित है (चेत) यदि (इति) ऐसा कथन समीचीन नहीं ।

भा०—"आश्विनं ग्रहं ग्रहीत्वा" इसमें सवनीय पशु का उपाकरण का विधान नहीं मिलता किन्तु उसमें उसका अनुष्ठान समय बतलाया है और सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार आश्विन ग्रहण के पश्चात् होना ठीक है क्योंकि यदि उसमें काल विधान न अभिप्रेत होता तो 'क्त्वा' प्रत्यय प्रयोग न होगा अतः स्पष्ट है यह वाक्य काल विधायक है ।

सं०—पुनः आशंका करते हैं ।

नैकदेशत्वात् ॥२२॥

प० क्र०—(न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं कारण कि (एकदेशत्वात्) एक देशीय विधान से समुदाय को विहित बतलाया है ।

भा०—'आश्विन' वाक्य में उपाकरण आदि संस्कारों के एक देशीय उपाकरण मात्र का ग्रहण है और इसी कारण सपूर्ण संस्कारों का ग्रहण सिद्ध है ऐसी दशा में वह वाक्य काल विधायक नहीं रहता और उसमें वाक्य भेद दोष भी आता है परन्तु दो अर्थों का विधायक मानने से वह दोष नहीं रहता क्योंकि एक वाक्य एक ही व्यापार के दो अर्थ का विधायक हो सकता है परन्तु अनुवादक और विधायक नहीं हो सकता है इस लिये सब संस्कार सवनीय पशु के विधान किये गये हैं अग्नीषोमीय के नहीं हैं ।

सं०—पुनः आशंका करते है ।

अर्थेनेति चेत् ॥ २३ ॥

प० क्र०—(अर्थेन) सब का अर्थ से ग्रहण होने से न कि साक्षात् (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ।

भा०—एक देश के ग्रहण से समुदाय ग्रहण होते हुये भी समुदाय विधान का लाभ नहीं परन्तु एक देशानुवाद से समुदायानुवाद होना सम्भव है एवं अनुवाद पक्ष में वाक्य भेद दोष कथन भी ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुवादक पूर्वक समय का विधान समीचीन है अतः आश्विन वाक्य पूर्व विधान किये उपकरण आदि संस्कारों के अनुवादक हैं सवनीय पशु के धर्म उपाकरण आदि के विधायक नहीं ।

सं०—आशंका का परिहार करते हैं ।

अनु तिविप्रति षेधात् ॥ २४ ॥

प० क्र० (न) वह कथन समीचीन नहीं कारण कि (श्रुतिविप्रतिपेधात्) ऐसा मानना साक्षात् श्रुति का विरोधक है।

भा०—श्रुता श्रुतयोः श्रुत वलीप श्रुत तथा अश्रुत दोनों में श्रुत वलवान माना गया है सवनीय पशु में उपाकरण आदि धर्म श्रुत हैं उनको न लेकर प्रेरणा वाचक वाक्य से प्राप्त अश्रुत का ग्रहण करना अनुचित है अतएव ज्योति ष्टोम याग में उपाकरणादि पशु धर्म विधान किये हुये अग्निपोमीय विधान के न होते हुये सवनीय पशुके ही मानने चाहिये।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष का निराकरण करता है (पूर्वस्य) वह धर्म अग्निपोमीय पशु के विधान किये हैं क्यों कि (स्थनात्) सन्निधि प्रमाणे ऐसा ही है और (संस्कारस्य) संस्कार मात्र को (तदर्थत्वात्) अग्निषोमीय पशु के लिये होने से उक्त अर्थ की सिद्ध होती है।

भा०—उपाकरणादि पशु संस्कार जो वतलाये गये हैं वह पशु उद्देश्य हैं न कि यज्ञोद्देश्य से (सव पशुओं में अग्निषोमीय पशु ही मूल और पूर्व है अतएव उनका अगनी षोयीय के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध और सवनीय के साथ अति देशिक सम्बन्ध है।

सं०—उक्तार्थ में लिङ्ग कहते हैं।

लिङ्ग दर्शनाच्च ॥ २६ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्ग दर्शनात्) प्रमाण चिन्ह से भी उक्त अर्थ की सिद्धि है ।

भा०—'अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति' विधान करके 'पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने' माध्यन्दिन में पुरोडाश से हवन बतलाया है इस से पाया जाता है कि वहां पुरोमशानुवाद पूर्वक मध्यन्दिने काल विधान किया है वही उक्तार्थ में लिङ्ग है ।

अतएव मानना चाहिये कि अग्निष्टोम में उपाकरणादि धर्म का विधान अग्निषोमीय निमित्तक है सवनीयादिक नहीं क्योंकि उन में उनका आदि देश से सम्बन्ध है ।

सं०—'अश्विनं' और "पुरोडाशेन" उभय वाक्य अर्थवाद हैं काल विधायक के नहीं इसका उत्तर—

अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

प० क्र०—(गुणार्थेन) दोनों वाक्य को अर्थवादत्व होने से (अचोदना) काल लाभ नहीं कहा जा सकता ।

भा०—ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में उपाकरण पर्य्याग्निकरण आदि धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये हैं उनमें उनका अनुष्ठान विधि बल से है और 'सवनीय' और अनुबन्ध पशु में प्रेरक वाक्य से अतिदेश से है तीनों में विधि बल, द्वारा नहीं ।

सं०—'शाखा हरण' को सायं प्रातः दोनों 'दोहों' का धर्म बतलाते हैं ।

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥२८॥

प० क्र०—(श्रुतं) दर्शपौर्णमास याग में सुने गये शाखा-हरण' आदि (दोहयोः) सायं प्रातः दोनों समय दूध दुहने के (असंयुक्तं) धर्म नहीं क्यों कि (काल भेदात्) उनके काल का भेद है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ प्रकरण में पढ़े गये उपाकरणादि धर्मों का अग्नीषोमीय पशु के साथ सम्बन्ध है न कि सवनीय और अनुबन्ध पशु के साथ। उसी प्रकार दर्श पूर्णमास यज्ञ मे पठित होते हुए भी समीपता प्रमाण बल द्वारा दूध दुहने रूप धर्म का सायं के साथ ही सम्बन्ध है न कि प्रात. दोहन का भी। अत एव दर्शपूर्ण याग प्रकरण में जो शाखा हरण आदि दोह धर्म हैं वह सायंकाल दूध दुहने रूप के ही हैं न कि दोनों समयों के। क्योंकि दर्शपूर्ण मास में दही और दूध से जो हविः बनता है उस के लिये दो बार गौयें दुही जाती है।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान यह है।

प्रकरणाविभागाद्वातत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥ २९ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (कालशास्त्रं) दूध दुहने का विधान करने वाला शास्त्र (तत्संयुक्तस्य) सायं प्रातः दोनों समय का विधायक न कि सायंकाल दोहन का क्योंकि (प्रकरणा विभागात्) प्रकरण से दोनों का सम्बन्ध है।

भा०—'ऐन्द्रं दध्य मावास्यायाम् ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम् ।' इस करके दधि दूध की आहुति अमावस्या को दी जाती है और इसी से सायं प्रातः गो दोहन और शाखाहरण आदि दोह धर्म विधान किये गये हैं अर्थात् विधायक वाक्यों का स्थान एक ही है और प्रकरण भी एक है अतः उक्त प्रकरण तथा स्थान में बतलाये गये सब एक ही परस्पर एक से होंगे अतः सायं प्रातः ही दोहन कृत्य माना जा सकता है।

तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

प० क्र०—(तद्वत्) दूध दुहने के धर्म समान (ग्रहाम्नानं) ग्रह धर्मानुष्ठान (सवनान्तरे) प्रातः सवन के पश्चात् मध्यन्दिन तथा सायं सवन में होता है।

भा०—शाखाहरण आदि दोहन धर्म सायं प्रातः दोनों दोहने के ही धर्म हैं और उन दोनों का समान रूप से अनुष्ठान होता है उसी प्रकार सम्मार्जन आदि भी ग्रहमात्र के साधारण धर्म हैं उनका भी सामान्य रूप से तीनों ही सवनों में अनुष्ठान उचित है।

सं०—'रशनावेष्टन' (रस्सी लपेटना) आदि धर्मों का अग्नीषोमीय आदि तीन पशुओं में अनुष्ठान कहते हैं।

रशना च लिंगदर्शनात् ॥३१॥

प० क्र०—(च) और (रशना) रशनवेष्ठनादि भी अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के धर्म हैं क्योंकि (लिंगदर्शनात्) लक्षणों से ऐसा ही प्रतीत होता है।

भा०—"परि व्ययति गुर्वैरशना" जिसमें "त्रिवृद् भवति" तीन बल दिये जावें और वह दर्भमयी भवति" दाम

की होना चाहिये परन्तु यह पशु धर्म के लिये नहीं है किन्तु यूप आदि के धर्म हैं और यूप आदि तीनों पशुओं में तुल्य हैं और समान होने से उससे रसना वेष्टन का सम्बन्ध है तथा "त्रिवृता यूपं परिवीयाऽग्नेयं सवनीयं पशु मुपाकरोति" सवनीय पशु के पास यूप को तीन बल की रस्सी से लपेटे यह कथन अग्नीषामीय आदि तीनों पशुओं में उस धर्म के अनुष्ठान का सूचक लक्षण है अतः वह धर्म यूपादि के द्वारा अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के हैं केवल अग्नीषोमीय के नहीं है।

सं०—'सम्मार्जन' को अंशु तथा 'अदाम्य' नामक ग्रहों का धर्म बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥३२॥

प० क्र०—(अरात्) प्रकरण से परे (शिष्टं) कथन होने से 'अंशु' और 'अदाम्य' उभय पात्रों का (इतरैः) ऐन्द्रवायवादि ग्रह धर्मों के साथ (असंयुक्त) सम्बन्ध नहीं क्योंकि (असन्निधानात्) ग्रह धर्मों का उसके समीप विधान नहीं मिलता।

भा०—दशा पवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि "आदि वाक्यों में सम्मार्जन आदि ग्रह धर्म बतलाये गये हैं वह अप्रकरण पठित हैं परन्तु अंशु और अदाम्य दोनों पात्रों के धर्म हैं अथवा नहीं। अर्थात अंशु और अदाम्य की सन्निधि में विधान न किये जाकर सम्मार्जन आदि धर्म 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों की सन्निधि में कहे गये हैं और जोनि की सन्निधि में हो वह उसका

धर्म कहा जाता है इसलिये "अंशु" और 'अदाभ्य' दोनों ग्रह 'ऐन्द्र वायव' की भांति प्रकरण में पढ़े गये होते तो सम्मार्जन भी इनके धर्म होते परन्तु दोनों प्रकरण बाहर हैं अतः उक्त याग में पठित सम्मार्जन आदि ग्रह धर्म 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों के धर्म हैं न कि अप्रकरण पठित अंशु अथवा अदाम्य के माने जावेंगे।

सं०—पूर्व पक्ष द्वारा समाधान करते हैं।

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२३॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को है (संयुक्तं) सम्मार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों के साथ सम्बन्ध है क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह ग्रह मात्र के लिये विहित हैं और (शेषस्य) ग्रह धर्मों का (तन्निमित्तत्वात्) ग्रह मात्रोद्देश्य से विधान योग्य हैं।

भा०—सम्मार्जन आदि धर्मों का सम्बन्ध ज्योतिष्टोम याग के साथ है परन्तु वह उसके साथ ग्रहों द्वारा ही होता है साक्षात् नहीं जिस प्रकार ग्रह जैसे 'ऐन्द्रवायव' आदि उस याग के सम्बन्धी हैं उसी प्रकार 'अंशु' और 'अदाम्य' भी सम्बन्धी हैं इनमें एक के द्वारा सम्बन्ध और दूसरे से असम्बन्ध की आशंका विना बल उदाहरण के नहीं होती अतः उस याग मे सम्मार्जन आदि ग्रह धर्म बतलाये गये हैं वह 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों के समान 'अंशु' और 'अदाभ्य' ग्रह के भी हैं। ऐसा जानो।

सं०—उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(निर्देशात्) उक्त विहित वाक्यों द्वारा भी (व्यव-तिष्ठेत्) उक्त धर्मों का ग्रहमात्र से सम्बन्ध मिलता है।

भा०—यतः ग्रहमात्र से संज्ञक 'ग्रह' पद के प्रयोग से सम्मार्जन आदि धर्मों का विधान किया गया है। यदि ग्रहमात्र के वह धर्म न बतलाये जाते तो इस भांति उनका कदापि विधान न होता परन्तु ऐसा न होने से उक्त धर्म 'ऐन्द्र वायव' आदि के समान 'अंशु' और 'अदाभ्य' संज्ञक ग्रह के भी धर्म माने जावेंगे।

सं०—अखण्डत्वादि' वाक्य को अप्रकरण पठित 'चित्रिणी' आदि इष्टिकाओं (ईंटों) का धर्म बतलाते हैं।

अग्न्यंगमप्रकरणे तद्वत् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(तद्वत्) अप्रकरण पठित 'अंशु' और 'अदाभ्य' के सम्मार्जनधर्म होते हैं उसी प्रकार (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि ईंटों के भी (अग्न्यङ्ग) अग्नि चमन प्रकरण में पढ़े गये अखण्डत्वादि धर्म समझने चाहियें।

भा०—'अखण्डामकृष्णां कुर्यात्' तथा चित्रिणी' 'रूपदधाति' आदि से 'चित्रिणी' "वज्रिणी" 'अखण्ड' आदि कई प्रकार की ईंटों का विधान मिलता है। अग्नि चमन प्रकरण में चित्रिणी आदि संज्ञक ईंटों का विधान नहीं मिलता परन्तु उनका अग्निचमन सम्बन्ध से

उपयोग मिलता है क्योंकि इष्टिकाओं द्वारा ही अग्नि-चयन की जाती है और सम्बन्ध होने से उसका सम्बन्ध निर्विवाद प्राप्त है अतः अग्नि चयन प्रकरण में 'अखण्ड-त्वादि धर्म विधान चित्रिणी आदि ईंटों के धर्म समान हैं क्योंकि वह अग्नि चयन का अंग है।*

सं०—'अभिषव' आदि को सोम मात्र का धर्म कहते हैं।

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥

प० क्र०—(नैमित्तिकं) फलचमस में (असमान विधानं) सोम समान अभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं (स्यात्) हो सकता क्योंकि (अतुल्यत्वात्) वह सोम के समान नहीं है।

भा०—"सोमयभिषुणोति" 'सोम कीणातु' आदि द्वारा अभि-षव धर्म बतलाये हैं अर्थात् सोम नित्य होने से प्रकृति और फल चमस नैमित्तिक होने से उसकी विकृति है। प्रकृति पूर्व भावी विकृति पीछे होने वाली है परन्तु पूर्व कारण से सोम रूप प्रकृति सम्बन्ध को प्राप्त होने से वह धर्म आकांक्षा रहित हो जाता है और निराकांक्ष हो जाने से फल चमस रूप विकृति में सम्बन्ध में नहीं आता और धर्म सम्बन्ध न रहने से सम्बन्ध रहित होता है अतः अभिषव

*'अखण्ड' खांडे की, "चित्रिणी", सांचे की ढली, "वज्रिणी" पत्थर की छेनी आदि से काटकर बनाई हुई। पंजाब में खंडे की ईंट दिकलती है वह काली २ अच्छी नहीं किन्तु जल जाती है 'चित्रिणी' डिब्बी की और 'वज्रणी' पत्थर की बनती है।

आदि धर्म विहित वह सोम पात्र के हैं न कि फल चमस के माने जा सकते हैं।

सं०—'नीवार' आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में जौ आदि मुख्य द्रव्यों का 'अवधान' आदि धर्मों का अनुष्ठान बतलाते हैं।

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥

प० क्र०—(च) शब्द 'तु' स्थानीक होने से पूर्व पक्ष का द्योतक है (तद्वत्) नैमित्तिक 'फलचमस' अभिषव आदि धर्मवान नहीं उसी प्रकार (प्रतिनिधिः) नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी प्रोक्षण आदि धर्मवान नहीं।

भा०—जो धर्म जिसके निमित्त विहित नहीं माना गया उनका उसमें अनुष्ठान नहीं बनता। अतएव यज्ञ के साधक 'जौ' आदि मुख्य द्रव्यों के अवधान आदि धर्म का विधान होने से वह 'व्रीहि' आदि मुख्य द्रव्यों में ही कर्त्तव्य है न कि उसके प्रतिनिधि द्रव्य 'नीवार' आदि में भी करणीय है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥

प० क्र०—(तद्वत्) 'व्रीहि' आदि के समान नीवारादि के भी अवधात धर्म होते हैं क्योंकि (प्रयोजनैकत्वात्) दोनों याग सिद्ध तात्पर्य समान ही हैं।

भा०—'व्रीहिभिर्यजति' आदि वाक्य जिस प्रकार व्रीह्यादि मुख्य द्रव्य याग के साधन हैं उसी प्रकार नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी यज्ञ के साधक हैं क्योंकि जौ

(व्रीहि) शब्दों से उभय प्रकार के द्रव्यों का ग्रहण है अतः (व्राहीन्वन्ति) आदि वाक्य से अवघात धर्म विधान किया है उसी को नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों से भी अनुष्ठान कर्त्तव्य है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

अर्थलक्षणत्वाच्च ॥३९॥

प० क्र०—(च) और (अर्थलक्षणत्वात्) अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ की प्रमाणिकता है।

भा०—'व्रीहिभिर्यजेत' आदि वाक्यों द्वारा व्रीहि आदि के समान 'नीवार' आदि को भी यज्ञ में साधन सिद्ध माना है क्योंकि अवघात आदि बिना याग के साधन नहीं बन सकते और जिसके बिना जो यज्ञ साधन नहीं हो सकते उसमें उसका अनुष्ठान मान लेने में दोष नहीं अतः व्रीहि के समान नीवार आदि प्रति निधि द्रव्यों में भी अवघातादि अवश्य ही होने चाहिये।

सं०—प्रतिनिधि बतलाने वाली श्रुतियों का नियम बतलाते हैं।

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

प० क्र०—(गुणश्रुतिः) प्रतिनिधि की विधान वाली श्रुतियाँ (नियमार्था) उक्त नियम के निमित्त हैं।

भा०—"यदि सोम न विन्देत पूती कानभि षुणुयात्" आदि वाक्य से यही तात्पर्य है कि जहाँ व्रीहि आदिकों में प्रतिनिधि द्रव्यों का विधान न मिलता हो वहाँ

सर्वत्र उसके समान बलाश्रित नीवार आदि द्रव्यों को प्रतिनिधि मान लें और जहां 'सोमादि' न मिलते हों पूती आदि का विधान समझना चाहिये अर्थात् वहाँ सर्वत्र नियम से विहित प्रतिनिधि द्रव्यों का ही ग्रहण है।

सं०—अब 'दीक्षणीय' आदि को अग्निष्टोम याग का अंग बतलाते हैं।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणविशेषात् ॥४१॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष का सूचक है (संस्था) सात यज्ञों के (समान विधानः) दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अंग हैं क्योंकि (प्रकरण विशेषात्) सब का एक ही प्रकरण है।

भा०–अग्निष्टोम यज्ञ की सात संस्था हैं अर्थात् जब "यज्ञायज्ञिय स्तोत्र समाप्ति पूर्वक ज्योतिष्टोम होता है तो वह 'अग्निष्टोम' संज्ञक और उकथ्य स्तोत्र समाप्ति पूर्वक करे 'उकथ्य' तदुपरान्त "षोड़शी स्तोत्र की समाप्ति पूर्वक को "षोड़शी" और अति रात्र कहते हैं। उसी भांति ज्योतिष्टोम के एक होते हुए भी स्तोत्र समाप्ति पूर्वक भेद से उस संस्था के चार भेद हो जाते हैं इन में अग्निष्टोम प्रकृति और 'उकथ्य' आदि उसकी विकृति हैं उस चारों संस्था वाले ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित 'दीक्षणीय' और 'प्रायणीय' आदि संज्ञक अंग इष्टियां भी बतलाई हैं इससे यह भाव निकला कि उक्त याग प्रकरण में दीक्षणीय आदि इष्टियां जो बतलाई गई हैं वह चारों संस्थाओं

के अंग है केवल 'अग्निष्टोम' संस्था का ही अंग नहीं मान लेना चाहिये।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(च) और (तुल्यवत्) समान रूप से (व्यपदेशः) सब संस्थाओं का उक्त यज्ञ के प्रकरण में कथन है।

भा०—'यद्यग्निष्टोमो जुहोति यद्युकथ्यस्ते नैव शेषेण परिधि मनक्ति' आदि वाक्य अग्निष्टोम आदि संस्थाओं के समान रूप कथन करने वाले हैं। अतः स्पष्ट है कि वे चारों संस्था में प्रत्येक विषय में समान हैं उनमें अंगों का विधान भी समान से होना आवश्यक है अतः दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अग्निष्टोम आदि चारों संस्थाओं का अंग मानना ठीक है न कि केवल अग्निष्टोम का ही अंग मान लिया जावे।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

प० क्र०—'तु' पूर्वपक्ष के दूर करने को आया है (विकाराः) उकथ्य आदि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं क्योंकि (काम संयोग) पशु आदि फल की काम सम्बन्ध से विधान मिलता है अतः (नित्यस्य) नित्य अग्निष्टोम संस्था के (समत्वात्) एक बराबर होने पर भी उनमें दीक्षणीय आदि को अंग रूप विधान नहीं किया गया ऐसा समझना चाहिये।

भा०—पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, षोडशिना वीर्यकाम-स्तुवीत अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, "वाक्य से संस्था विधान मिलता है उन से उनका विकार भी सिद्ध होता है क्योंकि काम्योगुण श्रूयमाणो नित्यमर्थं विकृत्य निविशते" का यही अर्थ है कि काम्यफल के योग से नित्य भी विकार वान हो जाता है विकार होने से वह प्रकृति वद् विकृति कर्त्तव्या" के अनुसार प्रकृति के ही अनुकूल विकृति करणीय है अर्थात ज्योतिष्टोम की मुख्य संस्था अग्निष्टोम ही है सब उसी के भीतर हैं वह केवल कामाफला सम्बन्धने से पृथक पृथक कही गई हैं इस लिये 'दीक्षणीय' प्रायणीय' आदि विहित इष्टियां प्रकृतिभूत अग्निष्टोम की संस्था का अंग है विकृति भूत 'उक्थ्यादि' का नहीं।

सं०—अब "व्ययदेशश्चतुल्यवत' सूत्र में कथिते युक्ति का समाधान किया जाता है।

अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥

वचनात्तु समुच्चयः॥ ४५ ॥

प० क्र०—'तु' व्यावृति निमित्त प्रयोग है। (वचनात्) "यद्यग्निष्टोम" आदि वचनों से (समुच्चयः) अग्निष्टोम एवं उकथ्य आदि का परस्पर प्रकृति विकार भाव रूप सकलन मिलता है समान विधान नहीं पाया जाता।

भा०—'यद्यग्निष्टोम जुहोति' यद्युकथ्य" से अग्निष्टोम संस्था का संकलन मात्र मिलता है न कि समान रूप

से अंग विधान बतलाया है यह समुच्चय अथवा सकलन प्रकृति अथवा विकृति दोनों प्रकार से मिलता है अतः उकथ्य आदि में दीक्षणीय अंगों के मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि दीक्षणीय आदि इष्टियां अग्निष्टोम का अंग है उकथ्य आदि की नहीं हो सकतीं।

सं०—उक्तार्थ में युक्ति देते हैं।

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिंगानाम् ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(च) और (पूर्वलिङ्गाना) पूर्व करणीय हवनों का (प्रतिपेधात्) 'उकथ्य' आदि में निपेध मिलने से भी वह अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

भा०—यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यदि उकथ्यः परिधिमनक्तिम जुहोति इस में जो उकथ्य आदि में हवन का निपेध मिलता है अतः उक्तथ्य आदि तीनों अग्निष्टोम की विकृति और अग्निष्टोम की प्रकृति है अतः दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अग्निष्टोम का अंग कही गई है उकथ्य आदि की नहीं।

सं०—ज्योतिष्टोम याग एक है उसकी सात संस्था किस प्रकार हो सकती हैं।

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४७॥

प० क्र०—(गुण विशेपात्) स्तोत्रादि रूप गुण विशेष के भेद से (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम के (व्यपदेशः) सात संस्थाओं द्वारा वर्णन है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में सब से पूर्व 'यज्ञायज्ञिय' स्तोत्र पाठ किया जाता है और जहां इसकी समाप्ति है वहीं तक ज्योतिष्टोम यज्ञ है परन्तु यह ज्योतिष्टोम जहां २ होगा अग्निष्टोम अवश्य होगा क्योंकि उकथ्यादि संस्थाओं में चलता है। परन्तु उकथ्य आदि संस्थायें ऐसी नहीं जो सर्वत्र अनुमत हों अतः सम्पूर्ण अधिकरण का यही तात्पर्य है कि ज्योतिष्टोम की अग्निष्टोम संस्था में दीक्षणीय आदि इष्टियों का अंग रूप से विधान मिलता है और उकथ्य आदि में उनका अतिदेश प्रेरणा संज्ञक वाक्य द्वारा प्राप्त होती है।

इति श्री० पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये तृतीयाध्याये षष्ठः पादः समाप्तः।

अथ तृतीयाध्याये सप्तमः पादः प्रारभ्यते।

सं०—वेदि और 'वर्हि' इत्यादि एवं उनके धर्मों को अंग सहित दर्शपूर्ण मास यज्ञ के धर्म वतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥

प० क्र०—(प्रधानस्य) 'वेदि' आदि प्रधान यज्ञ के धर्म हैं न कि अंगों के कारण कि (प्रकरण विशेषात्) प्रकरण की विशेषता से (असंयुक्तं) उनका अंगों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

भा०—जैसे कि दर्शपूर्णमास यज्ञ में "वेदिखनति" वेद्यां हवींषि आसादयति 'वर्हिलुनाति' वर्हिषि हवींषि आसादयति' आदि वाक्य पढ़े गये हैं वह द्रव्यों के आसादन रूप धर्म हैं अथवा प्रधान यज्ञ के हैं अतः जिस प्रकरण में वर्हि आदि का विधान है वह दर्शपूर्णमास रूप प्रधान यज्ञ का ही प्रकरण मानना होगा न कि उसके अंगों का। विशेष कर जबकि जो जिस प्रकरण में आया हो वह उसका धर्म होता है

ऐसा नियम भी है यदि वह अंग यागों के धर्म होते तो अवश्यमेव उस प्रकरण में विधान किये जाते परन्तु ऐसा नहीं है अतः उन्हें (वर्हि आदि) को प्रधान याग धर्म मानना ठीक है प्रधान तथा अंग दोनों का नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (सर्वेषां) वेदि आदिक प्रधान तथा अंग सब के धर्म है कारण कि (शेषस्य) धर्म धर्मि भाव का (अतत्प्रयुक्तत्वात्) नियम बाँधने वाला वाक्य है प्रकरण नहीं।

भा०—उन वाक्यों में कि 'वेदि' खनति आदि में वेदि का खोदना, जौ की लांक लाना और हविर्दान रखना इत्यादि धर्म प्रधान एवं अंग सर्व साधारण रीति पर विहित है इनमें ऐसा कोई पद नहीं है कि जिसके आश्रित यह कल्पना की जा सके कि वह धर्म प्रधान के हैं और अंगों के नहीं और प्रकरण कि जिसमें पढ़े गये हैं यद्यपि प्रधान यज्ञ के हैं तथापि शक्ति हीन होने से उनका विस्तार नहीं कर सकता।

सं०—अब इस अर्थ में शंका करते हैं।

आरादपीति चेत ॥ ३ ॥

प० क्र०—(आरात्) प्रधान यज्ञ के साथ पढ़े जाने से 'पिण्ड पितृ यज्ञ' के भी 'वेदि' आदि धर्म होगें (चेत्)

यदि (इति) ऐसा कहा जाता सके तो कथन उपयुक्त नहीं ।

भा०—जिस प्रकरण में "वेदि" आदि धर्म विहित कहे गये हैं जब उसका त्यागन कर वह अंगों के ही धर्म बन जाते हैं तब उन्हें पिण्ड पितृ यज्ञ का भी धर्म होना योग्य है क्योंकि अंगों के समान वह भी प्रधान यज्ञ की ही समीपता में पठित हैं ।

सं०—उक्त आशंका का निराकरण करते हैं ।

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—(न) ऐसा कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (तद्वाक्यं) वह वाक्य (तदर्थत्वात्) प्रधान एवं अंग दोनों के लिये 'वेदि' आदि का विधान है ।

भा०—दर्शपूर्ण मास याग प्रकरण में 'वेदि' और वेदि धर्म एवं 'वर्हि' और 'वर्हि धर्म' दोनों का विधान है यदि ऐसा न होता तो किसी के प्रकरण में विधान न किये जाते और प्रधान एवं उनके अंगों के समान वह पिण्ड 'पितृ यज्ञ' के भी धर्म माने जा सकते थे परन्तु वह इस प्रकार नहीं बतलाये अतः वह प्रधान अथवा अंगों को छोड़ कर अन्य के धर्म नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनका साधक प्रमाण नहीं है अतः वह प्रधान के हैं न कि 'पिण्ड पितृ यज्ञ' के अतः वह प्रधान और अंगों के ही धर्म हैं अन्य के नहीं ।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण करते हैं ।

लिंगदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिन्ह मिलने से भी उक्तार्थ प्रमाणित होता है।

पं० क्र०—"ध्रुवा मेवाग्रेऽभि घारयति ततो हि प्रथमा वाज्य भागौ यक्ष्यन् भवति" इसमें ध्रुवा नामक पात्र का अवधारण बतलाया है और तदुपरान्त 'आज्य भगा' नामक प्रधान आहुति का विधान है अतः जिस प्रकार अवधारणं दोनों अर्थो में आया है उसी प्रकार वेदि आदि भी दोनों ही अर्थों में हैं क्योंकि वे परस्वर समान हैं उनका दोनों में विषय रूप से सम्बन्ध होने से कोई निमित्त नहीं मिलता अतएव अवधारण के समान वेदि आदि प्रधान एवं अंग दोनों के धर्म हैं न कि प्रधान मात्र के ही कहे जा सकते हैं।

भा०—यजमान द्वारा 'वपन' आदि संस्कारों को प्रधान यज्ञ का अंग कहते हैं।

फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥ ६ ॥

प० क्र०—(तु) पूर्वाधिकरण से विभिन्नता सूचक है (स्वामियुक्तं) यजमान सम्बन्धी संस्कार कर्म (प्रधानस्य) प्रधान यज्ञ का अंग है क्योंकि (फल संयोगात्) वह फल वाले हैं।

भा०—जैसे यजमान संस्कार कर्म में "केशश्मश्रु वपते" एवं दन्तधावनादि धर्म कहे गये हैं इसमें यजमान के 'याग करना' और 'याग फल भोगना' दो संस्कारों के

आकार बनते हैं इन में एक मुख्य और दूसरा गौण है मुख्य कथा प्रधान दोनों पर्याय शब्द हैं दोनों आकारों में यदि आकार की अपेक्षा से यजमान के वह धर्म विहित माने जावें तो प्रधान और गौण दोनों के धर्म हो सकते हैं अर्थात् अग्नीषोमीय आदिक कर्म गौण हैं इसी प्रकार 'वपन' आदि संस्कार कर्म भी गौण हैं और उनका प्रधानकर्म के ही साथ सम्बन्ध होता है परस्पर नहीं अतः ज्योतिष्टोम में 'वपन' धर्म प्रकरण समान योग्यता बल से प्रधान कर्म हैं प्रधान तथा अंग दोनों के नहीं ।

सं०—'सौमि की' नामक वेदि को प्रधान एवं गौण दोनों कर्मों का अंग कहते हैं ।

चिकीर्षया च संयोगात् ॥ ७ ॥

प० क्र०—(च) तथा सौमिकी संज्ञक वेदि प्रधान कर्मांग है कारण कि (चिकीर्षया) इच्छा द्वारा (संयोगात्) उसका उसी से सम्बन्ध है ।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में "षट् विंशति प्रक्रमा प्राची चतुर्विंशति रग्रेण षट् त्रिंशत् जघनेन, इयति शक्ष्या महे" यहां 'इयति यक्ष्या महे' से यद्यपि प्रधान तथा अंग दोनों कर्मों की इच्छा पाई जाती है और फलोद्देश्य से केवल प्रधान कर्म की ही इच्छा पाई जाती है अंग कर्मों की नहीं क्योंकि वह फल वाले नहीं हैं अतः ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में जो सौमिकी वेदि का विधान है वह फलोद्देश्य से प्रधान कर्म का ही अंग

माननां चाहिये न कि प्रधान अथवा गौण दोनों का माना जा सकता है।

सं०—'अभिदर्शन' प्रधान एवं अंग दोनों प्रकरण के कर्मों का अंग है अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

तथाऽभिधानेन ॥ ८ ॥

० क्र०—(तथा) जिस भांति 'सौमिकी' प्रधान कर्माङ्ग है उसी भांति 'अभिमर्शन' भी प्रधान आहुति का अंग है क्योंकि (अभिधानेन) उसका कथन मिलता है।

भा०—दर्श पूर्णमास याग प्रकरण में 'चतुर्होत्रा पौर्णमासी मभिमृशेत् 'यंत्र होत्राऽमावस्याम्' वाक्य अमावस्या आहुति के अभिमर्शन के लिए विहित है अतः अभिम र्शन क्रिया का करने वाला पुरुष और पौर्णमासी एवं अमावस्या पद का वाच्य प्रधान आहुति कर्म है। यहाँ पर कर्त्ता का व्यापार अभिमर्शन और कर्म प्रधान आहुति देना स्पष्ट है अतः वह उसी का अंग है प्रधान तथा अंग दोनों आहुतियों का नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥९॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष का हटाने वाला है। (फल श्रुतिः) फल साधना के सुने जाने से (तद्युक्ते) अंग युक्त प्रधान मे पाये जाने से (तस्मात्) अतएव (सर्व चिकीर्षा) (इयति शब्दय महे आदि अंग एवं प्रधान सब की इच्छा) (स्यात्) है न कि प्रधान की है।

भा०—ऐहिक और लौकिक फल प्राप्ति रूप कथन पाये जाने से वह केवल प्रधान कर्म का नहीं किन्तु आगे सहित प्रधान का विवेचन है अर्थात् अंग और प्रधान कर्म दोनों का है और दोनों का कथन किये जाने से दोनों की चिकीर्षा मिलती है क्योंकि सुख और उसके साधन लोक शास्त्र से सिद्ध है जैसे सुख साधान प्रधान कर्म है इसी प्रकार अंग कर्म भी सुख साधन है वह दोनों बिना उस 'वेदि' के उक्त जनकत्व असंभव है अतः जो सौमिकी वेदी बनाई जाती है* वह प्रधान तथा अंग दोनों प्रकार के कर्मों का अंग है केवल प्रधान कर्म का नहीं।

सं०—इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमविधानम् ॥१०॥

प० क्र०—(अभिधाने) 'चतुर्होत्रा' आदि वाक्य में जो अभिमर्शन विधान पाया जाता है वह (सर्वार्थं) अंग तथा प्रधान दोनों के निमित्त है क्योंकि (गुणाभिधानात्) उनमें पौर्णमासी एवं अमावस्या पद से काल का प्रवर्चन मिलता है न कि आहुति का।

भा०—चतुर्होत्रा पौर्णमासी मभिमृशेत्' आदि वाक्यों में पौर्णमासी और अमावस्या पद के आगे द्वितीया विभक्ति

* छत्तीस डग लम्बी चौबीस डग तथा तीस डग आगे पीछे से चौड़ी वेदी में यज्ञ किया जाता था यह 'प्राचीन' वंशे नामक मण्डप में पूर्व दिशा में होने वाले 'सदः' और 'हविर्धान' आदि मण्डप विशेष युक्त भू भाग का नाम 'सौमिकी' वेदि कहलाता है। यहाँ सौमिकी अर्थात् सोम सम्बन्धी कृत्य होते हैं।

है वह सप्तमी विभक्ति के अर्थ में होने से आधार संज्ञक हैं कर्म संज्ञक नहीं क्योंकि पौर्णमासी काल और अमावस्या काल जिस प्रकार विधान आहुति का आधार है उसी भाँति अंग आहुतियों का भी आधार है अतः वह प्रधान तथा अंग दोनों आहुतियों का अंग है केवल प्रधान आहुतियों ही का नहीं कह सकते।

सं०—दीक्षा तथा दक्षिणा को प्रधान कर्म का अंग कहा है।

दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ॥११॥

प० क्र०—'तु' पूर्वाधिकरण से विभिन्नता सूचक प्रयोग है (दीक्षा दक्षिणं) दीक्षा तथा दक्षिणां (प्रधानस्य) प्रधान कर्म का अंग हैं कारण कि (वचनात्) वाक्य से इसी प्रकार प्रतीत होता है।

भा०—जोतिष्टोम में दण्डेन दीक्षयति "और यजमान दक्षिणा में तस्य द्वादश शत दक्षिणा' ज्योतिष्टोम की १२००) रु० दक्षिणा का विधान है पुनः दीक्षा सोमस्य तथा 'दक्षिणा सोमस्य' वाक्य भी इसी के द्योतक हैं इसमें सोम नामक प्रधान और अंग सब कर्मों का ग्रहण है परन्तु अंग कर्मों का यथार्थ ग्रहण नहीं। नाम की प्रवृत्ति प्रधान हेतुक सदैव होती है अंग नहीं ज्योतिष्टोम भी एक नाम ही है उसकी प्रवृत्ति का प्रधान हेतु कर्म ही होना ठीक है अतः उसके सम्बन्ध में विहित दीक्षादि भी उसी के धर्म होने चाहिये अतः उक्त प्रकरण में जो दीक्षा और दक्षिणा बतलाई गई है वह प्रधान कर्माङ्ग हैं और प्रधान तथा कर्म दोनों कर्मों का नहीं।

सं०—इसमें युक्ति यह है

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥

प० क्र०—(च) और (निवृत्ति दर्शनात) निरूढ़ पशु बन्ध* संज्ञक यज्ञ में दीक्षा की निवृत्ति से वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—अध्वर्य्यो यत्त पशुना अया क्षरि था कास्य दीक्षा यत् पड्ढोन्तर जुहोति साऽस्य दीक्षा" इसके उत्तर में पड़ होता कहा गया है और आहुति दी जाती है यही उसकी दीक्षा है यहाँ 'निरूढ़ पशु बन्ध संज्ञक यज्ञ बतला कर याग दीक्षा का प्रश्न करके पढ़ोता नामक मंत्रों से आहुति देना बतलाई है अतः अंग कर्म दीक्षा की निवृत्ति प्रतीत होती है यदि ऐसा न होता तो अंग याग में दीक्षा का प्रश्न न आता इसलिये ज्योतिष्टोम में दीक्षा और दक्षिणा विधान बतलाई जो प्रधान कर्म का अंग है केवल प्रधान और अंग का नहीं।

सं०—'वेदि, तथा यूप की अंगता अप्रमाणित करने को पूर्व पक्ष करते हैं।

तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥

प० क्र०—(तथा) वाक्य विशेप से दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म का अंग है उसी प्रकार (वेदिः) वेदि भी यूप का अंग है।

* जो पशु दिया जाता है उसके निमत्तभक्षप रूप घृताहुतिओं को निरूढ़ पशु कहते हैं।

भा०—अग्निषोमीय पशु याग में "वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत, यद्बहिर्वेदि, तदन वरुद्ध, स्यात् अर्द्धं यन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि अवरुद्धो भवतिन निर्दहति" इससे पता लगता है कि देने योग्य पशु के बांधने के लिये यूप (खंभा) गाड़ने के लिये वेदि के पास भूमि की माप लिखी है इसमें वेदि का यूप की अंगता के अभिप्राय से ग्रहण है अथवा भूमि यूप गाड़ने के लिये भूमि बतलाने का ग्रहण है इसका अर्थ यह हुआ कि दीक्षा और दक्षिणा वाक्य विशेष से प्रधान कर्म का अंग है उसी भाँति वेदि भी वाक्य से यूप का अंग सिद्ध करती है अतः वेदि भी यूप का अंग है क्योंकि यूप के गाड़ने के लिये भूमि के निमित्त वेदि का उपादान न किया जाता।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

देशमात्रं वा शिष्टेनैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के हटाने को आया है (देश मात्रे) अर्द्धं यन्त्र वेदि शब्द देश मात्र का उपलक्षण है कारण कि (अशिष्येण) उसकी अर्द्धं बहिर्वेदिः के साथ (एक वाक्यत्वात्) एक वाक्यता है।

भा०—दोनों वाक्यों की एकयता पाये जाने से वेदि का उपलक्षण होने से उसके द्वारा बतलाया बाहर के देश का भी बोध होता है जब देय पशु के लिये वेदि के समीप यूप गाड़ा जावे तो बाहर इतनी भूमि नाप ले कि जितना उसका नीचे का सिरा हो अतः दीक्षा

और दक्षिणा प्रधान कर्माङ्ग हैं उसी भाँति वेदि यूप का अंग नहीं किन्तु यूप गाड़ने के लिये अपने पास की वाहरी भूमि का उपलक्षण मात्र है।

सं०—हविर्धान संज्ञक छकड़े (शकट) को सामधेनियों की अनङ्गता के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

सामिधेनोस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचना-त्सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥

प० क्र०—(हविर्धानयोः) हविर्धानि शकट के भीतर जहाँ सोम कूटा जाता है वह (सामधेनीनां) सामधेनियों का अंग है क्योंकि (सामिधेनी स्तदन्वा हुरिति) इस (वचनात्) वाक्य से विदित होता है।

भा०—उत यत्सुवन्वन्ति सामधेनि स्तदन्वाहुः इस पठित वाक्य में 'दीक्षण हविर्धान' नामक शकट (छकड़े) के साथ सामधेनियों का एक का दूसरे पर सम्बन्ध विस्पष्ट है वह शकट सम्बन्धी सामधेनियों का बोला हुआ परस्पर अङ्गाङ्गी भाव माने विना बन नहीं सकता उस शकट के उपलक्षण मानने में मुख्य अर्थ को छोड़ना रूप जो दोष है जिसको मानना ठीक नहीं अतः सिद्ध है कि उक्त शकट सामधेनियों का अंग है न कि अपने पास के देश सम्बन्ध विशेष का उप-लक्षण कहना होगा।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥ १६ ॥

प० क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने को आया है (देश मात्रं) वह शकट अपने से सम्बन्धित देश विशेष का उपलक्षण है (हि) क्योंकि (सोमस्य) वह ज्योतिष्टोम याग का (अर्थ कर्म) अंग (प्रत्यक्षं) स्पष्ट है ।

भा०—यह कहा गया है कि "दक्षिणे हविर्धाने सोम मासादयति" कि दक्षिण हविर्धान संज्ञक छकड़े में सोम रक्खें दर्श पूर्णमास यज्ञ में अंग रूप से सामधेनियों के लिये यह विधान है इससे उनकी प्रकृति और प्रेरक वाक्य से प्राप्ति है। यह उक्त प्रकृति याग में सामधेनी लोग आहवनीय अग्नि के पश्चिम देश में उच्चारण करते हैं ज्योतिष्टोम में 'उत्तर वेदि' आहवनीय अग्नि के स्थान में होती है उसके पश्चिम देश में हविर्धान नामक शकट का स्थान होता है अतः वहां शकट का उपादान करते हैं अतः शकट उनका अंग नहीं किन्तु उच्चारण के निमित्त ही अपने देश सम्बन्ध से उपलक्षण मात्र है ।

सं०—इस अर्थ के समर्थक हेतु देते हैं ।

समाख्यानं च तद्वत् ॥ १७ ॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत्) उसी के समान शकट संज्ञक पर देश विशेष का उपलक्षण है उसी भांति (समाख्यानं) हविर्धान को ज्योतिष्टोम का अंग कथन करना भी उस अर्थ का साधक है ।

भा०—जैसे शकट संज्ञक यत् तत् पद शकट सम्बन्धी देश विशेष के द्योतक हैं उसी भाँति 'सोमस्य हविर्धानं"

में ज्योतिष्टोम का हविर्धान संज्ञक सकट भी एक अंग है। समाख्या से भी शकट को ज्योतिष्टोम का अंग ही कहा है वह सामधेनि ओंकार प्रधान कर्म अंग भी है। अंग यतः परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते अतएव हविर्धान शकट तथा सामधेनियों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं उक्त दशा में उनके अंगांगी भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं। जो संभावित नहीं वह अमाननीय होता है अतः "उन यत्सुन्वन्ति" वाक्यस्थ यत् तत् पद दक्षिण हविर्धान संज्ञक शकट के निर्देशक है जो देश विशेष प्रयोजन से है अतः सामधेनियों के उच्चारण में स्व-समीप देश विशेष का उपलक्षण है नकि सामधेनियों की वह अंगता का बोधक माना जा सकता है।

सं०—ऋत्विजों द्वारा अंग कर्मों का अनुष्ठान बतलाने के लिये प्रधान कर्म अनुष्ठान यजमान कर्त्तव्यता के लिये कहते हैं।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

प० क्र०—(शास्त्रफलं) शास्त्र विहित अग्निहोत्रादि कर्मों के फल (प्रयोक्तरि) अनुष्ठान कर्त्ता में होता है क्योंकि (तल्लक्षणत्वात्) उसका फल उसी को मिलता है (तस्मात्) अतः (प्रयोगे) उनके करने में (स्वयं) आप ही (स्यात्) अनुष्ठान करना चाहिये।

भा०—यथाविधि कर्म को अनुष्ठान कहते हैं। जुहुयात् आदि पदों में धातु एवं प्रत्यय यह दोही अंश होते हैं।

धात्वर्थ का होम आदि तथा प्रत्यार्थ का अर्थ कर्त्ता कहा जाता है उसका 'स्वर्गकामः' से सम्बन्ध समानाधिकरण से है और दोनों के ही अर्थ से एकता है सुख भोग कामना तथा अग्निहोत्र कर्त्ता दोनों एक हैं तब यजमान के अतिरिक्त अन्य किसी का वह कर्म कर्त्तव्य नहीं और न यजमान कोई उसका फल पाता है।

सं०—अन्य से भी अंग कर्मों का अनुष्ठान होता है कहते हुए पूर्वपक्ष करते हैं।

उत्सर्गेतु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्यतस्मा-दन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१६॥

प० क्र०—(तु) पूर्व पक्ष सूचनार्थ आया है (उत्सर्गे) दक्षिणा में (प्रधानस्य) यजमान का (प्रधानत्वात्) मुख्यत्व आवेदित है सर्वत्र नहीं अतः (शेषकारी) दक्षिणा के सिवाय यावत अंगों का अनुष्ठान करने वाला (तस्मात्) यजमान से (अन्यः) भिन्न ऋत्विज (वा) अथवा (स्वयं) आप ही (स्यात्) होता है।

भा०—प्रधान कर्म के समान दक्षिणा दान रूप अंग कर्म को त्याग कर शेष अंग कर्मों का अनुष्ठान स्वतः ही यजमान को अथवा ऋत्विजों को करना चाहिये क्योंकि दोनों एक से हैं।

स०—पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है

अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्र-त्यगात्मनि ॥ २० ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष के हटाने को प्रयोग किया है (अन्यः) यजमान के सिवाय ऋत्विज भी (स्यात) शेषाङ्ग कर्मो के अनुष्ठान करने वाले होने चाहिये क्योंकि (परिक्रयाम्ना नात्) उन कर्मो के अनुष्ठान के लिये ही ऋत्विजों का परिक्रम कहा गया है वह (प्रत्यगात्मनि) अपने आप में (विप्रनिषेधात्) विरोधी होने से नहीं हो सकता था ।

भा०—यज्ञों में प्रधान एवं अंग कर्म भेद से अनेक भेद हैं उन्हें एक अकेला यदि यजमान करना चाहे तो कठिन है वह अपने सेवकों द्वारा भी उन्हें करा सकता है अतः स्वयं कर्त्तव्य प्रधान कर्म एवं दीक्षणा दान रूप अंग कर्म को छोड़ कर शेष जितने अंग कर्म हैं वह सब ऋत्विजों का ही करना उचित है उन्हें यजमान नभी करे तो हानि नहीं ।

सं०—यज्ञ में कितने ऋत्विज होने चाहिये कहते हैं ।

तत्रार्थात्कर्तृ परिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

प० क्र०—(अनियमः) ऋत्विज संख्या का नियम नहीं क्योंकि (अविशेषात्) उनका विधान करने वाला वाक्य नहीं हैं अतएव (तत्र) अंग कर्मो के अनुष्ठान में (कर्तृपरिमाणं) उनकी संख्या (अर्थात्) कर्मानुसार (स्यात्) होनी चाहिये ।

भा०—ज्योतिष्टोम में ऋत्विजों की संख्या का विधायक वाक्य नहीं मिलता क्योंकि उसमें उसका नियम नहीं है और परिशेष संख्यानुकूल ही कर्तव्य कर्म के अनुसार संख्या होती है अर्थात् जितना जैसा

कर्म उतने मनुष्य नियोजित किये जाते हैं अतः ऋत्विजों का परिक्रम काम के ऊपर है संख्या नियत मात्र नहीं।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान यह है।

अपिवा श्रुतिभेदात्प्रतिनामधेयं स्युः॥ २२॥

प० क्र०—(अपिवा) यह शब्द पूर्व पक्ष का खडन करता है (स्ययुः) ज्योतिष्टोम यज्ञ में १७ ऋत्विज होते हैं क्योंकि (प्रतिनाम धेयं) प्रत्येक कर्त्तव्य कर्मानुसार हैं। (श्रुति भेदात्) उनके भिन्न २ नाम हैं।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में इतने ऋत्विज होने चाहिये इस प्रकार का विधान न मिलने पर भी प्रति कर्म भेद से उनकी संख्या १७ मानी गई है अतः उसमें इस प्रकार संख्या नियत है अनियत नहीं कह सकते।*

'तान पुरो ऽध्वर्युर्विभजाति' आदि वाक्य से पाया जाता है कि 'अध्वर्यु', जिसका काम ऋत्विज विभाग करना है 'प्रति प्रस्थाता, जो मन्थी नामक पात्र द्वारा होम करता है 'नेष्टा, अग्नि के पास यजमान पत्नी का लाने वाला कहलाता है 'उन्नेता, चमस पात्र को बाहर करने वाला 'प्रस्तोता, प्रस्ताव संज्ञक, लाभ गान करने वाला 'उद्गाता, साम गायक प्रति हर्ता, साम के चतुर्थ भाग का गायक 'सुब्रह्मण्य, सुब्रह्मण्या संज्ञक ऋचा का बोलने वाला 'होता, प्रात रेनवाक का बोलने वाला 'मैत्रा वारुण, प्रैष का उच्चारक (अच्छा वाक्) यज्ञ कर्ता 'ग्रावस्तुत, ग्रावस्तोत्र का पाठक। अतः ज्योतिष्टोम में इस प्रकार १७ ऋत्विज होते हैं। ब्रह्मा, ब्राह्मण चासी आग्नीध्र और पोता प्रति प्रस्थाता आदि गौण भी हैं।—

सं०—उक्तार्थ में शंका करते हैं ।

एकस्य कर्मभेदादिति चेन् ॥ २३ ॥

प० क्र०—(कर्म भेदात्) क्रिया भेद द्वारा (एकस्य) एक ही ऋत्विक के अध्वर्यु आदि नाम हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो ठीक नहीं ।

भा०—जैसे एक ही सेवक विभिन्न कर्म योग से अनेक नाम वाला होता है उसी प्रकार उनके कर्म विभाग हैं और एक ही ऋत्विक कर्म भेद से अध्वर्यु आदि संज्ञा वाला होता है अतः ज्योतिष्टोम यज्ञ में ऋत्विजों की संख्या नहीं अतएव नियति का नियम नहीं है ।

सं०—इस शंका का समाधान करते हैं ।

नोत्पत्तौ हि ॥ २४ ॥

प० क्र०—(न) उक्त वाक्य ठीक नहीं (हि) निश्चय पूर्वक (उत्पत्तौ) वरण विधायक वाक्य में (अध्वर्यु) आदि १७ ऋत्विजों का वरण किया जाता है ।

भा०—'अध्वर्यु' वृणीते वृणीते ब्रह्माणं वृणीते अर्थात् क्रिया भेद से एक ही ऋत्विक 'अध्वर्यु' आदि संज्ञक होता है परन्तु वर्ण वाक्य से प्रति वर्ण विधान मिलने से नाना वरण विधान वृथा होते हैं अतः ज्योतिष्टोम में १७ ऋत्विज मानना ठीक है जिनमें अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा यह मुख्य चार हैं शेष तीन २ सहकारी ऋत्विज होने से क्रम विभाग से एवं दक्षिणा भेद से भी शेष अन्य होतेहैं ।

सं०—चमसाध्वर्यु नामक सहकारी कर्म भेद से ऋत्विजों के भेद बतलाते हैं ।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥ २५ ॥

प० क्र०—(च) अथा (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु आदि १७ ऋत्विज भिन्न २ हैं (तैः) उन १७ के साथ (व्युपदेशात) इनके वरण का प्रथक कथन मिलता है।

भा०—यद्यपि कर्म भेद से ऋत्विजों का विभाग किया जाता है तथापि ऐसे वाक्य कि 'चमस' संज्ञक पात्रों के योग से अध्वर्यु चमसाध्वर्यु संज्ञा वाला और अध्वर्यु का सहकारी प्रति प्रस्था आदि भेद से चमसाध्वर्यु होता है इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रिया से उनके सत्रह भेद होते गये हैं।

सं०—अब 'चमसाध्वर्यु' संख्यानियत करने को पूर्व पक्ष करते हैं।

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥ २६ ॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष का सूचक है चमसाध्वर्यु अनेक होते हैं (उत्पत्तौ) वरण वाक्य से सिद्ध है (बहुश्रुते) क्योंकि बहुवचन से कहे गये हैं।

भा०—'चमसाध्वर्युन' इस प्रकार बहुवचन प्रयोग से उसके अनेक वाची अर्थ हैं और इसी कारण यथा समय तीन, चार, पांच, सात, दश अथवा बीस की भी बहु संज्ञा है अतः चमसाध्वर्यु की संख्या नहीं हुआ करती वह अनियत ही रहती है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

दशत्वं लिंगदर्शनात् ॥ २७ ॥

प० क्र०—(दशत्वं) चम साध्वर्यु दश है क्योंकि (लिंग दर्शनात्) चिन्ह उनके ऐसे हैं कि दश ही होने चाहिये।

भा०—"दश दशैकैकं चमसमनु सर्पन्ति शतं ब्राह्मणाः" वाक्य से एक २ चमस के प्रति दश २ ब्राह्मणों के अनुसर्पण पूर्वक जो एक सौ संख्या मिलती है इससे चमसों का दश होना स्पष्ट है अतः वह दश ही है और एक २ के साथ दश २ ब्राह्मणों का अनुसर्पता मानने से उनकी संख्या सौ तक पहुंचती है अतः ज्योतिष्टोम में दस ही वरण चमसाध्वुर्यों के हैं।

सं०—ननु 'शमिता' संज्ञक ऋत्विक का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न न होना कथन करते हैं।

शमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥

प० क्र०—(च) शब्द 'तु' शब्द के स्थानीक प्रयोग होने से पूर्व पक्ष को बतलाता है (शमिता) शमिता संज्ञक ऋत्विक अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है क्योंकि (शब्दभेदात्) उनसे नाम का भेद है।

भा०—'शमितार मुपनयति' आदि वाक्य से 'शमिता' का कथन मिलता है सारांश यह है कि नाम एवं कर्त्तव्य कर्म उक्त दोनों भेद के प्रयोजक हैं और यह दोनों ही 'शमिता' नामक ऋत्विक में मिलते हैं अतएव वह अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥२९॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष परिहारार्थ प्रयोग हुआ है (प्रकरणात) प्रकरण में पढ़े हुये अध्वर्यु के प्रति प्रस्थाता आदि सहकारी पुरुषों से शमिता पृथक नहीं क्योंकि (उत्पत्त्य संयोगात) उसका भिन्न वरण वाक्य नहीं मिलता।

भा०—यज्ञ भूमि में पशु दानार्थ लाया जाता है और यदि वह चंचल हो अथवा बहुत से जन समुदाय को देख कर भड़क उठे तो अध्वर्यु के सहकारी उसे शान्ति पूर्वक लाते हैं अतः उस पशु को शान्त रखने से 'शमिता' संज्ञा उस अध्वर्यु की होती है परन्तु इसका वरण नहीं मिलता इससे शमिता भी १६ ऋत्विजों से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

सं०—अब उपगाताओं का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न नहीं इसको कहते हैं।

उपगाश्च लिंगदर्शनात् ॥३०॥

प० क्र०—(च) तथा (उपगाः) उपगाता भी अध्वर्यु के भीतर ही है क्योंकि (लिंगदर्शनात्) इसके एक होने का चिन्ह मिलता है।

भा०—उद्गाता आदि चार ऋत्विक सामगाता होते हैं और आस पास बैठे हुए ऋत्विक उद्गाता कहलाते हैं इन उद्गाताओं का वरण विधान नहीं मिलता। अतः शमिता के समान उपगाता भी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से अलग नहीं कहे जा सकते।

सं०—सोम बेचने वाले को उन ऋत्विजों से भिन्न बतलाते हैं।

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३१ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्व से विलक्षणता सूचक है (विक्रयी) सोम वेचने वाला (अन्यः) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से प्रथक है कारण कि (कर्मणः) उसके कर्म सोमवेचना आदि का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं मिलता ।

भा०—ज्योतिष्टोम में "सोम क्रीणाति" आदि वाक्य से उसका मूल्य होना वहलाया गया है परन्तु यदि वेचने वाला ही न हो तो मूल्य कौन लेगा अर्थात् क्रय विक्रय में लेने देने वाले होने चाहिये परन्तु ऐसा होना विधान में नहीं है अतएव अध्वर्यु आदि इसी कर्म को कह सकते हैं क्योंकि यज्ञ में उनका वरण होता है अतः वह यज्ञ समय में ही कर्तव्य हैं ।

सं०—यज्ञ मे कर्म करके पुरुषों में ऋत्विक किसे कहते हैं इसको बतलाते हैं ।

कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(सर्वेषां) यज्ञ मे जितने कर्मकर्त्ता हैं सब (ऋत्विक्त्वं) ऋत्विक कहे जाते हैं क्योंकि (अविशेषात्) एक रूप से (कर्म कार्यात) विधानकृत कर्मों के करने वाले हैं ।

भा०—जितने भी यज्ञकर्त्ता हैं उन्हें ऋत्विक कहा जाता है अतः ज्योतिष्टोम में कर्म कर्त्ताओं के बीच में केवल अध्वर्यु आदि नाम ही ऋत्विक नहीं किन्तु १७ अध्वर्यु आदि और १० चमसाध्वर्यु सब को ऋत्विक कहा जाता है ऐसा समझना चाहिये ।

सं०—अब इस पक्ष का समाधान करते हैं।

न वा परिसंख्यानात् ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(वा) पूर्व पक्ष के निवृत्यर्थ आया है (न) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि (परिसंख्योनात) ऋत्विजों की सत्रह संख्या सुनी जाती है।

भा०—'ऋतु षुयजति इति ऋत्विकं इस अवयवार्थ से सब ही ऋत्विक कहे जा सकते हैं और अध्वर्यु आदि को ही ऋत्विक नाम दिया गया है परन्तु शास्त्रोक्त नाम को छोड़ कर अवयवार्थ ग्रहण ठीक नहीं अत-एव ज्योतिष्ठोमे यज्ञ में जितन अनुष्ठान कर्म करने वाले हैं सब ही ऋत्विक नहीं कहे जा सकते किन्तु केवल अध्वर्यु आदि को ही ऋत्विक संज्ञा दी गई है।

सं०—इस अर्थ पर शंका करते हैं।

पक्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—पक्षेणं 'सौम्मस्याध्वरस्य यज्ञ क्रतोः सप्तदशर्त्विजः' इस वाक्य में १७ का ग्रहण एक देश के प्रयोयन के लिये हुये हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—उक्त वाक्य में सत्रह की संख्या इसलिये नहीं कि ज्योतिष्ठोम में जितने कर्म करने वाले हैं उनमें ऋत्विज केवल अध्वर्यु आदि सेत्रह ही माने जावें किन्तु अवत्युत्यानुवाद अर्थात् एक देश ग्रहण पूर्वक समुदाय के अनुवाद की योग्यता से है यथार्थ में

ज्योतिष्ठोम में सत्रह ऋत्विक होते हैं और सब की ऋत्विक संज्ञा है।

सं०—आशंका का समाधान करते हैं।

न सर्वेषामधिकारः॥ ३५॥

प० क्र०—(न) यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि (सर्वेषां) सब का (अनधिकारात्) होना हीं बतलाया।

भा०—उपर्युक्त वाक्य 'सौमस्य' के अतिरिक्त अन्यत्र वाक्यों में ऋत्विजों की संख्या सत्रह से अधिक यदि पाई जाती तो उसे अवयुत्यानुवाद के भाव से कल्पना की जा सकती थी परन्तु ज्योतिष्ठोम में तो सब कर्मानुष्ठान कर्त्ता ऋत्विक कहलाते हैं परन्तु यह एक पक्ष कथन होने से सर्व कर्म कर्त्ता ऋत्विज नहीं अध्वर्यु आदि ही ऋत्विज कहा है।

सं०—अब पूर्वोक्त वाक्य में सप्त दश ऋत्विज अध्वर्यु आदि ही को मानना चाहिये इसका नियम करते हैं।

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्॥ ३६॥

प० क्र०—'तु' शब्द नियम न होने के लिये प्रयोग किया गया है (नियमः) सत्रह ऋत्विज अध्वर्यु आदि ही है अन्य नहीं इस नियम से (दक्षिणाभिः) यह दक्षिण वाक्य से सिद्ध है क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) दक्षिण वाक्य में उनकी संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है।

भा०—'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति' इस वाक्य में ऋत्विकों को दीक्षण देने का विधान है और तदुपरान्त अग्नी धे प्रथमं ददाति ततो ब्रह्मणे ततोऽध्वर्यवे' पहिले अग्नीध्र

को दीक्षण दे पीछे ब्रह्मा और अध्वर्यु को दीक्षण दे। इन में दीक्षणः क्रम विधान पाया जाता है परन्तु इन सप्त दश में चमसा ध्यवर्यु भी लिये गये होते तो पूर्वोक्त ऋत्विज्यों दक्षिणा ददाति' वाक्य में प्रति दक्षिणा दान विधान की प्रतिज्ञा करके 'वह ऋत्विज कौन है ? इसमें अवश्य चमचाध्वर्यु को नहीं लिया है अतः सप्त दश ऋत्विजों में अध्वर्यु आदि लिये हैं न कि चमसाध्वर्यु को भी परिगणित कर लिया है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

प० क्र०—(च) एवं (यजमानत्वं) सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान (उक्त्वा) कहा जाकर (तेषां) तदुपरान्त अध्वर्यु आदि की (दीक्षाविधानात्) दीक्षा विधान उस अर्थ से पाई जाती है।

भा०—"जैसे सत्रये ऋत्विजस्ते यजमानः" यहाँ यजमान को ही ऋत्विज कहा है पीछे 'अध्वर्यु गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा ऽर्धिनो दीक्षयति इस क्रम से दीक्षा देना कहा है अतः सिद्ध है कि अध्वर्यु को ही ऋत्विज माना है चमसा ध्वर्यु को नहीं।

सं०—उन सत्रह अध्वर्यु में सत्रहवाँ यजमान ही है इसे कहते हैं।

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥३८॥

प० क्र०—(स्वामिसप्त दशाः) उन सत्रह में सत्रहवाँ यजमान ऋत्विज कहा जाता है क्योंकि (कर्मसामान्यात्) विहित कर्म का करने वाला होने से बराबर है।

भा०—यद्यपि ज्योतिष्टोम में अनेक कर्मानुष्ठान करने वाले हैं तथापि विहित कर्म कर्त्ता केवल सत्रह ही होते हैं जिनमें १६ तो अध्वर्यु होते हैं और सत्रहवाँ यजमान कहलाता है और उन सोलह में अध्वर्यु हुआ करता है और उद्गाता एवं ब्रह्मा यही चार मुख्य ऋत्विज कहे जाते हैं शेष सहकारी होते हैं इन १२ सहकारियों में विशेष और न्यून भी हैं उनकी दक्षिणा भी इसी क्रम से होती है सारांश यह है कि यदि यज्ञ की ४०) रु० दक्षिणा हो तो मुख्य ऋत्विजों को चार चार, अर्धियों को तीन तीन, तृतीयांश वालों को दो दो, चतुर्थांश वालों को एक एक रुपया दक्षिणा दे देनी चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये।

सं०—यज्ञ में अध्वर्यु आदिक ऋत्विजों को नियत कर्म कथन करते हैं।

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्रयश्च स्वकालत्वात् ॥३६॥

प० क्र०—(ते) अध्वर्यु आदि ऋत्विज (सर्वार्थाः) यज्ञ के अन्तर्गत सर्व कर्मों के निमित्त हैं क्योंकि (प्रयुक्तत्वात्) उसके लिये ही वह नियत किये जाते हैं।

भा०—अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विज जो होते हैं उनमें अमुक अमुक यह कर्म है इस प्रकार का कोई नियत अनुष्ठान नहीं किन्तु वह सर्व कर्म करने के अधिकारी

हैं क्योंकि सब कर्मानुष्ठान के लिये ही उनकी नियुक्ति होती है अतः प्रत्येक प्रत्येक कर्म कर सकता है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

यत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥ ४० ॥

प० क्र०—(कर्मणः) कर्म का (व्यवस्था) प्रत्येक ऋत्विज नियम (स्यात्) है क्योंकि (तत्संयोगात्) उसके साथ आध्वर्यव आदि समाख्याका सम्बन्ध मिलता है और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध (अर्थवत्त्वात्) निरर्थक नहीं होता।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में कर्म की अव्यवस्था नहीं होती कि जो कोई भी वह कर्म करने लग जावे किन्तु समाख्या के बल पर प्रत्येक कर्म प्रत्येक ऋत्विज का नियम होता है इसी कारण जिस कर्म की 'आध्वर्यव' समाख्या है उसे अध्वर्यु, जिस की 'हौत्र' समाख्या है उसे होता और जिस की 'उद्गात्र समाख्या है उसे उद्गाता करता है इसी कारण उन का वरण भी पाया जाता है।

सं०—समाख्या द्वारा नियम का बाध बतलाते हैं।

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४१ ॥

प० क्र०—(उपदेश समाख्यानेन) कहीं वाक्य विशेष द्वारा (तस्य) उस कर्म का (निर्देशः) नियम मिलता है।

भा०—यद्यपि समाख्या के वल से प्रषोच्चारण तथा अनुवचन पाठ अध्वर्यु आदि का कर्त्तव्य होते है तब भी वह वाक्य विशेष के साथ विरोधी होने से उनका कर्त्तव्य नहीं माने जा सकते क्योंकि प्रवल होने से वाक्य समाख्या का बाध होता है और बाधित अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता अतः प्रेषोच्चरण आदि मैत्रा वरुण संज्ञक ऋत्विक् का काम है न कि अध्वर्यु का ।

सं०—इस का लक्षण यह है ।

तद्वच्च लिंगदर्शनम् ॥ ४२ ॥

प० क्र०—(च) तथा (तद्वत्) पूर्वोक्त कहे अनुसार उसी भांति (लिंग दर्शन) लक्षण भी मिलते हैं ।

भा०—"होतुः प्रातानुवाक मनु ब्रुवतः" इस वाक्य में होता के अनुवचन कर्त्ता का अनुवाद किया गया है अतः इससे सिद्ध है कि जो वेद मंत्र प्रातरनुवाक संज्ञक है वह प्रातः पठनीय हैं यदि यह अनुवचन पाठ समाख्या द्वारा होता को विहित न कराया जाता तो उक्त लिंगवाद में उसका अनुवाद नहीं हो सकता था अतः यह अनुवाद प्राप्त होने से समाख्या द्वारा प्राप्त वाक्य विशेष का वाधक है इसलिये समाख्या से होता आदि को प्राप्त होने पर वह वाक्य विशेष से मैत्रावरुण को ही कर्त्तव्य है न कि अन्य को ।

सं०—सब प्रैषानुवचन को मैत्रावरुण का करना बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं ।

प्रैषाऽनुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(प्रैषानुवचनं) सब एवं व्यस्त सब प्रैष एवं अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण को कर्त्तव्य है कारण कि (उपदेशात्) वाक्य विशेष से ऐसा ही है।

भा०—'मैत्रावरुणः प्रेष्यतिचानुचाह' इस वाक्य से प्रैष एवं अनुवचन मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विक को ही कर्त्तव्य है परन्तु समस्त तथा व्यस्त जितने प्रैष और अनुवचन हैं उनका उच्चारण मैत्रावरुण पाठ की अथवा समस्त प्रैषानुवचन का ही करें इसमें "प्रेस्यति" और "अनुचाह" पद से प्रैषमात्र और अनुवचन मात्र और अनुवचन मात्र होना प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्य वाची शब्द से विशेषार्थ लाभ नहीं होता इस सार्वभौम नियम से सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग है अतः समस्त व्यस्त जितने प्रेष एवं अनुवचन हैं सब मैत्रावरुण को ही करना चाहिये।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४४ ॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष के निराकरणार्थ है (पुरोऽनुवाक्याधिकारः) प्रैष सहित अनुवचन में मैत्रावरुण का अधिकार है सब में नहीं क्योंकि (प्रैष सन्निधानात्) वहा प्रैष के साथ ही अनुवचन का भी विधान है।

भा०—उक्त वाक्य में जो प्रेस्यति का अन्वाह की सन्निधि में प्रयोग मिलता है वह विशेषार्थ के बिना नहीं मिल

सकता था और विशेषार्थ के मानने में व्यस्त प्रैष और अनुवचन का ग्रहण होना असम्भव है अतः उस वाक्य में जो मैत्रावरुण नामक ऋत्विक का प्रैष और अनुवचन कर्त्तव्य बतलाया है वह समस्त का है न कि व्यस्त का।

सं०—इस अर्थ में युक्ति देते हैं।

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(च) और (प्रातरनुवाक) अनुवचन रूप प्रातः पठित अनुवाक में (होतृदर्शनात्) होता का सम्बन्ध मिलने से वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—यदि समस्त प्रैषो अनुवचनों का करना मैत्रावरुण ही माना गया होता तो अनुवचन रूप प्रातरनुवाक में होता का सम्बन्ध नहीं मिलना चाहिये था परन्तु 'होतुः प्रातरनुवाक मनुब्रुवतः' इस वाक्य में अनुवचन रूप प्रातरनुवाक के साथ होता का सम्बन्ध स्पष्ट मिलता है अतः प्रैष और अनुवचन का कर्त्ता मैत्रावरुण है वह समस्त व्यस्त सब प्रैषानुवचनों का नहीं किन्तु सब प्रैषानुवचन है उन्हीं को कहा है।

सं०—अब अध्वर्यु चमस होमों का कर्त्ता है इसका पूर्वपक्ष उठाते हैं।

चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥ ४६ ॥

प० क्र०—(चमसान्) चमस होमों को (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करें क्योंकि (समाख्यानात्) चमसाध्वर्यु समाख्या से ऐसा ही मिलता है।

भा०—जैसे श्रुति लिंग आदि के समान ही समाख्या भी एक विनियोजक प्रमाण है यदि अन्य कोई प्रमाण न हो तो समाख्या से अर्थ करे। प्रकृत में चमसाध्वर्यु समाख्या है ही। अतः समाख्या के वल से सिद्ध है कि चमस होमों का कर्त्ता चमसाध्वर्यु है दूसरा नहीं। भांति (लिङ्ग दर्शन) लक्षण भी मिलते हैं।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान किया जाता है।

अध्वर्युर्वा तन्नयायत्वत् ॥ ४७ ॥

प० क्र०—('वा') शब्द पूर्व पक्ष निरास के लिये आया है (अध्वर्युः) चमस होत्र कर्त्ता अध्वर्यु है क्योंकि (तन्न्यायायत्वात्) वह न्याय प्राप्त है।

भा०—यद्यपि समाख्या से ही यावद् होम का करने वाला अध्वर्यु और चमस होमों का करने वाला चमसा ध्वर्यु दोनों होना सिद्ध है तथापि 'चसम होम' कर्त्ता चमसाध्र्वयु नहीं क्योंकि 'आध्वर्यव' समाख्या की अपेक्षा सापेक्ष होने से चमसाध्वर्यु समाख्या प्रवल नहीं है उसी प्रकार चमसाध्वयु" समाख्या की अपेक्षा निरपेक्ष होने से आध्वयुर्व समाख्या प्रवल है अतः चमस होमों के करने वाले चमसा ध्वर्यु नहीं किन्तु यावद होमों के कर्त्ता होने से उन के कर्त्ताअध्वर्यु ही हैं।

सं०—इस कथन के युक्ति देते हैं।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥

प० क्र०—(च) और (चमसे) चमस होम में (अन्यदर्शनात्) अन्य का सम्बन्ध मिलने से भी इस अर्थ की प्रामाणिकता है ।

भा०—चमसाश्चमसाध्वर्यवे ददाति 'इस वाक्य में होम कर्त्ता को देनेवाला और चमसाध्वर्यु को लेने वाला कहा है आदान एवं प्रदान करने वाले एक नहीं होते अर्थात् चमस होम कर्त्ता चमसाध्वर्यु ओं से भिन्न ही होना चाहिये और जो भिन्न है वह आध्वर्यव समाख्या से अध्वर्यु ही ठीक है । अतः चमस होम कर्त्ता अध्वर्यु है न कि चमसाध्वर्यु कहा जा सकता है ।

सं०—यदि चमसाध्वर्यु चमस होम कर्त्ता नहीं तो उनकी समाख्या क्यों की गई इसका समाधान करते हैं ।

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥४६॥

प० क्र०—(अशक्तौ) अध्वर्यु के होम करने में अशक्त होने पर (ते) चमसाध्वर्यु (प्रतीयेरन्) हवन करते हैं ।

भा०—इस समाख्या की प्रकृति का मूल हेतु अध्वर्यु के असमर्थ होने पर जो चमस होम कुछ भी कर्त्तव्य है उसे नियत होम नहीं कह सकते ।

सं०—अनेक विधि कर्मों का जो वेदानुसार अनुष्ठेय है उसका वर्णन करते हैं ।

वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥

प० क्र०—(पूर्ववत्) पूर्व अधिकरण के अनुसार (वेदोपदेशात्) वैदिक समाख्यानुसार चमस होम कर्त्ता

अध्वर्यु ही कहा जावेगा उसी प्रकार (वेदान्यत्वे) नाना वेदोक्त कर्मों में भी (यथोपदेशे) वैदिक विधि अनुसार (स्युः) अनुष्ठेय है।

भा०—ईश्वरीय प्रेरणा से प्राप्त स्वतः प्रमाण एक मात्र वेद को ही गौरव प्राप्त है कि जिन जिन कर्मों की विधि अथवा निषेध का उपदेश उसमें उपादेय एवं होम दृष्टि से है वह वह ही कर्त्तव्य हैं शेष अकर्त्तव्य कर्म को त्याज्य मानना ही ठीक है।

सं०—अब साङ्ग वेदाध्यन की शिक्षा उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आवश्यक है अतः उसे कहते हैं।

तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥५१॥

प० क्र०—(वा) पूर्वपक्ष से विलक्षण द्योतक होने के लिये है (अधिकार सामर्थ्यात्) अपनी शक्ति अनुकूल है (अङ्गै) व्याकरण आदि अङ्गों के (सह) सहित (वेद ग्रहणात्) वेद का ग्रहण होने से ही (स्वधर्मः) अपने धर्म का (स्यात्) निश्चय होता है नकि किसी दूसरे प्रकार से व्याकरण कि (शेषे) अंगों को छोड़ कर वेद से (अव्यक्तः) स्पष्ट नहीं।

भा०—वेदोक्त कर्मो का ही अनुष्ठान करना मनुष्य मात्र का धर्म है परन्तु वेद बड़े गम्भीर और समस्त विद्या मय होने से कठिनता से मिलते है यही कारण है कि साधारण मनुष्य तो वेदों को पढ़ कर अपना धर्म भी निश्चय नहीं कर सकता। वेद का निश्चयार्थ षट

अङ्ग और षट उपाङ्गों के अध्ययन के अधीन है अर्थात् जो मनुष्य पाँच अथवा आठ वर्ष की आयु से लेकर पच्चीस अथवा तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से गुरु कुल में साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को पढ़े वही पुरुष अनुष्ठेय और अननुष्ठेय कर्म का निश्चय कर सकता है अतः वेदानुयाइयों को कर्म निश्चय की दृढ़ता के लिये साङ्गोपाङ्ग अंग और उपाङ्गों का अध्ययन करना चाहिये।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते मीमांसा दर्शने भगवती भाषा भाष्ये तृतीयाध्याये सप्तमः पादः

अथ तृतीयाध्याये अष्टमः पादः प्रारभ्यते ।

सं०—यजमान ऋत्विजों का वरण करे इस को स्पष्ट करते हैं ।

स्वमिकर्मपरिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

प० क्र०—(परिक्रमः) ऋत्विजोंका वरण (स्वामि कर्म) यजमान करे क्यारण कि (कर्मणः) यज्ञ (तदर्थत्वात्) उसी ने निमित्त रुप हैं ।

भा०—यज्ञ में आहुति आदि नाना रुप एव प्रकार के कर्म होते है जिसे केवल यजमान ही नहीं कर सकता उसे उस अनुष्ठान के लिये सहायक आवश्यक रीति से चाहिये ही अतः जब तक वरण न हो वह कैसे मिले अतः इसे यजमान ही कर सकता है न कि ऋत्विज क्योंकि अकारण ऋत्विज को वरण करागा । अतः ऋत्विज वरण यजमान का ही कर्म है

सं०—जयमान की आज्ञा से वरण कृत अध्वर्यु का कर्त्तव्य बतलाते हैं ।

वचनादितर्षारे स्यात् ॥ २ ॥

प० क्र०—(वचनात्) यजमान की आज्ञा से (इतरेषां) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का भी (स्यात्) वह वरण होना चाहिये।

भा०—यजमान के वरण करने पर ही जैसे ऋत्विज वरणमाना जाता है। उसी भांति अध्वर्यु आदि ऋत्विजो द्वारा परण किये गये ऋत्विज भी यज मान के वरण किये कहे जा सकते है अतः अध्वर्यु को भी यजमान ही वरण करे यह निश्चय करलेना चाहिये।

सं०—'वपन' आदि संस्कार याजमानता के कथन के के लिये हैं।

संकारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवव्द्यवतिष्ठेरन् ॥ ३ ॥

प० क्र०—'तु' पूर्व पक्ष सूचक है (पुरुष सामर्थ्ये) अनुष्ठान योग्यता के साधन निमित्त (संस्काराः) विहित 'वपन' आदि संस्कार (कर्मवत) आध्वर्युत्र आदि कर्म के समान (यथावेद) वेदानुकूल (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्था होनी चाहिये।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'केशश्मश्रु वपते" "दतोधावते" "नखानि निकृन्तते स्नाति" वाक्यों में बाल, दाढ़ी का मुड़ाना, दातौन न करना, नाखून कटवाये और स्नान करे आदि वाक्यों में 'वपन' भी संस्कार माना है अतः जैसे शस्त्र, स्तोत्र, आदि कर्म आध्वर्यव और शास्त्र आदि समाख्या से अध्वर्यु को कर्त्तव्य है उसी भांति बाल, दाढ़ी आदि वपन हैं

अतः ज्योतिष्टोम में इन्हें संस्कार माना गया है उसे यजमान करे किन्तु अध्वर्यु को करना चाहिये।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥ ४ ॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है (कर्मवत्) प्रधान कर्म यजमान का होने से उसे याजमान कहा जाता है उसी भांति (याजमानाः) केश वपन आदि संस्कार कर्म भी याजमान ही हैं कारण कि (तत्प्रधानत्वात्) वह फल भोक्ता होने से प्रधान हैं।

भा०—मनुष्य को संस्कार कराने के पश्चात् वैदिक अनुष्ठान कर्त्तव्य है और जब तक यजमान अधिकारी नहीं ऋत्विग्वरण असम्भव है अतः उनका वपन कार्य कर्माङ्ग होता है परन्तु वही ज्योतिष्टोम में समाख्या के आधार पर (अध्वर्यु करे) वपनादि कर्त्तव्य नहीं। केवल यजमान करे।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

प० क्र०—(च) तथा (व्यपदेशात्) क्षौर कर्म सम्बन्धी अभ्यङ्ग से सिद्धि है।

भा०—'तमभ्यनक्ति' वाक्य से लोक प्रसिद्ध इस क्रिया की सिद्धि होती है कि क्षौर कर्म के अनन्तर अभ्यङ्ग (तेल मर्दन करे फिर स्नान करे यहां लोक और ब्राह्मण वाक्यों की एकता है अतः वपन कार्य ज्योति-

ष्टोम में संस्कार कर्म है परन्तु वह अध्वर्यु के नहीं किन्तु यजमान के हैं।

सं०—पूर्वार्थ के साधक का कथन करते हैं।

गुणत्वेन तस्य निर्देशः ॥ ६ ॥

प० क्र०—(गुणत्वे) यजमान का धर्म होते हुये भी (तस्य) वपन आदि (निर्देशः) विधान बनता है।

भा०—जिसका क्षौर कर्म कहा गया है उसी का अभ्यङ्ग एवं स्नान बतलाया है। यदि क्षौर कर्म ऋत्विजों का और अभ्यङ्ग यजमान का हो तो वैयधिकरण्य होगा और अधिकरण बाहर होने से ब्राह्मण वाक्य की समता न रहेगी अतः वह वपन यजमान का है।

सं०—अर्थ में साधकान्तर बतलाते हैं।

चोदनां प्रति भावाच्च ॥ ७ ॥

प० क्र०—(च) तथा (चोदनां प्रति) किसके लिये न्यून विधान मिलता है उसके प्रति (भावात्) संस्कार कर्मसद्भाव होने से अर्थ सिद्धि होती है।

भा०—जो प्रधान कर्म कर्त्ता है संस्कार कर्म भी उसी के होते हैं और फल भोक्ता होने से यजमान ही निश्चित प्रधान कर्त्ता है अतः वपन आदि संस्कार यजमान के ही होने चाहिये।

प० क्र०—जैसे यजमान कर्त्तव्य है उसी प्रकार समाख्यावश अध्वर्यु को भी कर्त्तव्य क्यों न मानें।

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥ ८ ॥

प० क्र०—(असमान विधानः स्युः) वह संस्कार (वपनादि) कर्म अध्वर्यु और यजमान दोनों को समान रूप कर्त्तव्य नहीं हो सकते क्योंकि (अतुल्यत्वात्) दोनों एक नहीं हैं।

भा०—वपन आदि संस्कार यजमान के लिये कहा गया है अध्वर्यु के लिये नहीं अतः अध्वर्यु को न कराना चाहिये।

सं०—'तप' याजमान कर्म हैं।

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥ ९ ॥

प० क्र०—(च) और (तपः) वपन आदि के समान तप (व्रत) भी यजमान का कर्म है क्योंकि (लोकवत्) लोक प्रसिद्ध परिश्रम समान वह भी (फल सिद्धि: त्वात्) फल सिद्धि का हेतुक है।

भा०—'द्व्यहं ना श्नाति' त्र्यहं नाश्नाति" दो अथवा तीन दिन तक न खावें यह निरालस्य रूप तप का विधान यजमान के निमित्त है न कि अध्वर्यु के लिए क्योंकि अधिक अन्न खाने से यज्ञ सम्पादन नहीं हो सकता ज्योतिष्टोम में 'अनशन' व्रत का विधान इसी कारण है कि आलस्यरहित स्फूर्ति पूर्वक यजमान कार्य करता रहे।

सं०—वाक्य शेष से उस अर्थ की सिद्धि पाई जाती है।

वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥

प० क्र०—(च) और (तद्वत्) संसार के समान (वाक्य शेषः) वाक्य शेष भी उक्तार्थ का समर्थक है।

भा०—यदा यै दीक्षितः कृशो भवति अर्थ मेध्योभवति । यदाऽस्मिन्नन्तन किंचन भवति अर्थ मेध्यो भवति इस वाक्य का यही अर्थ है कि यजमान का यदि कर्म 'अनशन' न होता तो वाक्य शेष में तप के प्रभाव से उसकी पवित्रता न वतलाई जाती और अल्प ऋत्विजों का पवित्र करना वतलाया जाता वह न होने से यजमान का ही कर्म है ।

सं०—तप को वाक्य विशेष के बल से कहीं ऋत्विजों का भी कर्म कहा है ।

वचनादित रेषां ॥११॥

प० क्र०—(वचनात्) वाक्य विशेष बल से (इतरेषां) कहीं कहीं ऋत्विजों का भी कर्म कहा गया (स्यात्) तप होता है ।

भा०—"रात्रि सत्रे सर्वे ऋत्विज उप वसन्ति" रात्रि सत्र में सब ऋत्विज उपवास करें अतः यह निश्चय है कि वाक्य विशेष से कहीं कहीं ऋत्विजों का भी कर्म हो सकता है ।

सं०—इसे ही पुनः दृढ़ करते हैं ।

गुणत्वाच्च वेदेन ॥१२॥

प० क्र०—(च) और (वेदेन) वेद सम्बन्धी 'आध्वर्यय' आदि समाख्या द्वारा (व्यवस्था) तप कर्मादि व्यवस्था (न) नहीं (स्यात् होती क्योंकि (गुणत्वात्) वह गौण कर्म है सब का नहीं ।

भा०—युक्ति द्वारा तथा सन्निकट के प्रमाणों से वह तप आदि कर्म यजमान को और वाक विशेष बल से कहीं

कहीं ऋत्विजों को भी कर्त्तव्य है परन्तु अध्वर्यु मात्र को नहीं।

सं०—फल कामना यजमान का कर्त्तव्य है।

तथा कामोऽर्थ संयोगात् ॥१३॥

प० क्र०—(तथा) जिस प्रकार 'तप' यजमान का कर्म है उसी प्रकार (कामः) फलेच्छा भी यजमान को ही करनी चाहिये क्योंकि (अर्थसंयोगात्) उस फल का भोक्ता है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यादिति नीचैः सदोमितुयात्' इस वाक्य में यह बतलाया है कि यदि यह इच्छा हो कि शीघ्र वृष्टि करने वाले मेघ आकाश में आ जावें तो पूर्व और पश्चिम भाग में 'हविधान' एवं 'प्राचीन वेश' नामक दो मण्डप ऊँचे बनाये जावें और उसके बीच में 'सदः' नामक मण्डप कुछ नीचा बनाया जावे। यहाँ यज्ञ द्वारा वृष्टि फलेच्छा पाई जाती है तब जब इच्छा और भोग समान पदार्थ में ही होते हैं भिन्न में नहीं अतः यजमान ही फल भोक्ता होता है कि जिसकी कामना उसे होना स्वाभाविक है परन्तु यह ऋत्विजों को नहीं।

सं०—इसका कुछ अपवाद कथन करते हैं।

व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥१४॥

प० क्र०—(व्यपदेशात्) वाक्य विशेष बल से (इतरेषां) ऋत्विज भी (स्यात्) उक्त कामना के कर्त्ता होते हैं।

भा०—"एवं विद् उद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वार्यं कामं कामयते तमागायति" इस उद्गीथोपासना प्रकरण में उद्गाता द्वारा यजमान के लिये फलेच्छा प्राप्ति निमित्त प्रार्थना के लिये सामगान विधान है जो वाक्य विशेष से है अतएव अपवाद विषय को त्यागकर उत्सर्ग प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए ऋत्विक् भी इष्ट कामना के कर्त्ता होते हैं।

सं०—'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' मंत्र पाठ यजमान को करना चाहिए या ऋत्विकों को।

मंत्राश्चा व्याई ॥१५॥

प० क्र०—(च) और (अकर्म करणाः) जिन मंत्रों में आहुति डालना आदि का विंनियोग क्रियात्मक नहीं (मंत्राः) उनसे मंत्रों का पाठ (तद्वत्) कामना फल प्राप्ति निमित्त यजमान करे।

भा०—'तेज' आदि शब्दों का 'मयि' के साथ' सम्बन्ध होने से गुणों के आधान की प्रार्थना यजमान का ही कर्त्तव्य है न कि ऋत्विजों को और यजमान का परिक्रीत ऋत्विज होता है वह उक्त ग्रन्थों की प्रार्थना का अधिकारी नहीं।

सं०—इसमें यह युक्ति देते हैं।

विप्रयोगे च दर्शनात ॥१६॥

प० क्र०—(च) तथा (विप्रयोगे) प्रवास में (दर्शनात) प्रार्थना विधान मिलने से भी यह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—इहै वसन् तत्र सन्त त्वाँडग्ने "इस वाक्य में प्रवास में रहते गुणों के लिए प्रार्थना करना यह प्रमाणित करता है कि यजमानों को ऐसे मन्त्र पढ़ना चाहिए। अध्वर्यु आदि ऋत्विजों को नहीं।

सं०—"वाजस्य या प्रसव' यजुर्वेद १७।६३ का मन्त्र यजमान और अध्वर्यु दोनों पढ़े या क्या!

द्वयाम्नातेषु ॥१७॥

प० क्र०—(द्वयाम्नातेषु) दो वार जिन मन्त्रों का पाठ किया जावे उनका (अभी) यजमान और अध्वर्यु दोनों को कर्त्तव्य है क्योंकि (द्वयान्मानस्य) इसका वार आम्नाय पाठ (अर्थवत्वात्) अर्थ युक्त हो जाता है।

भा०—अध्वर्यु काण्ड में पठित यदि यजमान काण्ड में अप्रठित आम्नाय पाठ मानेंगे तो एक अविहित हो जावेगा यदि दोनों मे माने तो सार्थक होता है अतः दर्श पौर्णमास याग प्रकरण में वाजस्य या' इत्यादि पठित मन्त्र यजमान और अध्वर्यु दोनों को पढ़ने चाहिए अलग अलग नहीं।

सं०—मन्त्रार्थ वेत्ता यजमान मंत्र पाठ करे इसे कहते हैं।

ज्ञाते च वाचनं ॥१८॥

प० क्र०—(ज्ञाते) मंत्रार्थ ज्ञानी यजमान से (च) ही (वाचनं) यज्ञ मे पठनीय मन्त्र पढ़वावे (हि) क्योंकि (अविद्वान) मन्त्रार्थ न जानने वाला (विहित) अविहित यजमान माना गया है (न अस्ति) मिलेगा भी नहीं।

भा०—सर्वत्र विद्वान को ही यजमान बनाना ठीक है क्योंकि वह मंत्रार्थ वेत्ता और करने योग्य कर्त्तव्य का समर्थकर्त्ता हो सकता है अविद्वान नहीं हो सकता जैसे कहा है कि 'नह्य विद्वान् विहितोस्ति"

सं०—बारह द्वन्द कर्मों करने वाला अध्वर्यु ही इसे कहते हैं।

याजमाने समाख्यानात्कृत ॥१६॥

प० क्र०–(कर्माणि) द्वादश द्वन्द सज्ञेय कर्म (याज मान) यजमान को करने चाहिए (याज माने) याजमान काण्ड में (समा ख्यानात) उनका कथन मिलता है।

भा०—दर्शपूर्ण मास यजन के याजमान काण्ड में "द्वादश द्वन्द्वो निदर्श पूर्ण मास यो स्तानि सम्यद्यानि इत्यादुः वत्सञ्चो पाव स्टजति अपाञ्चाधिश्रयति अवचहन्ति दश दुपलेच समाहन्ति" वाक्य में द्वन्द्व कर्मों का विधान याजमान काण्ड में करने से जो विधान जिस कांण्ड में है उसी (यजमान) को कर्त्तव्य है न कि अध्वर्यु को।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

प० क्र०—'वा' पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (अध्वर्यु) अध्वर्यु को उक्त द्वादश कर्म करने चाहिये (हि) कारण कि (तदर्थः) उनका उनके लिये भी परिक्रम किया जाता है और (समाख्यानम) जो यजमान काण्ड में कथन (न्यायपूर्वं) भी युक्ति युक्त है।

भा०—याजमान काण्ड का द्वादश द्वन्द कर्म विधान सम्पादनीय तात्पर्य से है जो कि तानि सम्पद्यानि पद से स्पष्ट हो जाता है परन्तु यजमान यज्ञ सम्बन्धी अनेक व्यवहारों में फँसे हुये होने से वह सम्पादन में असमर्थ होते हैं अतः कर्म का कर्त्तव्यार्थ अध्वर्यु का परिक्रिय बतलाया है जो उसी से करने योग्य है अतः अध्वर्यु ही द्वादश द्वन्द कर्म यजमान न करें किन्तु अध्वर्यु को करने चाहिये ।

सं०—अध्वर्यु के किये कर्म का अनुष्ठान होता को कर्त्तव्य है इसे कहते हैं।

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात ॥ २१ ॥

प० क्र०—(विप्रतिषेधे) अध्वर्युतया होता से अनुष्ठान किये कर्म की "कुण्डपायिनामयन संज्ञक यज्ञ में विधि वाक्यों से होता को करना कहा है (करणः) अध्वर्यु से अनुष्ठान कर्म ही होता को करना चाहिये क्योंकि (समवाय विशेषात्) उसका उसी से सम्बन्ध है (इतरं) दूसरे कर्म (तेषां) होता सम्बन्धी ऋत्विजों के बीच (अन्यः) होता से भिन्न 'मैत्रावरुण' संज्ञक ऋत्विक को करना चाहिये (यतः) जो (विशेषः) उसमें होता का सामीप्य रूप विशेष सम्बन्ध (स्यात्) है ।

भा०—'यो होता' वाक्य से होता को अध्वर्यु कहा है वह आध्वर्यव कर्म का 'होता' के साथ सम्बन्ध विशेष बतलाता है और 'मैत्रावरुण' में होता का सम्बन्ध

स्वतः विशेष स्पष्ट है यतः पूर्व परवेष्टन करण और तदनुवादन रूप दोनों कर्म केवल होता को नहीं करने चाहिये किन्तु (परिवीरसि) मंत्र से यूप परिवेष्टन करण रूप कर्म होता करे और युवो सुवासः' मंत्र से परिवेष्टन का अनुवाद रूप कर्म मैत्रावरुण को करना समीचीन है।

सं०—प्रैष कर्त्ता से प्रैषार्थ कर्त्ता का भेद बतलाते हैं।

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

प० क्र०—(च) और (प्रैषे) प्रेष का कर्त्ता 'प्रैष' कर्म से पृथक है क्योंकि (पराधिकारात्) उसका अन्य के ही लिये विधान है।

भा०—प्रैष वाक्यों में अग्नीध्र आदि ऋत्विक को सम्बोधन करके प्रोक्षिणी आदि लाना बतलाया है उससे प्रेष कर्त्ता तथा प्रपौर्थ का कर्त्ता प्रेरक कदापि होता है। प्रेरक और भेजे हुए का भाव करादि एक नहीं अतः प्रैषकर्त्ता प्रेरक और प्रैपार्थ कर्त्ता प्रेर्य्य दोनों ऋत्विक भिन्न भिन्न हैं एक नहीं।

सं०—अब अग्नीध्र को प्रैषार्थ का करने वाला बतलाते हैं।

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥२३॥

प० क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है (अध्वर्युः) उस प्रैष का करने वाला अध्वर्यु है क्योंकि (दर्शनात्) उसका प्रैष कर्त्ता से भेद है।

भा०—'वज्रो वै स्यातः पदन्वञ्चधारयेत वज्रेणाध्वर्यु सिञ्चति इस प्रकार ऋत्विक प्रैष उच्चारण करता है यह 'स्फय'

तलवार के समान लकड़ी का बना हुआ होता है सार यह है कि अध्वर्यु प्रैषकारी अर्थ वाला न होता तो स्फय धारी से उसका अभेदका बतलाया जाता परन्तु भेद पाये जाने से स्फय धारी प्रैप कर्त्ता ही मानना समीचीन है अतः प्रैप कर्त्ता से प्रैपार्थकारी भिन्न है वह अध्वर्यु ही है अन्य नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

गौणो वा कर्मसामान्यात ॥२४॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष का निराकरण करता है (गौणः) उस वाक्य में जो (अध्वर्युः) शब्द है वह गुण वृत्ति से अग्नीध्र संज्ञक है कारण कि (कर्म सामान्यात) उसमें कर्म करने का पाया जाता है।

आ०—जिस भांति अध्वर्यु प्रेम का करने वाला है उसी प्रकार अग्नीध्र प्रैप का करने वाला है। प्रैप तथा प्रैषार्थ का भेद होने पर भी काम करने का जो अंश है उसमें कुछ भी भेद नहीं और प्रैष कर्म तथा प्रैषार्थ कर्म दोनों का अभेद होने से अध्वर्यु शब्द भी सिंह शब्द के तुल्य दोनों का संज्ञक है केवल इतना ही भेद है कि अपवर्य्य प्रैप करने एवं अग्नीध्र प्रैषार्थ करने वाला है। अर्थात् उस वाक्य में अध्वर्यु संज्ञक शब्द अध्वर्यु नहीं किन्तु कर्म करने रूप धर्म का की तुलनासे अग्नीध्र का वाचक है अतः सिद्ध है कि प्रैष रकनेवाले अध्वर्यु से प्रैषार्थ करने वाला भिन्न है और वह अग्नीध्र नामक ऋत्विक ही है।

सं०—ननु 'करण' मन्त्रों में यजमान के फल की प्रार्थना करने पर पूर्व पक्ष करते हैं।

ऋत्विकफलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ॥२५॥

प० क्र०—'करणेषु' करण वाचक मन्त्रों में (ऋत्विक फलं) अध्वर्यु ऋत्विक के लिए फल की प्रार्थना समीचीन है क्योंकि (अर्थवत्त्वात्)। ऐसा होने से सार्थक होता है।

भा०—ममग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु। ऋ० ८।७।१५।१ इस मन्त्र में बतलाया है कि हे परमात्मन् वेद विहितएवं साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान किए कर्म का जो फल है वह सब मेरे को मिले। ऐसे मन्त्रों को करण कहते हैं और इन मन्त्रों का आहवनीय अग्नि का आधान करते समय पाठ किया जाता है परन्तु यदि फल प्रार्थना कल्पना मात्र माना जावे तो प्रसिद्ध अर्थ छुटता है और सम्पूर्ण मन्त्र निरर्थक होता है परन्तु वेद निरर्थक और असम्बद्ध नहीं होते अतः यही मानना समीचीन है कि पाठ कर्त्ता अध्वर्यु की ओर से यज्ञ फल प्राप्ति की प्रार्थना की गई है वह अपने लिए है न कि यजमान के लिए।

सं०—पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष के खण्डन को आया है। (स्वामिनः) यजमान के लिये फल याग की प्रार्थना है क्योंकि (तदर्थत्वात्) वही यज्ञ फल का भोगने वाला है।

भा०—आत्मा दो प्रकार का माना गया है एक मुख्य दूसरा गौण यथार्थ में अध्वर्यु का आत्मा मुख्य और यजमान का गौण आत्मा कहलाता है परन्तु (अस्मद्) शब्द के प्रयोग दोनों के लिये एक ही हैं जो सर्व सम्मत है अतएव 'करण' वाचक मंत्रों के पाठ करने वाले अध्वर्यु की ओर से वह मंत्रों में यजमान के निमित्त यज्ञ फल प्राप्ति की प्रार्थना कीगई है न कि निज के लिये।

सं०—इस अर्थ का यह लिङ्ग है।

लिंगदर्शनाच्च ॥ २७ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्ग दर्शनात्) लिंग माने जाने से भी उस अर्थ की सिद्धि है।

भा०—या वै काञ्चन ऋत्विज आशिषा शासते यजमानस्य एवसा जो प्रार्थना ईश्वर की की गई है उस में यजमान के लिये आशीर्वाद चाहा गया है यह भी उसके अर्थ में तन्निमित्तक पहिचान है। यदि वह करण संज्ञक होता तो इस वाक्य में ऋत्विजों का आशीर्वचन यजमान के लिये न कहा गया होता अर्थात् वाञ्छित फल के आविष्कार का नाम आशीर्वाद है।

सं०—इस अर्थ में एक अपवाद है उसे बतलाते हैं।

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्वात् ॥ २८ ॥

प० क्र०—'तु' पूर्वाधिकरण से विलक्षण अर्थ का द्योतक है (तेषां) कहीं 'करण' मंत्र में ऋत्विजों ने निज के

लिये (फल) स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रार्थना है वह (कार्यार्थ) यजमान् कर्म की वृद्धि के लिये हैं क्योंकि (स्वामिन, प्रति) यजमान के लिये (अर्थवत्वात्) बढ़ा हुआ कर्म ही फल वाला होता है।

भा०—सुस्वस्थ अध्वर्यु यजमान कर्म के योग्य है अन्यथा नहीं अतः क्वचित 'करण' मंत्रों में जो अध्वर्यु की ओर से नैराग्य (निगद रहित) होने की प्रार्थना की गई वह अपने लिये है न कि यजमान के लिये समझनी चाहिये।

सं०—अब अध्वर्यु और यजमान दोनों के समान प्रार्थना करने पर लिखते हैं।

व्यपदेशाच्च ॥ २६ ॥

प० क्र०—(च) और (व्यपदेशात्) किंचित कहीं २ वाक्य विशेष से भी फल प्रार्थना का होना अध्वर्यु एवं यजमान दोनों में समान पाया जाता है।

भा०—"किर्मंत्रन:" इस वाक्य में फल प्राप्ति की याचना यजमान और अध्वर्यु दोनों की ओर से समान है उसे केवल यजमान की प्रार्थना नहीं माननी चाहिये।

सं०—ननु द्रव्य संस्कार को प्रकृति एवं विकृति सब कर्मों के लिये हैं।

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात सर्वकर्मणाम् ॥३०॥

प० क्र०—(द्रव्य संस्कारः) यज्ञ उपयोगी 'बर्हि' आदि द्रव्यों के अस्तरण आदि संस्कार रूप धर्म (सर्वकर्मणा) सब कर्मों के लिये अर्थात् प्रकृति एवं विकृति दोनों

को (प्रकरण विशेषात्) प्रकरण से उनका सामान्य सम्बन्ध पाया जाता है।

भा०—प्रकृति यज्ञ में जो वर्हि आदि द्रव्यों के अस्तरण रूप आदि संस्कार हैं उनमें विकृति भागों का प्रकृति भाग के साथ उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है और उसी सम्बन्ध से प्रकृति यज्ञप्रकरण में पढ़े गये द्रव्य संस्कार का अनुष्ठान विकृति याग में ही होना समीचीन है अतएव द्रव्य संस्कार रूप धर्म प्रकृति तथा विकृति दोनों के लिये हैं केवल प्रकृति याग के लिये ही नहीं।

सं०—कहीं २ प्रकृति में बतलाये धर्मों का विकृति में असम्बन्ध कहते हैं।

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्याऽनधिकारः ॥ ३१ ॥

प० क्र०—'तु' विलक्षणता सूचक है (विकृत) अग्नीषोमीय पशु संज्ञक विकृति यज्ञ में (अपूर्वस्य) वर्हिआदि के लवनादि धर्मों का (अनधिकारः) सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि (निर्देशात) उनके कार्य आदि उस विकृति में ही विधान है दर्शपूर्णमास प्रकृति में नहीं पाया जाता।

भा०—वर्हि आदि के कार्य आस्तरण का प्रकृति याग से विकृति याग का सम्बन्ध नहीं होने से उसके आपेक्षित लवनादि धर्म यूपावट का अस्तरण एवं घी से यूप को चिकना करना आदि बतलाये गये हैं तब भी दर्शपूर्णमास याग में पशुदान निमित्त से यूप नहीं गाड़ा जाता और उसके न गड़ने से अस्तरण और

अंजन भी नहीं हो सकता इसलिये उनका विकृति में सम्बन्ध नहीं होता ।

सं०—विधृति और पवित्र दोनों एक परिभोजीय संज्ञक वर्हि से वनाये जाने वतलाते हैं ।

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(च) और (शेषे) विधृति तथा पवित्र दोनों में (अव्यक्तः) 'असंस्कृत वर्हि' का विनियोग है, संस्कृत नहीं क्योंकि (श्रुति विशेषात्) उसका दोनों में विनियोग होने से वाक्य विशेष के साथ (विरोधे) विरोध हो जाता है ।

भा०—विधृति और पवित्र दोनों दाभ से वनाये जाते हैं परन्तु वेदि के आस्तर आदि संस्कृत वर्हि के नियम हैं वह एक दूसरे पर लागू नहीं रह सकते । न संस्कृत वर्हि का वेदि के आस्तरण में विनियोग पाया जाता है तो उसका उभयत्र प्रयोग सम्भव है न कि वेदि आस्तरण में । अतः परिभोजनीय नामक दर्भ विशेष से वनाने चाहियें संस्कृत से नहीं ।

सं०—प्रकृति पुरोडाश के शकल का ऐन्द्रवायव पात्र में रखा जाना वतलाते हैं ।

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमान संयोगात ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(एकदेशस्य) प्राकृत पुरोडाश का एक देश (तु) निश्चय ही (अपनयः) ऐन्द्रवायव नामक पात्र में अपनय होना योग्य है कारण कि (विद्यमान संयोगात) ऐसा होने से विद्यमान का संयोग मिलता है ।

भा०—"पुरोडाश शकल मैन्द्र वायवस्थ पात्रे निदधाति" वाक्य में पुरोडाश का एक खण्ड ऐन्द्रवायव संज्ञक पात्र में रखे इस विधान से एक देश प्राकृत सवनीय पुरोडाश का होना चाहिये अतः ऐन्द्रवायव संज्ञक पात्र में पुरोडाश के एक देशीय का ही विधान है किसी अन्य का नहीं यह भाव है।

सं०—प्रधान काम्येष्ठि के उपांशु धर्म का अनुष्ठान बतलाते हैं।

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(प्रकृतिवत्) दर्श पूर्ण मास याग विधान किये गए (विकृतौ) काम्येष्ट विकृत याग में (शेषः) विधान किया उपाशुत्व रुप गुण भी (सर्वार्थः) अंग एवं प्रधान इष्टियों के लिये हैं।

भा०—अंग तथा प्रधान सब काम्य कर्मों का अनुष्ठान उपांशु होना चाहिये। उपांशु मंत्रों के ओष्टों में उच्चारण पूर्वक जो अनुष्टान होता है उसे ही उपांशु अनुष्ठान कहा जाता है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते है।

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्व पक्ष के निराकरण को आया है (मुख्यार्थः) उपांशु धर्म का विधान प्रधान के निमित्त हैं क्योंकि (अङ्गस्य) अङ्ग का (अचोदित्वात्) वह धर्म विधान नहीं होता।

भा०—'काम्येष्टयः काम्येष्टयेऽङ्गानिच' -वाक्य में इष्टियों का काम्य विशेप है उस से अंग इष्टियो की स्पष्ट रुप से

व्यावृत्ति होती है क्योंकि बलवत होने से यजमान को केवल प्रधान इष्टि ही मुख्य काम्य कर्म है। फल हीन होने से अंग इष्टियां नहीं। अर्थात् काम्येष्ठियों का ही उपांशु अनुष्ठान किया जाता है अकाम्येष्ठियों का नहीं।

सं०—नवनीत आज्य को 'श्येने' नामक यज्ञ के अंग भूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म बतलाते हैं।

सन्निधानाविशेसादसम्भवे तदंगानाम् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(असंभवे) 'श्येन' याग में आज्य द्रव्य का असम्भव होने से (तत्) विधान किया मक्खन घी (अङ्गानां) उस याग का अङ्ग भूत दीक्षणी आदि इष्टियों का धर्म है क्योंकि (सन्निधात्र विशेषात्) उनका धर्म होने से भी उस का याग के साथ विशेष सम्बन्ध हो सकता है।

भा०—'इतिनवनीतं याज्यं भवति इस वाक्य का यह भाव है कि यद्यपि श्येन यज्ञ की भांति उसके अग भूत इष्टियों में भी प्रेरणार्थक वाक्य से ज्योतिष्टोम रूप प्रकृत याग से घी रुप द्रव्य सिद्ध है। तब भी मक्खन घी का विधान नहीं मिलता और जिसकी अप्राप्ति है उसका विधान आवश्यक है अतः उस वाक्य में जो नवनी तान्य (मक्खन घी) जो विधान किया मिलता है वह श्येन यज्ञ के अंग भूत इष्टियो का धर्म है न कि श्येन याग का।

सं०—इस अर्थ में आशंका करते हैं।

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥ ३७ ॥

प० क्र०—(तथा)जैसे नवनीताज्य श्येन याग के अङ्गों का धर्म है इसी प्रकार (आधाने) अग्न्याधान का (अपि) भी धर्म है (चेत,) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

भा०—अन्य इष्ठियां जैसे श्येन भाग का अङ्ग हैं उसी प्रकार अग्न्याधान भी उसका ही अङ्ग है क्योंकि अन्य इष्टियों के समान उसके विना भी सिद्ध नहीं होता अतः आज्य जैसे अङ्ग भूत इष्टियों का धर्म है उसी प्रकार अग्न्याधान का भी होना चाहिए।

सं०—इसमें आशंका करते हैं।

नाऽप्रकरणत्वादंगस्यातन्निमित्तत्वात् ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(न) कथन ठीक नहीं क्योंकि (अप्रकरण त्वात्) अग्न्याधान का प्रकरण नहीं और (अङ्गस्य) नवनीताज्य (अतन्निमित्त त्वात्) उसके उद्देश्य से विधान नहीं किया जाता।

भा०—प्रकरण और उद्देश्य सम्बन्ध के प्रेरक होते हैं परन्तु यह दोनों अग्न्याधान में नहीं है क्योंकि वह श्येन याग के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया और न उसके उद्देश्य से नवनीताज्य का विधान किया गया है। अतः वह आज्य उक्त भाग की अङ्ग भूत दीक्षणी यादि इष्टियों का ही धर्म है अग्न्याधान का नहीं।

सं०—आज्या को श्येन याग की अङ्गभूत सब इष्टियों का धर्म कहते हैं।

तत्काले वा लिंगदर्शनात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—'वा' पूर्ण पक्ष का सूचक है। (तत्काले) उस आज्य से सुत्यादिन में होने वाली इष्टियों का अङ्ग है क्योंकि (लिंग दर्शनात) चिन्हों से पाया जाता है।

भा०—अङ्ग के दो भेद हैं सत्यादिन जिसमें सवनीय पशु का दान होता है दूसरा सुत्या काली नाङ्ग इसमें पुरोडाश का निर्वाप होता है उक्त याग की अङ्ग रूपत से सह वरान आलमते साथ ही पशु दान भी कह गया है जो आज्य के साथ ही साहित्य कहा है उस अर्थ के सिद्ध में एक चिह्न है अतः स्पष्ट है कि आज्य सत्या कालीन अंगों का ही धर्म है सम्पूर्ण अङ्गों का नहीं।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान करते हैं।

सर्वेषां वा विशेषात् ॥४०॥

प० क्र०—'वा' शब्द पूर्व पक्ष का निराकरण करता है (सर्वेषां) उस आज्य 'श्येन' याग के सब अङ्गों का धर्म है क्योंकि (अविशेषात्) उसका सामान्य रूप से विधान है।

भा०—नवनीताज्य श्येन याग का अङ्ग है यदि न होता तो साधारण रूप से विधान न पाया जाता और नवनीताज्य वाक्य से उसका साधारण होना स्पष्ट है अतः वह सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म है केवल सुत्या कालीन अङ्गों का ही नहीं।

सं०—पूर्ण पक्ष में आए लिंग का समाधान किया जाता है।

न्यायोक्ते लिंगदर्शनम् ॥४१॥

प० क्र०—(न्यायोक्ते) प्रकरण में नवनीत वाक्य सम्पूर्ण धर्म अंगता का द्योतक है (लिंग दर्शना) वह चिह्न बहुत कम होता है।

भा०—प्रकरणके अनुकूल वाक्य मिलकर शीघ्र ही आज्य और सम्पूर्ण अङ्गों का परस्पर धर्माधर्मिभाव सम्बन्ध बतलाते हैं जिसका खंडन होना कठिन है अतः आज्य श्येन याग दीक्षणी आदि सम्पूर्ण अङ्ग का धर्म है केवल सुत्या कालीन का नहीं।

सं०—सवनीय परोडाशों का प्रकृति भूत द्रव्यों को कहते हैं।

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

प० क्र—'तु' सिद्धान्त सूचक शब्द है (सवनीयानां) सवनीय पुरोडाशों का (मांस) 'व्रीहि' आदि के न मिलने पर मांसल प्रकृति द्रव्य है क्योंकि (चोदना विशेषात्) उन द्रव्य विधायक वाक्यों में ऐसा ही विधान है।

भा०—असवनीय पुरोडाशों में साठी के चावल सर्वत्र माने गये हैं और अवकाशत्र मांसल (मसूर) का व्यवहार नहीं है दोनों के समान रूपता से साठी उपादेय नहीं क्योंकि असवनीय पुरोडाशों में अवकाश है इसलिए विकृति यज्ञ में सवनीय पुरोडाश का सर्वत्र प्रकृति द्रव्य (मसूर) मांसल है नीवार (साठी) नहीं यही समीचीन है।

सं०—मांस शब्द के जो मांसल गौणी वृत्ति से अर्थ किए गये हैं उसको ठीक न मानकर आशंका नीति कहते हैं।

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत्॥ ४३ ॥

प० क्र०—(असन्निधौ) अन्य पद के समीप न होने से (भक्ति) मांस पद का मांसल अर्थ माना है (अन्याय्या) सो ठीक नहीं (चेत) यदि (इति) ऐसा ही मानों तो ठीक नहीं है।

भा०—गौणी वृत्ति से मांस का मांसल अर्थ कर लिया है वह गौडी वृत्ति से सम्भव है इसी प्रकार मांस शब्द एकाकी यदि सूत्र में न होना किन्तु सिंहोदेवदत्तः। ये देव दत्त की भांति होता तो गौणी वृत्ति वाचक होता परन्तु एकाकी होने से अन्य अर्थ को नहीं ग्रहण कर सकता अतः वैसा करना ठीक नहीं।

सं०—इस पर आशंका उठाकर समाधान करते हैं।

स्यात्प्रकृतिलिंगाद्वैराजवत्॥ ४४ ॥

प० क्र०—(वैराज्वत्) जिस प्रकार 'वैराज' प्रकृति भूत मन्त्र को बतलाने वाले साम शब्द सन्निद्धि से वैराज्य पृष्ठ नामक स्तोत्र के वाचक (सवनीयानां) शब्द की समीपता से मांस शब्द भी मांसल वाचक (स्यात्) हो सकता है अतः कथन असीमीचीन है।

भा०—सम्पूर्ण पुरोडाश व्रीहि (जौ) अथवा साठी (नीवार) आदि के बनते हैं और अन्य अन्न के नहीं। सवनीय शब्द भी मुख्य वृत्ति से पुरोडाश वाचक है एवं ५५०५न्त होने से उसका मांस 'शब्द से सम्बन्ध भी अनुचित है यदि मांस का अर्थ मास न मानें किन्तु मांसल ही मानें तो उसका अन्न धम से स गनता

वश सवनीय पुरोडाशों एवं मांसल का सम्बन्ध असम्भव है। लोक में मांस तथा पुरोडाशों का सम्बन्ध नहीं मिलता अतः यज्ञ में मांसे द्रव्य कल्पना असत्य एवं असमी चीन है।*

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षिति कृते मीमासां दर्शन भगवतो भाषा भाष्ये तृतीया ध्याये अष्टमः पादः समाप्तः॥

* बहुधा नये मीमांसा के भाष्य कारों ने यज्ञ में मांस द्रव्य विचार करते हुये भी मांस १०।७।१ तथा ११।३।१७ के प्रमाण देकर मासा हुति विहित बतलाई है परन्तु ऐसा अनर्थ करना यज्ञ को कलंकित करना है महर्षि जैमिनि ने बल पूर्वक सिद्ध किया है कि यज्ञ में हिंसा करने का विधान कहीं नहीं है इसीलिये "मांस पाक प्रतिषेधश्च तद्वत्" मीमांसा० १२।२।२ और मांस पाको विहित प्रतिषेधस्यादाहुति संयोगात् मी० १२।२।६ में वेद विहित यज्ञो में मांस पाक निषेध है क्योंकि आहवनीय यज्ञ घृतादि पदार्थों से ही सम्बन्ध रखते हैं न कि मांस की आहुतियों से। अर्थात् इस सूत्र में मांस शब्द के समीप सवनीयानां पद की समीपता से मांसल का ही द्योतक है मांस का नहीं क्योंकि स्व समीपवर्ती पदान्तर के सम्बन्ध से अर्थ का निर्णय होता है।